जैन निबन्ध रत्नावली

जैन निबन्ध रत्नावली

[शोध खोज पूर्ण मौलिक निबन्ध]

लेखक
श्री मिलापचन्द्र कटारिया
श्री रतनलाल कटारिया

प्रकाशक
श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता

प्रकाशक :
मंत्री, श्री वीरशासन संघ
कलकत्ता.

प्रथम संस्करण
अप्रैल १९६६
मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
बी० २०/४४ भेलूपुर, वाराणसी–१
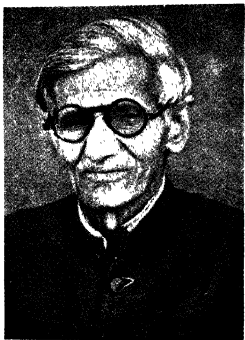
श्री पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ

● त्वदीयं वस्तु हे विज्ञ ! तुभ्यमेव समर्प्यते ●

समर्पण

●

शास्त्र मर्मज्ञ, निर्भीक वक्ता, कुशल लेखक, मार्मिक-समालोचक, निष्पक्ष
विचारक, शुद्धाम्नाय परिपोषक, सन्मार्ग प्रदर्शक, सद्धर्म
प्रचारक, शास्त्रसभा संचालक, साहित्यरसिक, सुकवि,
शोधखोज प्रेमी, गुणिजनानुरागी, सज्जनोत्तम,
विद्वद्रत्न, संस्कृत साहित्य विज्ञाता, अनेक
शिष्य निर्माता, धर्मग्रंथ प्रणेता,
पंडित प्रवर

श्रीमान् चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ

(आचार्य-श्री जैन संस्कृत कालेज, जयपुर)
की सेवा मे
यह विद्वज्जनमनरंजनी ज्ञाननिधि-महान् मौलिक कृति
सादर समर्पित

●

—मिलापचन्द्र रतनलाल कटारिया

प्रकाशकीय वक्तव्य

वीरशासन संघ कलकत्ता की ओर से "जैन निबन्ध रत्नावली" प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष होता है। इस 'रत्नावली' मे समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० मिलापचंदजी कटारिया, एवं उनके सुपुत्र श्री रतनलाल जी कटारिया, केकडी (राजस्थान) के उन निबंधों का संग्रह है जो समय-समय पर जैन पत्रों मे प्रकाशित होते रहे हैं किन्तु अब सुलभ नही हैं। कुछ निबंध पहली बार भी दिए जा रहे है।

श्री कटारिया-द्वय व्यवसाय मे लगे रहते हुए भी आगमानुकूल साहित्य सृजन करने के लिए यथावसर समय निकालते रहते है जो उनकी आगम के प्रति रुचिका द्योतक है।

जैसे दिगम्बर जैन समाज मे अनेक उत्तरकालीन ग्रंथ कुंदकुंद उमास्वामी आदि मान्य आचार्यो के नाम पर मढ दिए गए हैं वैसे ही अनेक मिथ्यात्वपोषक एवं अनावश्यक क्रियाकाण्ड भी जैन संस्कृति के अंग बताए जाने लगे है एवं तत्समर्थक त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि साहित्य भी रच डाला गया है या प्राचीन साहित्य का अर्थ एवं विवेचन अपने मनोनुकूल पक्ष के पोषण के लिए किया गया है। इन सब से न केवल साधारण ज्ञानवाले श्रावक अपितु विद्वान् भी दिग्भ्रम हो जाते है। वे वास्तविकता जानना चाहते हैं किन्तु उनके लिए भारी भरकम पोथे उपयोगी सिद्ध नही हो सकते क्योकि उनके पास न तो इतना समय है और न हो बुद्धि कि वे उनको भली प्रकार अवगाहन कर यथार्थता जान सके। ऐसे पाठकों को विशेष लक्ष्य मे रखते हुए प्रस्तुत 'रत्नावली' प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया है। इन निबंधो मे विद्वान् लेखक अपने विभिन्न आचार्यों एवं उनकी रचनाओं, अनेक क्रियाकांडों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयो पर प्राचीन ग्रन्थो से खोज युक्त साधार सामग्री प्रस्तुत की है जो हमारी मिथ्या धारणाओं का निरसन करते हुए हमें शास्त्रानुकूल सच्चे मार्ग की ओर ले जाती है।

आशा है कि इस 'रत्नावली' से जैन समाज लाभ उठायेगा तथा मिथ्यात्व पोषक एवं अनावश्यक क्रियाकाण्डो व रूढियो को छोडकर, अपने ज्ञान का विकास कर भगवान वीर के सच्चे अनुयायी बनते हुए अपना कल्याण करेगा इसी पुनीत भावना से प्रेरित होकर इस 'रत्नावली' का प्रकाशन सच्चे दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए किया गया है।

लेखक द्वय ने अपने लेखो के प्रकाशन की स्वीकृति दी है, वे प्रूफ संशोधन भी करते रहे है उसके लिए मै उनका आभारी हूँ। जैन समाज के प्रमुख विद्वान् माननीय पं० कैलाशचंदजी शास्त्री ने मेरे अनुरोध से इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर 'रत्नावली' की उपयोगिता मे वृद्धि की है जिसके लिए मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

वर्तमान मे दिगम्बर जैन समाज मे शिथिलाचार और मिथ्यात्व पोषक रूढियो का निरसन करने मे श्री पं० चैनसुखदासजी सा० का प्रमुख हाथ है। अनेके व्यक्ति उनके लेखो एव भाषणो से प्रभावित होकर मिथ्यात्व छोडने मे सफल हुए है ऐसे युग स्रष्टा विद्वान् को 'रत्नावली' समर्पित कर लेखक द्वय ने स्तुत्य कार्य किया है। मुझे आशा ही नही, विश्वास है कि जैन समाज दीर्घ काल तक ऐसे महान् विद्वान् से पथ-प्रदर्शन पाती रहेगी।

अत मे पुस्तक के मुद्रक महावीर प्रेस का भी आभार प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ जिनके सत्प्रयत्नो से पुस्तक सुन्दर रूप मे प्रस्तुत की जा रही है।

मारवाडी रिलीफ सोसायटी
कलकत्ता
१६-१-६६

—छोटेलाल जैन

नोट—श्रद्धेय बाबूजी ने मृत्यु शैय्या पर पड़े-पडे भी उक्त मंतव्य लिखाया था। यही उनका अंतिम वक्तव्य समझना चाहिए।

—बंशीधर शास्त्री एम० ए०

जैन निबन्ध रत्नावली पर

सम्मति

●

It has been a pleasure for me to peruse the various articles included in the Nibandharatnāvalī. Some of them are from the pen of Shri Ratanlal Kataria and Some from that of his revered father. Such a continuity of critical study in the family is indeed rare in these days. The articles have a special reference to Jainological studies; and the topics covered therein are literary, cultural and socio-religious. On the whole the themes are discussed in a critcal manner with a sense of balance: everywhere there is an earnesestness to reach the truth in the light of the evidence available. For this approach the writers deserve our congratulations. Some of the articles have an abiding value; and they bring out fresh material useful for further studies. I welcome the publication of these articles in a handy volume, and expect more such study from Shri Kataria.

Dhavalā
VIII, Rajarampuri,
Kolhapur 12-1-66 (a. n. upadhye)

हिन्दी अनुवाद

निवन्धावली के विभिन्न निवन्धो को सावधानता पूर्वक पढकर मुझे प्रसन्नता हुई। उनमे से कुछ निबन्ध श्री रतनलाल कटारिया की लेखनी से प्रसूत हुए है तो कुछ निबन्ध उनके पूजनीय पिता की लेखनी से लिखे गये है। एक वंश मे तुलनात्मक अध्ययन की ऐसी परम्परा आज के समय मे सचमुच दुर्लभ है। निबन्ध मुख्यरूप से जैन विज्ञानविषयक अध्ययन से सम्बद्ध है। और उनका विषय साहित्य संस्कृति और सामाजिक धर्म है। उनमे विषयों की तुलनात्मक समीक्षा बहुत ही सन्तुलित रीति से की गई है। सर्वत्र प्राप्त प्रमाणों के प्रकाश मे सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न ही परिलक्षित होता है। इस सत्प्रयत्न के लिये लेखक हमारी बधाई के पात्र है। कुछ निवन्ध अपना स्थायी मूल्य रखते है उनसे ऐसी नवीन सामग्री प्रकाश मे आई है जो विशेष अध्ययन के लिये उपयोगी है। मै इन निबन्धो के पुस्तकरूप मे प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और श्री कटारिया से इस प्रकारके और भी अधिक अध्ययन की आशा करता हूँ।

—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

निबंध-सूची

आत्म-निवेदन

बाह्याभ्यंतरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ।
अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः ॥६९॥ सर्ग १
—हरिवंशपुराण

(अर्थ.—बाह्य और आभ्यंतर दो प्रकार के तप मे अज्ञान का विरोधी होने से स्वाध्याय ही उत्कृष्ट तप है।)

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषास्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः ॥८७॥
—अमितगतिश्रावकाचार, परिच्छेद १३।

(अर्थ—जिससे प्राणी समस्त इन्द्रिय विषय और कषाय की प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करता है और जो जन्मसंतति के अंकुर को शुष्क करने में सूर्य के समान है ऐसे स्वाध्याय से बढकर दूसरा कोई योग नहीं है।)

यह प्रस्तुत विद्वद्भोग्य 'निबन्धरत्नावली' भी वर्षों के निरन्तर स्वाध्याय का ही विशिष्ट फल है। इसमे कुल ५० निबन्ध है जिनमे दो नये लिखे गये है बाकी सब पहले जैनपत्रो मे प्रकाशित हुए है। कौन निबध कब किस पत्र मे प्रकाशित हुआ है यह निबंध सूची मे प्रदर्शित किया गया है।

पूर्व प्रकाशित इन निबधो मे आवश्यक संशोधन और परिवर्द्धनादि किया गया है। इस तरह इनको काफी परिष्कृत कर अत्यन्त प्रमेयबहुल बनाया गया है।

इनमें अनेक निबंध परस्पर संबद्ध है अतः विद्वान् पाठको से प्रार्थना है कि उनको कही कोई शंकास्पद स्थल प्रतीत हो तो पहले धैर्यपूर्वक समग्र

ग्रथ का अध्ययन कर लें या बहुश्रुताभ्यासियो से पूछ लें फिर भी किसी शंका का समाधान न हो तो वे हमे पत्र लिख कर पूछ सकते है सहर्ष हम उसका समुचित उत्तर देंगे। बिना ऐसा किये जैन पत्रो मे किसी विषय पर वाद-विवाद प्रारम्भ कर वातावरण को दूषित करना योग्य नहीं है।

इन निबंधो मे—सिद्धात, इतिहास, आचार, दर्शन, भाषा, साहित्य, भूगोल, ज्योतिष, संहिता, पूजन, प्रतिष्ठा और मूर्त्तिनिर्माणादि विविध विषयो पर अनेक मौलिक विचार ज्ञानसूत्र नूतन तथ्य; सरल सुबोध रुचिकर भाषा मे ग्रथित किये गये है। इस प्रकार जनसाधारण और विशेषकर शोध-खोज प्रेमियो एवं डॉक्टरो (विद्वानों) के लिए ज्ञान की विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है।

इन निबंधो मे—

(१) "आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्"।

इस सूत्र के अनुसार अनेक लेखक-विद्वानों त्यागियों की विविध गलतियो, शास्त्रवाक्यो पर उनकी अनुचित आपत्तियो का समीक्षापूर्वक निरसन और समाधान करके शास्त्र-संगतता प्रदर्शित की गई है और अनेक मार्मिक बाते प्रकट की गई हैं।

(२) "कोऽन विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे"।
"दोषा वाच्या गुरोरपि"।

इन सूत्रद्वय के अनुसार प्राचीन अर्वाचीन अनेक ग्रंथकारों के पूर्वाचार्यो से असम्मत, सिद्धात-विरुद्ध कतिपय असंगत कथनो को एवं जैनधर्म की मूल प्रकृति—वीतरागता अहिंसा एवं अपरिग्रहता से बाधित कुछ प्ररूपणाओ को प्रकट किया गया है जो गभीरता पूर्वक निष्पक्ष भाव से मननीय है।

जो कुछ हमने समीक्षण किया है उसे उस तक ही सीमित रखना योग्य है।

जिन ग्रंथों और ग्रंथकारों को हमने अमान्य बताये हैं उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि—हम उन ग्रंथो को जैनधर्म से बहिष्कृत कर रहे हैं हमारे लिखने का इतना ही अभिप्राय लेना चाहिए कि—उन ग्रंथों मे जो कथन मूलसंघ के अनुसार नहीं हैं उन्हे न माना जावे।

इस विषय मे हमारी दृष्टि भगवतीआराधना की निम्नांकित गाथा के अनुसार है।

गिहिदत्थो संविग्गो अत्थुवदेसे ण संकणिज्जो हु।
सो चेव मंदधम्मो अत्थुवदेसम्मि भयणिज्जो ।।३५।।

अर्थ—गृहीतार्थ कहिये जिसने आगम के अर्थ को प्रमाण नयनिक्षेप से, गुरु परिपाटी से एवं स्वानुभव प्रत्यक्ष से भली प्रकार ग्रहण किया है और जो संविग्न कहिये संसार-देह भोगों से विरक्त है, पापों से भयभीत है ऐसा सम्यग्ज्ञानी आगमार्थ के उपदेश में शंका करने योग्य नही है। किन्तु जो इससे विपरीत मंद आचार विचारवान् है उसका तत्त्वोपदेश भजनीय है—अर्थात् समीचीन आगम से सम्मत कथन हो तो माननीय और प्रामाणिक है अन्यथा नही।

जो ग्रंथ या ग्रंथकार मूलसंघ का नही है कहीं-कहीं उसका भी प्रमाण हमने अपने वक्तव्य की पुष्टि में दिया है उसका यह अर्थ नही है कि—हमने उसे प्रमाण कोटि मे मान लिया है। प्रतिपक्षी उसे प्रमाण मानते हैं इस अपेक्षा से हमने उसे प्रमाण मे पेश किया है। जैसे हमने पद्मपुराण-हरिवंशपुराण की अमान्यता मे इन्द्रनंदि के नीतिसार का प्रमाण दिया है तो इसका मतलब यह नहीं है कि—हम नीतिसार को प्रमाण मानते हैं। नीतिसार मे तो सोमदेव को भी मान्य ग्रंथकार माना है जब कि हमने उन्हें मूलसंघ का नहीं बताया है। इस विषय में हमारी नीति वही समझनी चाहिए जैसे कि एक जैनी वैदिकों के समक्ष जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए कहता है कि—वेदो में भी हमारे जैन तीर्थंकरों के नाम लिखे मिलते हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनी वेदों को प्रमाण मानते हैं।

पचामृताभिषेकादि पर स्वर्गीय पं० पन्नालाल जी संघी ने 'विद्वज्जन-बोधक' मे बहुत उत्तम ढंग से विवेचना की है और उस विवेचना मे उन्होंने मान्य ग्रंथो की सूची प्रस्तुत करके यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि—इन मान्य ग्रथों मे पंचामृताभिषेकादि का विधान नही है किन्तु इस पर यह सवाल बराबर उठता आ रहा था कि उनकी उस सूची के अलावा जिन अन्य जैनग्रंथो मे पंचामृताभिषेक लिखा है उन ग्रंथो को क्यो नही माना जावे, नही मानने का भी कोई हेतु होना चाहिए। उनकी उसी कमी को दूर करते हुए हमने अन्तिम निबध मे सप्रमाण बताया है कि वे ग्रंथ अमुक-अमुक कारणो से मूलसंघ के नही हैं इसलिये वे अमान्य है।

भगवान् वीर को २५०० वर्ष हो गए हैं इतने दीर्घकाल मे अनेक विषम परिस्थितियो के कारण और विभिन्न सस्कृतियो के प्रभाव से जैनधर्म के आचार एव विचार दोनो मे शनैः शनैः विविध विकार प्रविष्ट हुए हैं और कालदोष से एक ही जैनसघ के अनेक संप्रदाय-आम्नाय संघ गण गच्छ पंथादि भेदोपभेद हो गए है।

'दर्शनसार' मे देवसेनाचार्य ने अनेक जैनसघो को उत्सूत्रगामी और जैनाभास करार दिया है। आज उनमे से बहुत से (द्राविड, यापनीय, काष्ठादि) सघ विलीन हो गए है किन्तु उनके द्वारा निर्मित और उत्तरोत्तर प्रभावित अनेक शास्त्र अभी भी चले आ रहे है जिन्हे आज हम बिना किसी भेदोपभेद की कल्पना किये सर्वांश मे वीर-वाणी समझे हुए है किन्तु यह ठीक नही है शास्त्रोमे सघभेद, आम्नाय-भिन्नता और छद्मस्थता आदि से अनेक असगतियाँ उत्पन्न हुई हैं और इसीलिए आचार्य वीरसेन ने सिद्धातग्रन्थो की धवला जयधवला टीकाओ मे उत्तरा प्रतिपत्ति एव दक्षिणा प्रतिपत्ति के कथन-भेदों का उल्लेख किया है और कहीं-कही उत्तरा प्रतिपत्ति को ही श्रेष्ठ बताया है। उन्होने आचार्यों के विविध मान्यता भेदो का भी अनेक जगह प्रदर्शन किया है और किसी-किसी को अयुक्त भी सिद्ध किया है। ५-६ठी शताब्दी के आचार्य सिद्धसेन ने भी अपने

"सन्मति शूत्र' के काण्ड २ गाथा १८ तथा ग्रथान्त मे एतद्विषयक अनेक संकेत दिये है।

इसी तरह इन्दनंदि ने अपने नीतिसार मे और पं० आशाधरजी ने महर्षिपर्युपासन मे अपनी दृष्टि से प्रामाणिक ग्रन्थकारों की नामावली दी है।

शास्त्रमर्मज्ञ पंण्डित प्रवर टोडरमलजी मा० ने भी मोक्षमार्ग-प्रकाशक के ८वें अध्याय के अंत मे लिखा है .—

ऐसे विरोध लिए कथन कालदोष ते भए है। इसकाल विषे प्रत्यक्ष-ज्ञानी वा बहुश्रुतनि का तो अभाव भया अर स्तोकबुद्धि ग्रन्थ करने के अधिकारी भये, तिनको भ्रमते कोई अर्थ अन्यथा भासे ताको तैसे लिखे अथवा इस काल विषे केई जैनमत विषे भी कषायी भए हैं सो तिनने कोई कारण पाय अन्यथा कथन लिखा है ऐसे अन्यथा कथन भया ताते जैनशास्त्रनिविषे विरोध भासने लगा। जहाँ विरोध भासे तहाँ इतना करना कि—इस कथन के करनेवाले बहुत करि प्रामाणिक है या इस कथन के करनेवाले बहुत प्रमाणीक है ऐसा विचार करि बड़े आचार्यादिकनि का कथन प्रमाण करना बहुरि जिनमत के बहुत शास्त्र है तिनकी आम्नाय मिलावनी जो परंपरा आम्नायतें मिले सो कथन प्रमाण करना।

.... "बहुरि कालदोषते जिनमतविषे एक ही प्रकार करि कोई कथन विरुद्ध लिख्या है सो यह तुच्छ बुद्धिनि की भूल है किछु मत विषे दोष नाही।

इस सब से यह सिद्ध है कि जो पीला पीला है वह सभी सोना है। आधुनिक युग मे भी सूक्ष्म परीक्षक इतिहासमर्मज्ञ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी "जैनाचार्यों का शासनभेद" ग्रन्थपरीक्षा ४ भाग तथा अनेक लेख लिखकर शास्त्रो के विषय मे हमारी बुद्धि को प्रांजल किया है और सदसद्विवेक को जागृत किया है।

इन्ही सब के कार्यों को हमने भी अपनी इस निबंधावली के द्वारा और भी वृद्धिगत करने का प्रयत्न किया है।

इन निबंधो मे हमने जो कुछ लिखा है वह सदाशयता को लेकर ही लिखा है अत. उसी भाव से उन्हे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान की मंदता के कारण संभव है विविध चर्चाओ मे हम भी कही चूके हो, अगर कही किसी को कोई गलती नजर आवे तो सूचित करने की कृपा करें इसके लिए हम उनके आभारी होगे।

अत मे विज्ञ पाठको से एक निवेदन और है कि—

जो आचार-विचार जैनधर्म की मूल प्रकृति—वीतरागता अहिसा अपरिग्रहतादि के जितने सन्निकट हों उन्हे ही अपनायें–प्राथमिकता दें; यह नही कि—पक्षवाद मे पडकर उन्हे तो दबाये और जो मूल से दूर हो उल्टा उन्हे प्रश्रय दे। अगर इतना भी विवेक हम नही रखेंगे तो अच्छी बातो से तो हम हाथ धो बैठेंगे और विकृत बाते, निष्प्राण क्रियाकांड हमारे पल्ले पड जायेंगे। अत सदा समीचीन शुद्धमार्ग को ही अंगीकार करे और उसी के प्रसार मे दत्तचित्त रहे।

इस निबधावाली मे—

१ से १०, २८ से ४२ और अंतिम निबंध इस तरह कुल २६ निबंध मिलापचन्द कृत है और बाकी निबंध रतनलाल कृत है।

आभार-प्रदर्शन

ये निबंध सर्वप्रथम—'जैनसंदेश' (साप्ताहिक) और उसके 'शोधाक', अनेकात (द्वैमासिक), जैनमित्र (साप्ताहिक), दिगंबर जैन (मासिक), श्रमणोपासक (पाक्षिक), महावीर जयती स्मारिका (वार्षिक), अस्तगत 'जैनदर्शन' (मासिक-पाक्षिक) पत्रो मे और मुनि हजारीमल स्मृतिग्रंथ मे प्रकाशित हुए थे अतः इस अवसर पर उनके मान्य सपादको का हम आभार प्रकट करते है।

इन निबंधो के निर्माण मे पं० दीपचन्दजी पाड्या का हमे समय-समय पर काफी सहयोग मिला है। उनसे अनेक विषयो पर ऊहापोह कर

हम अपने चिंतन को दृढ कर पाये है, इस सब के लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। प्रायः कोई ऐसा दिन नहीं गया है जिस दिन वे हमारी दुकान या घर पर आकर घंटा दो घंटा किसी विषय पर विचार विमर्श नहीं कर पाये हो। पण्डितजी ज्ञान के जीवंत कोष हैं; संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशादि भाषाओ के अधिकारी विद्वान् हैं, और बहुश्रुताभ्यासी है। कोई भी ग्रंथ हो वे दो चार गलतियां तो उसमे अनायास ही निकाल देते है—यह उनको सरस्वती की एक देन ही है।

इन निबंधो मे अधिकाश 'जैनसंदेश' मे प्रकाशित हुए है। जैनसंदेश के उद्भट संपादक पाडित्यविभूति, प्रतिभामूर्त्ति, विद्वत्-सम्राट् श्रीकैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी ने हमारे इन निबंधो को जाते ही तत्काल बिना किसी टिप्पणी और काट-छाट के अविकल प्रकाशित कर हमारा उत्साह प्रवर्धित किया था इस अवसर पर इसके लिए हम उनके भी अतीव आभारी है।

इन निबंधो से प्रसन्न होकर और इनको महत्त्वपूर्ण समझ कर इनका यह उपयोगी संग्रह—श्रेष्ठिवर्य्य दानवीर उदारचरित गुणिजनानुरागी श्रुतसेवक सन्मार्ग-पोषक सद्धर्मप्रचारक सत्सुधारक प्रबुद्धचेता श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी जैन (अध्यक्ष श्री वीर शासन संघ कलकत्ता) ने प्रकाशित किया है—साहित्यरसिक कलाप्रेमी बाबू सा० ने अच्छी धनराशि व्यय कर यह प्रकाशन उत्तम कागज और सुन्दर छपाई के साथ तैयार कराया है—इस सब के लिए हम उनके भी परम आभारी हैं।

बाबू सा० ने लाखो रुपया जैन साहित्य के प्रकाशन में और जैन-साहित्य संस्थानो एवं साहित्यकारो की विशिष्ट सहायता मे खर्च कर अपने द्रव्य का महान् सदुपयोग किया है। स्वामी समन्तभद्र के शब्दों मे उनका यह कार्य जिनशासन की महान् प्रभावना को लिये हुए है :—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१७॥

—रत्नकरंडश्रावकाचार

अर्थः—प्ररूढ अज्ञानाधकार को (सत्साहित्य के निर्माण और प्रकाशनादि द्वारा) यथायोग्य दूर कर जिनशासन की महत्ता ख्यापित करना 'प्रभावना' है ।

इस प्रकार इस ग्रंथ के 'उत्पाद' मे प० दीपचन्द जी और 'व्यय' (लेख-प्रकाशन) मे पं० कैलाशचन्द जी तथा 'ध्रौव्य (पुस्तकाकार)' मे बाबू सा० छोटेलाल जी परम सहायक हुए है इस तरह ये तीनो इस ग्रंथ के जीवन रूप (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) है और यही इस ग्रंथ की सक्षिप्त कथा (सद्द्रव्यलक्षणं) है ।

प्रूफ संशोधन और सुन्दर मुद्रणादि की व्यवस्था के लिए हम बाबूलाल जैन फागुल्ल के अनुगृहीत है । उन्होने खूब परिश्रम किया है ।

इन सबके सिवा और भी जो कोई विस्मृत रह गये हो उन सब प्रत्यक्ष परोक्ष सहायको के भी हम आभारी हैं ।

क्षमा-याचना

समीक्षा और उत्तर रूप मे किन्ही महानुभावो के प्रति न चाहते हुए भी उन्ही की भाषा के प्रवाह मे आकर अगर कही कोई व्यंग्योक्ति या कटु-शब्द लिखने मे आ गया हो तो हम उसके लिए हृदय से क्षमा प्रार्थी हैं ।

तथा किन्ही विशिष्ट पुरुषो के विषय मे भी कही कोई अशिष्ट वाक्य लिखने मे आगया हो तो उसके लिए भी क्षमा-प्रार्थी है ।

अत मे विज्ञ पाठको से निवेदन है कि—इस ग्रंथ की विशिष्ट अशुद्धियो का 'सशोधन' ग्रथात मे दिया गया है अतः अध्ययन के पहिले ग्रंथ को शुद्ध कर लें ताकि कोई अर्थ-भ्राति न हो ।

केकडी (अजमेर)
माघ शुक्ला ५ वि०सं०२०२२
वसंत पंचमी

निवेदक
मिलापचन्द रतनलाल, कटारिया

प्राक्कथन

मेरी स्मृति के अनुसार स्व० श्री नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा लिखित और हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई के द्वारा विक्रीत 'जैन साहित्य और इतिहास' जैन साहित्य और इतिहास से सम्बद्ध हिन्दी लेखो का प्रथम संकलन था। उसके पश्चात् श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के ऐतिहासिक निबन्धो का सकलन 'जैन साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ। फिर उनके सामाजिक निबन्धो का सकलन 'युगवीर निबन्धावली' नाम से प्रकाशित हुआ। इन दो विशिष्ट साहित्यिक महारथियो के निबन्ध सग्रहो के पश्चात् यह 'जैन निबन्ध रत्नावली' प्रकाशित हो रही है। इसका अपना वैशिष्टय जुदा है और वह वैशिष्टय विषयगत भी है और लेखकगत भी।

लेखकगत प्रथम वैशिष्टय यह है कि इस रत्नावली मे संकलित लेखों के लेखक पिता पुत्र है। दूसरा वैशिष्टय यह है कि दोनो व्यापारी है। तीसरा वैशिष्टय यह है कि दोनो ने न तो समाज के किसी विद्यालय या महाविद्यालय मे अध्ययन किया है और न किसी स्कूल या कालिज मे। न वे शास्त्री या आचार्य हैं और न बी० ए०, एम० ए०। फिर भी दोनों पण्डित और विद्वान् है। दोनो ने ही हिन्दी भाषा के द्वारा ग्रन्थो का स्वाध्याय करके वैदुष्य अर्जन नही किया है किन्तु संस्कृत और प्राकृत भाषा मे निबद्ध मूल ग्रन्थो का अनुशीलनपूर्वक वैदुष्य उपार्जन किया है। और उनका अध्ययन बहुत विस्तृत और तलस्पर्शी है। इसीसे उनका विषय पर जितना अधिकार है संस्कृत और प्राकृत भाषा पर भी उतना ही अधिकार है। दोनों की दृष्टि बडी पैनी है और अशुद्धियो को पकड़ने मे तो कमाल है। मेरे अनुमान के अनुसार तो जैन साहित्य का कोई

प्रकाशन ऐसा नही है जिसका अध्ययन इन पिता-पुत्र ने नहीं किया। हम विद्या का व्यवसाय करनेवालो को जिन बातों का पता नही, उनकी पूर्ण जानकारी इन पिता-पुत्र को है। ये बातें मै अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। यद्यपि प० मिलापचन्द जी कटारिया को मैंने आज तक नही देखा और उनके पुत्र पं० रतनलाल जी कटारिया से केवल एकबार साक्षात्कार हुआ था। दुबला पतला शरीर, नाटा कद, हँसता हुआ चेहरा। यदि मै उनके वैदुष्य से पूर्व परिचित न होता तो उन्हे देखकर किसी के कहने पर भी शायद ही इस बात पर विश्वास कर सकता कि यह पच्चीस वर्ष का दुबला पतला मारवाडी युवक विद्वान् है। किन्तु मै उनके लेखो का पाठक रहा हूँ। उनसे मेरा साहित्यिक पत्र व्यवहार भी है उन्ही के आधार पर मैने उनके सम्बन्ध मे जो यथार्थ अनुभव प्राप्त किया है वही मै लिख रहा हूँ। उसमे कोई अतिशयोक्ति नही है। विज्ञ पाठक उनके निबन्धो को पढकर इसका निर्णय कर सकेगे।

प्रस्तुत निबन्धावली मे सगृहीत निबन्ध जैन साहित्य के विविध विषयों से सम्बद्ध है। कुछ निबन्ध शुद्ध साहित्यिक है तो कुछ निबन्ध जैन साहित्य मे चर्चित विषयो से सम्बद्ध है। दि० जैन परम्परा मे प्रचलित पन्थमूलक पूजा प्रतिष्ठा विधि तथा उससे सम्बद्ध साहित्य की समीक्षापरक निबन्ध इस संग्रह की विशेषता है। जैन साहित्य के इन अंगो पर समीक्षात्मक रूप से लिखे गये लेखो का कोई संकलन अभी तक मेरे देखने मे नहीं आया है। इन निबन्धो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि लेखकद्वय ने पूजा प्रतिष्ठा विषयक साहित्य का भी अच्छा अनुगम किया है और इस विषय के भी वे पंडित है।

दि० जैन समाज मे जो पन्थभेद हुआ वह मूलत. पूज्य, पूजा सामग्री और पूजाविधि को ही लेकर हुआ है। अतः उनपर गम्भीरता से विचार की आवश्यकता है।

वैदिक धर्म या ब्राह्मण धर्म मूलतः मूर्तिपूजक नहीं था। उनका

प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ थे। यज्ञो में आहुति देकर वे अपने भौतिक देवताओं को प्रसन्न करते थे और उनसे अन्न पशु आदि की माँग करते थे। अग्नि देवताओं का मुख है अत. उसमें क्षेपण किया हुआ द्रव्य देवताओं को पहुँच जाता था। ऋग्वेद का पहला मंत्र है—अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारम् रत्नधातमम्।' अत. वैदिक-धर्म क्रियाकाण्डी धर्म था। यज्ञ तत्काल निर्मित मण्डप मे किये जाते थे। उनके लिये मन्दिर की तरह किसी स्थायी स्थान की आवश्यकता नहीं थी। अतः विद्वानो का मत है कि वैदिकधर्म मे उत्तरकाल मे जो यज्ञो के स्थान मे मन्दिर पूजा का प्रचलन हुआ वह अवैदिक संस्कृति का प्रभाव है।

डा० भण्डारकरने लिखा है—'जैन और बौद्धधर्म की स्थापना उन मनुष्यो ने की थी जो परमात्मा माने जाते थे। अतः उनके स्मारकों की पूजा तथा उनकी मूर्तियों का आदर करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। यह पूजा प्रचलित हुई और सर्वत्र भारत मे फैल गई। अतः राम, कृष्ण, नारायण, लक्ष्मी और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ तैयार की गई और पूजा के लिये सार्वजनिक स्थानो मे स्थापित की गई।'—(कलक्टेड वर्क्स आफ डा० आर० जी० भण्डारकर पूना)

इस तरह मूर्तिपूजा जैनों तथा अनार्य जातियों से वैदिकधर्म मे पहुँची। किन्तु मूर्तिपूजा को अपनाने के पश्चात् जब वैदिकधर्म ने धीरे-धीरे आधुनिक हिन्दू धर्म का रूप लिया तो यज्ञ तो तिरोहित हो गये और उनका स्थान मन्दिरो और मूर्तियों ने ले लिया। वैदिक धर्म के पुरस्कर्ता ब्राह्मण वर्ग की एक बडी विशेषता यह रही है कि उसने जिस वस्तु को भी अपनाया उसे इस तरह अपनाया कि मानों मूलत. वह वस्तु उन्ही की थी। जैसे यज्ञकाल मे यज्ञविषयक साहित्य और क्रियाकाण्ड का इतना विकास हुआ कि वह अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँचा, उसी तरह मन्दिर और मूर्तियों को अपनाने के पश्चात् पूजा विधि विषयक साहित्य

का भी बहुत विकास हुआ और पूजा विधि मे भी नये-नये तत्त्व रीति रिवाज प्रविष्ट होते गये। उनको पूजा का उद्देश्य वही रहा जो यज्ञो का था। देवताओं को प्रसन्न करके उनमे लौकिक अभ्युदय की याचना करना। देवता भी प्राय: उसी जाति के थे। यद्यपि अवतारवाद के फलस्वरूप कुछ देवताओ को भगवान के अवतार के रूप मे माना जाता था। किन्तु उन देवताओं के भक्त देवताओ की भी कमी नही थी और उन्हे भी भगवान का भक्त या गण मानकर भगवान की तरह ही पूजा जाता था। इन सबके बढते हुए प्रभाव से जैनधर्म भी अछूता नही रह सका। जैनधर्म मूलत: क्रियाकाण्डी धर्म नही है। वह भाव प्रधान धर्म है। क्रियाकाण्ड को उसमे भाव के ही अंगरूप से स्वीकार किया गया है। यदि क्रिया से भाव को पृथक् कर लिया जाये तो वह व्यर्थ हो जाती है। इसीलिये उसमे ऐसी भी स्थिति स्वीकार की गई है जिसमे द्रव्य के बिना केवल भाव पूजा ही मान्य है। उपवास के दिन गृहस्थ के लिये स्नान करने का भी निषेध है अत उस दिन धार्मिक कृत्य पूजा का विधान करते हुए सागारधर्मामृत मे कहा है—

> पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत्।
> प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥४१॥ अ० ४।

उपवास के दिन गृहस्थ को भावमयी पूजा से ही पूजा करनी चाहिये। अथवा प्रासुक द्रव्यमयी पूजा से पूजना चाहिये। और राग के अगो को एकदम छोड देना चाहिये।

वस्तुत. इस देश मे प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो परम्पराये वैदिक काल मे भी प्रचलित थी, प्रवृत्ति परम्परा को देव परम्परा या ब्राह्मण परम्परा कहते थे। यज्ञ विधि उसी का अंग थी। निवृत्ति परम्परा को मुनि परम्परा कहते थे। श्रमण विधि उसकी विशेषता थी। निवृत्तिमार्गीय श्रमणो के अनेक सम्प्रदाय महावीर भगवान और बुद्ध देव से भी

पूर्व विद्यमान थे। उन्ही मे जैनधर्म भी था। शायद ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशनमुनि उसी के पूर्वज थे। सिन्धु घाटी मे उपलब्ध एक नग्न मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित है। स्व० श्री रामप्रसाद चन्दा ने इस मूर्ति को तथा वहाँ से प्राप्त मोहरों पर अंकित मूर्तियो को नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा के आधार पर ऋषभ तीर्थंकर की मूर्ति बतलाया था। प्रसिद्ध विद्वान् डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी 'हिन्दू सभ्यता' नामक पुस्तक मे लिखा है—'श्री चन्दा ने ६ अन्य मुहरो पर खडी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृति मोहे जोदडो) कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेष रूप से मिलती है जैसे मथुरा संग्रहालय मे स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर सख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित मूर्ति मे एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। (हिन्दू सभ्यता पृ० २३-२४)।

अतः जैनधर्म निवृत्तिवादी परम्परा का प्रतीक है। इसी से जैनधर्म के उपदेशक आचार्यों के लिये यह आदेश था कि उन्हे अपने उपदेशों मे मुनिधर्म का ही सर्व प्रथम उपदेश देना चाहिये। जो ऐसा नही करेगा वह निग्रह स्थान का भागी होगा। आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में इस प्रकार का निर्देश पाया जाता है। उसमे लिखा है—

> यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
> तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥ १८॥
>
> अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
> अपदेऽपि संप्रवृत्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥१९॥

जो अल्पबुद्धि मुनिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, जिनागम मे उसे निग्रहस्थान का भागी कहा है। क्योकि मुनिधर्म को छोडकर गृहस्थ धर्म का उपदेश करने से अति उत्साहित शिष्य भी गृहस्थ धर्मरूपी अपद मे ही सन्तुष्ट होकर रह जाता है। और इस तरह वह उस दुर्बुद्धि उपदेशक के द्वारा ठगाया जाता है।

अतः प्रथम मुनिधर्म का उपदेश करने की ही प्राचीन परिपाटी है मुनिपद ही वास्तविक पद है, गृहस्थ का पद तो अपद है। किन्तु जब श्रोता अपनी असामर्थ्य बतलाकर गृहस्थधर्म के उपदेश करने की प्रार्थना करता था तब उसे गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया जाता था। यही बात पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कही है—

> बहुश समस्तविरतिं प्रदर्शिता यो न जातु गृह्णाति ।
> तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

जो बारम्बार मुनिधर्म का उपदेश देने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता है उसे इसी बीज के द्वारा गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे इसी प्राचीन परिपाटी का पालन किया गया है। उन्होने अपने प्रवचनसार मे तथा पाहुडो मे मुनिधर्म को लक्ष्य मे रखकर ही कथन किया है। श्रावक धर्म का तो थोडा सा निर्देश चारित्र-प्राभृत मे किया है। जब दिगम्बर परम्परा मे मुनिधर्म का ह्रास हो चला और अवशिष्ट बचे मुनियों मे भी वनवास के स्थान मे चैत्यवास चल पड़ा तब श्रावकाचार को लेकर स्वतंत्र ग्रन्थ रचना की प्रवृत्ति हुई। श्रावक के आचारविषयक जितना भी स्वतंत्र साहित्य है वह प्राय. दसवी शताब्दी से रचा गया है। केवल रत्नकरंडश्रावकाचार अपवाद है। आचार्य कुन्द-कुन्द के समय मे ग्यारह प्रतिमा, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत ये सम्पूर्ण श्रावकाचार था। रत्नकरंड मे भी इसी प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया गया है। चारित्रप्राभृत मे प्रथम सम्यग्दर्शन के आठ

अंगों के नाम मात्र गिनाये हैं। रत्नकरंड मे प्रत्येक अंग का स्वरूप बतलाया है। उसके बाद पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का कथन करके ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहा है। अन्तर इतना है कि कुन्दकुन्द ने दिग्व्रत देशव्रत को एक गिना है और उस कमी की पूर्ति सल्लेखना को शिक्षाव्रत में लेकर की है। रत्नकरंड मे दिग्व्रत देशव्रत को अलग-अलग गिना है और सल्लेखना का पृथक् कथन किया है। चारित्र-प्राभृत में अतिथि पूजा है, रत्नकरंड में वैयावृत्य है और वैयावृत्य का अर्थ अतिथि पूजा ही किया गया है। एक विशेषता और है कि उसमे श्रावक के अष्टमूलगुण भी बतलाये हैं। इतना ही प्राचीन श्रावकाचार है।

आचार्य जिनसेन (नौवी शताब्दी) के महापुराण की रचना से श्रावकधर्म का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। पाक्षिक नैष्ठिक साधक उसके भेद हुए, पूजा के विविध प्रकार हुए। प्राचीन षट्कर्म थे सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोसर्ग। मुनि और गृहस्थ दोनों इनका पालन करते थे। उनके स्थान मे देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म हो गये। और इनमे भी पूजन को विशेष महत्त्व मिलता गया।

पूजन तो अभिषेक पूर्वक होता है। विमलसूरि के पउमचरिउ का रूपान्तर रविषेण ने पद्मचरित के रूप मे किया। इस रूपान्तर से पउमचरिउ का पञ्चामृताभिषेक दिगम्बर परम्परा मे घुस बैठा। विमलसूरि की आम्नाय यापनीय हो सकती है। दिगम्बर परम्परा के तो वह नहीं थे। रविषेणाचार्य के उल्लेख का महापुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन पर तो कोई प्रभाव नही पड़ा। उन्होने महापुराण के प्रारम्भ मे रविषेण का स्मरण भी नहीं किया। किन्तु हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने उन्हे अपना पूर्व पुरुष मानकर अपने पुराण के प्रारम्भ मे रविषेण का स्मरण भी किया और पञ्चामृताभिषेक को पूर्वाचार्य कथित मानकर अपना लिया। बस

परम्परा चल पड़ी। सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन मे सभी फलों के रसों से भगवान का अभिषेक करा दिया।

सोचने की बात है कि दुनिया जल से स्नान करती है। साक्षात् जिन का अभिषेक भी क्षीर समुद्र के जल से ही हुआ था। फिर उनकी मूर्ति का अभिषेक रसो से करने की क्या तुक है। दूसरे निवृत्ति प्रधान जैनधर्म मे घी दूध दही आदि को अमृत कही भी नही बतलाया है। इनकी गणना तो विकृतियो मे की गई है। इनके सेवन से विकार पैदा होता है अतः रस परित्याग मे इनका त्याग कराया जाता है। ये तो हिन्दू धर्म मे ही अमृत माने गये है। उन्ही के यहाँ इन पञ्चामृतो से मूर्ति का अभिषेक होता है उन्ही का प्रभाव हम पर भी पड़ गया है यह निश्चित है।

इसी तरह जैनधर्म मे पूज्य केवल पञ्चपरमेष्ठी है क्योकि उनमे रत्नत्रय का एकदेश या सर्वदेश पाया जाता है। जिनमे रत्नत्रय की पात्रता भी नहीं है वे जैनधर्म मे पूज्य नही माने गये है। वैदिक धर्म मे एक समय इन्द्र का बडा प्राधान्य था। जैनधर्म से उसी इन्द्र को जिनेन्द्र का सेवक बतलाया गया है। समवसरण मे यक्ष यक्षिणियो को भगवान के ऊपर चमर ढोरने वाला बतलाया है। किन्तु बहुदेवतावादी हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से जैनधर्म मे इन यक्ष यक्षिणियो को शासन का रक्षक मानकर पूजने की परम्परा भट्टारक युग मे चल पडी।

जैन आगम के अनुसार जैनधर्म मे भट्टारक कोई पद नही है। शंकराचार्य ने बौद्ध और जैनधर्म के विरुद्ध जो अभियान शुरू किया था उससे बचने के लिये शंकराचार्य के द्वारा स्थापित मठो की तरह ही जैनधर्म मे भी मठो और मठपतियो-भट्टारको की परम्परा प्रवर्तित हुई। उससे जैनधर्म की रक्षा भी हुई। किन्तु हिन्दू मठपतियों से प्रभावित जनता के संरक्षण के लिये उनकी कुछ प्रक्रियाओ को भी अपनाना पड़ा। श्री पी० बी० देसाई ने अपनी 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' नामक पुस्तक मे तमिल प्रान्त मे यक्षी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि तमिल में जैन-

धर्म को शैव और वैष्णव धर्म से टक्कर लेनी पड़ी। शैव और वैष्णव धर्म में पार्वती और लक्ष्मी पूजा का प्राधान्य था। क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णु को अर्धांगिनी थी। उधर जैनधर्म में तीर्थङ्करो को कोई स्त्री नहीं थी। अतः भक्त जनों के मन को आकृष्ट करने के लिये जैन यतियों ने अपने धर्म में यक्षी पूजा का आविष्कार किया।

जैन प्रतिष्ठाविधि मे देवताओं का आह्वान बलिग्रहण, पूजन विसर्जन आदि सब हिन्दू धर्म के प्रभाव की देन है। यह तांत्रिक-मान्त्रिक युग बौद्ध-धर्म को तो खा ही गया। जैनधर्म को वह खा तो नही सका किन्तु उसे उसने निवृत्तिवादी धर्म से प्रवृत्तिवादी धर्म बना दिया, उसीका प्रभाव है कि निवृत्तिवादी मुनिमार्ग भी प्रवृत्तिवाद पर उतर आया है। वह भी श्रावक-धर्म सम्बन्धी क्रियाकाण्ड का पुरस्कर्ता बन गया है, उसे भी प्रतिदिन पञ्चामृताभिषेक देखे बिना चैन नही पड़ती। कहाँ कुन्दकुन्द का मार्ग और कहाँ अपने को कुन्दकुन्दान्वयी मानने वालों का मार्ग? दोनो मे कितना अन्तर पड़ गया है।

प्रस्तुत निबन्धावली के अनेक निबन्ध इन देवताओ की यथार्थता पर प्रकाश डालने वाले है और वे ही संग्रह की लेखगत विशेषता के लिये उल्लेखनीय है। अभीतक किसी भी विद्वान् ने जैन क्रियाकाण्ड मे प्रविष्ट इस अंग पर आलोचनात्मक रूप से प्रकाश नही डाला था। दोनों विद्वानों ने शास्त्राधारपूर्वक इस विषय पर प्रकाश डाला है।

श्री पं० मिलापचन्द जी कटारिया का 'जैनधर्म और हवन' शीर्षक लेख भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अग्नि मे आहुति देकर देवताओं को तृप्त करने की वैदिकविधि इसके मूल मे है। वैदिक धर्म में अग्नि को देवताओ का मुख कहा है। किन्तु जैनधर्म मे तो अग्नि न तो स्वयं कोई देवता है और न देवताओं का मुख है। वह तो एक भस्म कर देने वाली जड़ वस्तु है। अतः उसमें आहुति देकर किसी को तृप्त करने का वहाँ कोई प्रश्न नहीं है। पूजन तो अग्नि में क्षेपण बिना भी संभव है।

इन्ही सब प्रवृत्तियो का विरोध उत्तरभारत में एक समय लहर के रूप में फैला। और वह तेरहपन्थ कहलाया। उस पन्थ ने पूज्य के स्थान मे केवल पञ्चपरमेष्ठी को मान्य किया, पूजन मे शुद्ध जलाभिषेक पूर्वक प्रासुक द्रव्य को अपनाया। मूर्ति पर किसी भी प्रकार का लिम्पन या पुष्पारोहण को अमान्य किया क्योकि उससे वीतराग छवि मे दूषण लगता है।

एकीभावस्तोत्र मे वादिराज आचार्य ने कहा है —

> आहार्येभ्य. स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्य.
> शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्य ।
> सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्य. परेषाम्
> तत्किं भूषावसनकुसुमैः किञ्च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥

हे जिन ! जो स्वभाव से अमनोरम–असुन्दर होता है वह अपनी ऊपरी सजावट से दूसरो को आकर्षित करता है। जो वैरियो के वश मे आने योग्य होता है वह सदा शस्त्र लिये रहता है। हे जिन ! तुम तो सर्वाङ्ग सुन्दर हो, दूसरो के वश मे भी आने योग्य नही हो, तब तुम्हे आभूषण, वस्त्र और फूलो से तथा अस्त्र-शस्त्र से क्या प्रयोजन है।

यहाँ पुष्प का भी निषेध किया गया है।

इस पन्थ का नाम तेरापन्थ था या तेरहपन्थ था ? यह भी एक चर्चनीय विषय है। प० पन्नालालजी का 'तेरहपन्थ खण्डन' नाम का ग्रन्थ है। यह जयपुरी गद्य मे है। इसके प्रारम्भ मे लिखा है—

'दिगम्बरम्नाय है सो शुद्धम्नाय है। या विषै भी तेरहपन्थी को अशुद्ध अम्नाय है सो याकी उत्पत्ति तथा श्रद्धा ज्ञान आचरण कैसे है ताका समाधान—पूर्वरीतिकू छाडि नई विपरीत आम्नाय चलाई तातैं अशुद्ध है। पूर्वरीति तेरह थी तिनकौ उठा विपरीत चले, तातै तेरापंथी भये, तेरह पूर्व किसी, ताका समाधान—

दसदिकपाल उथापि १, गुरूचरणां नहि लागै २ ।
केसरचरणां नहि धरै३, पुष्पपूजा फुनि त्यागै ॥ ४ ॥
दीपक अर्चा छांडि ५, आसिका ६ माल न करही ७ ।
जिन न्हावण ना करै ८, रात्रिपूजा परिहरही ॥ ६ ॥
जिन शासनदेव्यां तजी १०, राध्यौ अंन चहौड़ैं नही ११ ।
फल न चढ़ावै हरित पुनि ९२, बैठिर पूजा करै नही ॥१३॥
ये तेरै उरधारि पंथ तेरै उरथप्पे ।
जिनशासन सूत्र सिद्धांतमांहि ला वचन उथप्पे ॥

अर्थात्—दस दिग्पालों की पूजा, भट्टारको की पदवन्दना, भगवान के चरणों मे केसर चढाना, पुष्प पूजा, दीपक पूजा, आसिका, माल, जिनाभिषेक, रात्रिपूजा, शासनदेवता, राधे हुए अन्न का चढ़ाना, हरितफल चढ़ाना, बैंठकर पूजा करना ये तेरह बातो को छोड़ देने से तेरह पन्थ कहलाया ।

इसके आगे पद्धडीछन्द मे कामा से सागानेर की लिखी हुई एक चिट्ठी दी है । कामा से लिखनेवाले हैं—हरि किमन, चिन्तामणि, देवीलाल और जगन्नाथ । और सागानेरवालो के नाम हैं—मुकुंददास, दयाचन्द, महासिह, छाज, कल्ला, सुन्दर और विहारीलाल । सागानेरवालो से आग्रह किया गया है कि हमने इतनी बातें छोड़ दी है सो आप भी छोड़ देना—जिनचरणो मे केसर लगाना, बैंठकर पूजा करना, चैत्यालय मे भण्डार रखना, प्रभु को जलौट पर रखकर कलश ढोलना, क्षेत्रपाल और नवग्रहों की पूजा करना, मन्दिर मे जुआ खेलना और पंखे से हवा करना, प्रभु की माला लेना, मन्दिर मे भोजको को आने देना, भोजकों द्वारा बाजे बजवाना, रांधा हुआ अनाज चढ़ाना, थालोड़ी (?) करना, मन्दिर मे जीमन करना, रात्रि को पूजन करना, रथयात्रा निकालना, मन्दिर में सोना आदि । यह चिट्ठी फागुन सुदी १४ सं० १७४६ को लिखी गई बतलाई है ।

यह कथन तो तेरापन्थ के विरोधियों का है।

जोधराज गोदीका ने अपने प्रवचनसार भाषा के अन्त मे लिखा है—

कोई देवी खेतपाल बीजासनि मानत है,
केई सती पित्र सीतलासौ कहैं मेरा है।
कोई कहै सावलौ, कबीर पद कोई गावै,
केई दादूपन्थी होई परै मोह घेरा है॥
कोई ख्वाजै पीर मानै, कोई पंथी नानक के
केई कहैं महाबाहु महारुद्र चेरा है।
या ही बारा पंथ मे भरमि रह्यौ सबै लोक,
कहै जोध अहो जिन तेरापंथ तेरा है॥

अर्थात् सारे लोग सती, क्षेत्रपाल आदि के बारह पन्थो मे भटक रहे है परन्तु जोध कवि कहता है कि हे जिन देव, उक्त बारह पन्थो से अलग तेरापन्थ तेरा है।

तेरापन्थ के विरोधियो और अनुयायियो के उक्त कथन से तेरापन्थ और तेरहपन्थ दोनो ही नाम प्रमाणित होते है। किन्तु बीसपन्थ नाम से तो यही प्रतीत होता है कि तेरहपन्थ नाम के प्रतिपक्ष मे ही बीसपन्थ नाम रखा गया था। जैसे बीस सख्या परक है वैसे ही तेरह भी संख्या परक होना चाहिये। विषम से बीस की उत्पत्ति समझ मे नही आती। हाँ, तेरापन्थियो ने बीस का विषम बना दिया हो यह संभव है। जैसे दस्सो से ऊँचे बीसा होते हैं। वैसे ही तेरह से ऊँचे बीस हैं सम्भवतया यही प्रकट करने के लिये बीसपन्थ नाम रखा गया होगा। अस्तु, जो कुछ हो, किन्तु पूजाविधि को लेकर झगडने की बात समझ मे नही आती। और मुनिराजों को तो गृहस्थो के इस विवाद मे पडना ही नही चाहिये। उनके लिये तो द्रव्यपूजा ही विधेय नही है तब सचित्त और बहुआरम्भी पूजा का विधान वे कैसे कर सकते है?

जैनधर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतरागता है अतः राग को घटाना ही विधेय है। शुद्ध जलाभिषेक मे अल्प आरम्भ होने से अल्पसावद्य है, पञ्चामृताभिषेक मे बहुत आरम्भ होने से सावद्य भी विशेष है इसी तरह सचित्त-पूजा से अचित्तपूजा में अल्पसावद्य है, हिंसा कम है। फिर भी जिन गृहस्थों को वही पसन्द हो वे करें, किन्तु मुनिमहाराजों को उसका आग्रह होना उचित नही है। आज उन्हीके आग्रहवश यह पन्थ विवाद जोर पकड़ रहा है। अस्तु,

इस निबन्धावली मे कुछ लेख शुद्ध साहित्यिक भी है। जैसे देवसेन का भावसंग्रह और देवसेन का नयचक्र। प्रथम लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है उसमे भावसंग्रह का पर्यवेक्षण करते हुए उसे सारान्त ग्रन्थो के रचयिता देवसेन की कृति माने जानेका जो निषेध किया है वह सबल है। हमने भी भावसंग्रह को तुलनात्मक दृष्टि से देखा है। हमे भी वह गोमट्टसार जीवकाण्ड के पश्चात् ही रचा गया प्रतीत होता है। जीवकाण्ड को सामने रखकर उसकी रचना हुई है। भावसंग्रह मे केवल १४ गुणस्थानों की चर्चा है। १४ गुणस्थानो का नाम बतलाने वाली दोनो गाथाएँ जीवकाण्ड की है केवल दूसरी गाथा के अन्तिम चरण मे 'चउदस जीवसमासा' के स्थान मे 'ए चउदस गुणठाणा' पद कर दिया गया है। प्राकृत पंच-संग्रह के अन्तर्गत जीवसमास मे भी ये दोनो गाथाएँ हैं। वहाँ भी 'चोद्दस गुणठाणाणि' पाठ है। अत. यह भी संभावना की जा सकती है कि भाव-संग्रह के कर्ता ने उन गाथाओ को जीवकाण्ड से न लेकर प्राकृत पञ्च-संग्रह से लिया होगा। किन्तु प्राकृत पञ्चसंग्रह मे मिथ्यात्व के पाच भेदो और उनको मानने वाले मतो की चर्चा नही है। यह कथन जीव-काण्ड मे है और भावसंग्रह मे भी है। भावसंग्रह मे भी जीवकाण्ड की तरह ही ब्रह्म को विपरीत मिथ्यादृष्टि, बुद्ध को एकान्त मिथ्यादृष्टि, तापस को वैनयिक मिथ्यादृष्टि, इन्द्र (श्वेताम्बरो को) संशय मिथ्यादृष्टि और मस्करी को अज्ञान मिथ्यादृष्टी बतलाकर उनके मतो का विस्तार से

निरूपण और खण्डन किया है जैसा सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में किया है।

जीवकाण्ड की गाथा १२ भावसग्रह मे ३६० वी गाथा है। भावसंग्रह की गाथा ३१३ जीवकाण्ड की गाथा ५७३–५७४ का एक-एक अर्ध लेकर रची गयी है। किसी-किसी गाथा पर द्रव्यसग्रह की भी छाया प्रतीत होती है। यथा—

> जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसजुदो देहमित्तो।
> कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

भावसग्रह की इस गाथा को पढकर द्रव्यसग्रह की नीचे लिखी गाथा का स्मरण होता है—

> जीवो उवओगमओ अमुक्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

दोनों के अन्तिम चरण विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं।

३४५ गाथा का चरण 'जहकालेण तवेण य' द्रव्यसग्रह की गाथा ३६ का 'जहकालेण तवेण य' का बरबस स्मरण कराता है।

देवसेन ने भावसग्रह मे कौलधर्म की भी आलोचना की है। यह एक वाम मार्ग था जो दसवी शताब्दी मे भारत मे फैला हुआ था, सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन मे भी उसकी चर्चा की है। उसी समय के राजशेखर ने अपनी कर्पूरमजरी मे भी कौलधर्म की चर्चा की है। कर्पूरमजरी और भावसग्रह के निम्न पद्य समानता की दृष्टि मे उल्लेखनीय है—

> रण्डा चण्डा दिक्खिआ धम्मदारा
> मज्ज मस पिज्जए खज्जए अ।
> भिक्खा भोज्ज चम्मखण्ड च सेज्जा
> कालो धम्मो कस्सणो भाइ रम्मो ॥
>
> —कर्पूरमजरी १–२३।

रंडा मुंडा थंडी सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा।
सीसे कंता कामासत्ता कामिया सा वियारा॥
मज्जं मंसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवसोक्खं च
कउले धम्मे विसये रम्मे तं जि हो सग्गमोक्ख ॥१८२॥
—भावसंग्रह।

इन तथा,प्रस्तुत संग्रह के लेख मे प्रदर्शित युक्तियो के प्रकाश मे भाव-संग्रह के रचयिता देवसेन सारान्त ग्रन्थों के रचयिता देवसेन से भिन्न ही सिद्ध होते है। हा, नयचक्र की स्थिति विचारणीय है। देवसेन कृत जिस नयचक्र का उल्लेख माइल्लधवल ने किया है वह संस्कृत नयचक्र तो नहीं हो सकता क्योकि उसके रचने पर नयचक्र पर आलापपद्धति रचने को आवश्यकता नहीं रहती, संस्कृत नयचक्र मे आलापपद्धति का भी उपयोग किया गया है ऐसा तुलना से प्रतीत होता है। आलापपद्धति को रचना मे जो वैदुष्य और शालीनता है, संस्कृत नयचक्र मे वह सब नही है। जो प्राकृत नयचक्र देवसेन के नाम से मुद्रित है वह प्रायः माइल्लधवल के द्रव्यस्वभाव प्रकाश मे समाया हुआ है। संभव है माइल्लधवल ने अपने गुरु के नयचक्र को वेष्ठित करके ही अपना ग्रन्थ रचा हो। इस विषय मे अभी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

'कुछ श्लोको के अर्थ पर विचार' करते हुए विद्वान् लेखक ने 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' अनेक युक्तियो और प्रमाणों से सिद्ध किया है। वह मननीय है। उससे यह भी प्रकट होता है कि आचार्य प्रणीत ग्रन्थों मे आगत शब्दों का अर्थ करते समय सावधानी की कितनी अधिक आवश्य-कता है। और उसके लिये शास्त्रीय व्युत्पत्ति के साथ सामयिक स्थिति के भी परिशीलन की आवश्यकता है।

अधिकांश जैन विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक आचार्य प्रणीत प्रत्येक ग्रन्थ का प्रत्येक शब्द सर्वज्ञ कथित है। साथ ही वे अपनी विचार-

धारा के साथ भी उसका मेल बैठाना चाहते है। उचित तो यह है कि ग्रन्थ के अनुसार अपनी विचारधारा को बनाया जाये और यदि समन्वय शक्य न हो तो तत्कालीन उस सामयिक स्थिति का पर्यवेक्षण किया जाये जिसमे रहकर ग्रन्थकार ने ग्रन्थ रचना की है। क्योकि प्रत्येक बहुमूल्य रचना केवल उस परम्परा का ही प्रतिनिधित्व नही करती जिस परम्परा से उसका सम्बन्ध होता है किन्तु अपने समय का भी प्रतिनिधित्व करती है। जो समय का प्रतिनिधित्व नही करती वह रचना रचना ही नही है। प्रत्येक दृष्टिसम्पन्न ग्रन्थकार ग्रन्थ रचना करते समय लोक मे प्रवर्तित सामयिक विचारो के अनुकूल या प्रतिकूल कुछ न लिखे यह सम्भव नही है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, अमृतचन्द्र, प्रभाचन्द्र, सोमदेव आदि की कृतियाँ इसके साक्षी है। कुन्दकुन्द के सामने वैशेषिक, साख्य, बौद्ध और वेदान्त की विचारधारा थी। समन्तभद्र और सिद्धसेन के सामने षड्दर्शनों के व्याख्याकार थे। अकलंक के सामने प्रख्यात बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति और मीमासक कुमारिल थे। इन सबकी कृतियाँ तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओ की आलोचना-प्रत्यालोचना से भरी हुई है। दार्शनिक उथल-पुथल के साथ धार्मिक उथल-पुथल का होना भी स्वाभाविक है। जिनसेनाचार्य का महापुराण इसका साक्षी है। उसमे तत्कालीन ब्राह्मणवाद का पूरा चित्र अंकित है। लोक वित् सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है। उसमे तत्कालीन भारतीय संस्कृति की इतनी सामग्री भरी हुई है कि उस सबका अवगाहन कर सकना भी कठिन है।

सोमदेव जैन विचारधारा के कट्टर अनुयायी थे किन्तु उदार भी थे। उनकी वह उदारता थी परम्परा के संरक्षण के लिये। उनकी यह उक्ति जैन परम्परा के संरक्षण के लिये स्वर्णिम संदेश है—

'सर्व एव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥'

सभी जैनो को वह लोकाचार प्रमाण है जिससे सम्यक्त्व में हानि न आती हो और न व्रत में दूषण लगता हो।

उन्होंने जो सत् शूद्र को दान का अधिकारी बतलाया है वह आज कुछ विद्वानों को इसलिये अयुक्त लगता है कि आज शूद्र जल त्याग का नया धर्म प्रवर्तित कर दिया गया है। किन्तु जैनधर्म मे सत् शूद्र की वही स्थिति नही थी जो मनुस्मृति मे प्रतिपादित है। उसे अमुक सीमा तक धर्म सेवन का अधिकार था।

इसी तरह सोमदेव ने ब्रह्माणुव्रत के लक्षण मे वधू की तरह वित्तस्त्री (वेश्या) की भी छूट दे दी है। यह सामयिक प्रभाव है। इसे न समझकर कुछ नासमझ लोगो को 'वित्तस्त्री' का अर्थ वेश्या करने पर आपत्ति है किन्तु उनकी वह आपत्ति भावनामूलक है। वित्तस्त्री का वेश्या के सिवाय दूसरा अर्थ होता ही नही।

सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत' शुद्ध अर्थशास्त्र का ग्रन्थ है। जैन दृष्टिकोण से उसका मूल्य आँकना ही नही चाहिये। वह तो लौकिक ग्रन्थ है। लोकधर्म को लेकर लिखा गया है। सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन मे लिखा है—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिकः पारलौकिकः।
> लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

गृहस्थ के दो धर्म होते है—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म-लोक के आश्रय से चलता है और पारलौकिक धर्म आगम के अनुसार चलता है।

अतः नीतिवाक्यामृत उसी लोकाश्रय धर्म का प्रतिपादक है और उपासकाध्ययन में प्रतिपादित धर्म पारलौकिक धर्म है। परलोक के लिये उसी का अनुसरण करना चाहिये। यद्यपि उसमे ऐसा भी कथन है जो शिथिलाचार का पोषक है किन्तु ग्रन्थकार की भावना दूषित नही है। उसके मूल

मे भी धर्म प्रेम है। उसके कारण सोमदेव जैसे महान् ग्रन्थकार का अनादर नही होना चाहिये, इतना ही हमारा अभिप्राय है।

अन्त मे इस सकलन के सम्बन्ध मे हम इतना कह देना अपना कर्त्तव्य समझते है कि लेखो का चुनाव और क्रम सन्तुलित नही है। उसमे परिवर्तन की आवश्यकता थी। अखबारी दुनिया और पुस्तकीय संसार मे भेद है। पहली मे सब चल जाता है किन्तु दूसरी मे नही। अत. यदि उनमे तदनुकूल परिवर्तन कर दिया जाता तो उचित होता।

इस सग्रह के प्रकाशक बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता एक गुणग्राही व्यक्ति है। साहित्य और साहित्यकारो के प्रति उसके चित्त मे बहुमान है। उन्होने इस संग्रह को प्रकाशित करके अपनी गुणग्राहकता का ही परिचय दिया है। किन्तु खेद है कि इन पक्तियो के लिखे जाने के बाद ही २६ जनवरी सन् १९६६ को उनका स्वर्गवास हो गया और वे अपने इस प्रकाशन की एक झलक भी नही देख सके।

अन्त मे मै लेखक और प्रकाशक दोनो का ही आभारी हूँ कि उन्होने मुझे अपने भाव प्रदर्शित करने का अवसर दिया।

ऋषभ निर्वाण दिवस }
वी० नि० स० २४९२ }

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन निबन्ध रत्नावली

प्राकृत भाषा के प्रति हमारी उपेक्षा

अनेक भाषाओ मे प्राकृत भी एक भाषा है। इस भाषा के विशेषज्ञो का कहना है कि अति प्राचीनकाल मे इस देशके आर्य लोगोंकी यह बोल-चाल की भाषा थी। आज भी भारत के अनेक प्रदेशो मे बोली जाने वाली भाषाओ मे इस भाषा के प्रचुर शब्द पाये जाते है। अन्य अनेक भाषाओ का उद्गम इसी भाषा से हुआ है। वस्तुत प्राकृत भाषा को अनेक भाषाओ की जननी कहना चाहिये। इस मान्यता को ईसा की ८ वी शताब्दी के जैनेतर महाकवि वाक्पतिराज ने भी अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य मे इन स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त किया है—

सयलाओ इम वाया विसति एत्तो य णेति वायाओ।
एति समुद्द चिय णेति सायराओच्चिय जलाइ ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसी प्राकृत भाषा मे सब भाषाये प्रवेश करती है और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषाये निकली है। जल समुद्र मे ही प्रवेश करता है और समुद्र मे ही (वाष्प रूप से) बाहर निकल जाता है।

ये ही महाकवि उसी ग्रन्थ मे प्राकृत की प्रशसा करते हुये कहते है—

णवमत्थदसण सनिवेससिसिराओ बधरिद्धीओ।
अविरलमिणमो आभुवणबधमिह णवर पययम्मि ॥ ७२ ॥

अर्थ—पृथ्वी भर भर मे नूतननूतन अर्थोका दर्शन और सुन्दर रचना वाली प्रबन्ध सम्पत्ति यदि कही भी है तो वह केवल प्राकृत भाषा मे ही है।

ईसाकी नवमी शताब्दी के जैनेतर कवि राजशेखर ने भी प्राकृत भाषा की महत्ता बताते हुये कहा है कि—

परुसो सक्कअ-बधो पाउअ-बधोवि होइ सुउमारो।

"कर्पूर मंजरी"

प्रकृतिमधुरप्राकृतगिरः ।

"बालरामायण"

अर्थ—सस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार कोमल है। प्राकृत भाषा स्वभाव से ही मधुर है।

जैनियो की प्रधान भाषा प्राकृत ही है। अति प्राचीन काल के जैन ग्रन्थ इसी भाषा मे रचे मिलते है। इसी भाषा के मौलिक साहित्य के आधार पर संस्कृत के अनेक उत्तम जैन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। अगर प्राकृत भाषा को जैन भाषा कहा जावे तो अत्युक्ति नही है। जो भाषा इतनी प्राचीन, सरल और जैनो की खास आगमिक भाषा है, खेद है कि आज उसी की तरफ हमारा पूरा दुर्लक्ष्य है। हमारे विद्यार्थी संस्कृत पढते है—अँग्रेजी पढते है परन्तु प्राकृत भाषा को कोई भी नही पढता है। भगवान् महावीर की पवित्र वाणी के प्रचार के लिये, जैनतत्त्व बोध के लिये और प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थो का रहस्य समझने के लिये ही तो भारतवर्ष भर के जैन विद्यालयोमे जैन समाज का लाखो रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है। तब फिर प्राकृत शिक्षा की तरफ हमारी इतनी उपेक्षा क्यो है? हम ही अपनी मूलभाषा की पूछ न करेंगे तो अन्य कौन करेगा? खासकर दि० जैन समाज मे तो मानो प्राकृत भाषा उठ ही गई है। हमारे यहाँ प्राकृत ज्ञान की इतनी कमी है कि रोजमर्रा बोलने के साधारण प्राकृत पाठ भी अशुद्ध प्रचार मे आ रहे है। नमूने के तौर पर मगलोत्तम शरण पाठ को ही लीजिये। यह पाठ नित्य नियम पूजा आदि मे निम्न प्रकार छपा मिलता है—

"चत्तारि मगल। अरहत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवली-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलीपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलीपण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि।"

दि० जैनसमाज में इस अशुद्ध पाठ का खासा प्रचार हो रहा है। छोटे से बड़े तक प्राय: सब इसी तरह उच्चारण करते पाये जाते हैं। प्राकृत का मामूली ज्ञाता भी जान सकता है कि यह पाठ कितना अशुद्धिपूर्ण है।

अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा में अरहंत सिद्ध शब्दको कौन-सी विभक्ति का कौन-सा वचन माना जावे ? प्रथमाविभक्ति का तो कोई भी रूप ऐसा नही बनता है। अरहंत शब्द की प्रथमा विभक्ति का एकवचन प्राकृत मे 'अरहंतो' होता है, बहुवचन 'अरहंता' होता है। इसी तरह सिद्ध शब्दका क्रमशः 'सिद्धो' 'सिद्धा' होता है। जैसा कि "केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगल" वाक्यमे पण्णत्त व धम्म शब्द का पण्णत्तो-धम्मो यह प्रथमा विभक्ति का एकवचन हुआ है। अरहंत, सिद्ध ऐसे तो रूप ही नही होते है। 'लोगुत्तमा' यह प्रथमा का बहुवचन है तब 'धम्मो लोगुत्तमा' यह स्पष्ट ही अशुद्ध है। क्योकि धम्मो इस एक-वचन के साथ लोगुत्तमा यह बहुवचन नही बन सकता। इसी तरह "अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि" मे अरहंत सरण, सिद्ध सरण को समासात पद मानकर शुद्ध समझ लिया जावे तो "केवलि-पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि" मे कैसे माना जावे ? मतलब कि यह सब पाठ ही काफी अशुद्धियो से भरा हुआ है।

यहाँ हम इसी का शुद्ध पाठ संस्कृत छाया सहित लिख देना उचित समझते है—

"चत्तारि मंगलं—अरहंता मगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगल, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।"

इसकी संस्कृतछाया—

चत्वारि मगलानि—अर्हंतो मंगलं, सिद्धा मगल, साधवो मंगलं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मंगलं। चत्वारो लोकोत्तमा – अर्हंतो लोकोत्तमा, सिद्धा लोकोत्तमा, साधवो लोकोत्तमा·, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तम। चतुर शरण प्रव्रजामि-अर्हत. शरणं प्रव्रजामि, सिद्धान् शरणं प्रव्रजामि, साधून् शरणं प्रव्रजामि, केवलिप्रज्ञप्तं धर्म शरण प्रव्रजामि।★

यह एक ही ऐसा पाठ है जिसका लाखो जैनियोको भगवद्दर्शनपूजनमे नित्य काम पडता है। और जैनविद्यालयो मे शुरू ही मे पढाया जाता है। उसीमे इतनी अशुद्धियो की भरमार होना यह बताता है कि दि० जैन-समाज मे प्राकृत शिक्षाकी भारी कमी है जिसके दूर किये जानेकी सख्त जरूरत है।

●

★ पव्वज्जामिका सस्कृत रूप जिनसेनाचार्यने 'प्रपद्यामि' दिया है। और प्रभाचन्द्र ने 'प्रव्रजामि' दिया है। इनके लिए क्रमशः देखिए.—'महापुराण, पर्व ४० श्लोक २७ से ३० तथा क्रियाकलाप, पृ० १४४।

देवनंदि और गुणभद्र के अभिषेक पाठ

करीब २५ वर्ष पहिले 'बनजी ठोलिया ग्रंथमाला, जयपुर से "अभिषेक पाठ संग्रह" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। जिसके संपादक और संशोधक है पं० पन्नालालजी सोनी शास्त्री। इस संग्रह में कई एक अभिषेक पाठों का संकलन किया गया है जिनमे से पूज्यपाद और गुणभद्र के अभिषेक पाठो को संपादकजी ने प्रस्तावना मे उन्ही प्राचीन पूज्यपाद और गुणभद्र के रचे हुए बताये हैं जो पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि आदि के कर्त्ता हैं और जो विक्रम की पाँचवी छठवी शताब्दी मे हुए है। तथा जो गुणभद्र उत्तरपुराण आदि के कर्ता व आचार्य जिनसेन के शिष्य हैं और जो विक्रम की ९वी शताब्दी मे हुए है। संपादकजी ने इस विषय मे जो भी दलीलें दी है वे सब नि सार और तथ्यविहीन है। प्रस्तुत लेख मे हम इसी विषय पर अपने विचार रखते है।

अवतक के उपलब्ध अभिषेक साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस विषय के ज्ञात साहित्य मे अभिषेक का थोडा बहुत वर्णन करने वाला सबसे प्रथम सोमदेव कृत यशस्तिलक के उपासकाध्ययन प्रकरण का ३६वाँ कल्प है। सोमदेव का समय विक्रम की ११वी सदी है। इसके बाद इसी को आधार बनाकर पं० आशाधरजी ने कुछ विस्तार से नित्यमहोद्योत नाम का अभिषेक पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसके पहिले इस विषय का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ देखने मे नही आया है। पं० आशाधर जी के जीवन का पता विक्रम की १३वी सदी के अंत तक लगता है। शेष अभिषेक पाठ जो उक्त संग्रह मे छपे है वे सब आशाधरजी के बाद बने हुए है। इन पाठो मे इंद्रनंदि, देवनंदि और गुणभद्र कृत पाठ मुख्य है। ये तीनो पाठ आशाधरजी के कुछ ही

बाद बने जान पडते है। इन तीनो पाठो मे आशाधर का अनुसरण करते हुए कहीं कुछ भिन्न विधान भी लिखे है। तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता लगता है कि ये तीनो एक ही कोटि के ग्रंथ है और तीनो के कर्ताओं का समय भी करीब पास पास ही है। इन तीनो ही का उल्लेख आशाधर के बाद के ग्रंथों मे तो मिलता है किंतु आशाधर के पूर्व कहीं नही मिलता हैं। न आशाधर ने ही इनका कही उल्लेख किया हैं। मुख्यत· इनका उल्लेख एकसंधि, अर्यपार्य और पूजासार के सकलनकर्त्ता ने किया है और ये सब आशाधर के बाद १४वी सदी मे हुए है।

उक्त अभिषेक पाठो के कर्ता इंद्रनंदि आदि तीनो मे से इन्द्रनन्दि का समय तो स्पष्ट ही है कि ये आशाधर के बाद हुए है। क्योकि आशाधर की कोई कोई रचना इन्होने ज्यो की त्यो अपनी इद्रनदिसंहिता मे उद्धृत कर ली है जिसे संपादक जी ने भी स्वीकार किया है। अब रहे देवनंदि और गुणभद्र के अभिषेकपाठ, तो इनको भी हम निम्नलिखित आधारो से आशाधरजी के बाद की ही कृतियाँ समझते है।

१—आशाधरजी के ग्रन्थो की रचना शैली का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि उनमे जो विषय चर्चित किया जाता है उमके समर्थन मे कही न कही प्रसगोपात्त किसी अन्य ग्रंथ का उद्धरण दिया जाता है। उनके बनाये नित्यमहोद्योत अभिषेकशास्त्र मे या अन्यत्र सोमदेव का तो उद्धरण है किन्तु इन देवनदि गुणभद्र के पाठो का कही उद्धरण नही है। इससे स्पष्ट है कि—पं० आशाधर जी के पूर्व सोमदेवकृत अभिषेकप्रकरण तो मौजूद था किन्तु देवनंदि गुणभद्र के अभिषेक पाठ नही थे।

२—आशाधरजी के अभिषेकपाठ मे बहुत ही कम मन्त्र पाये जाते हैं। यहा तक कि खास जलादि अभिषेक के वक्त के भी नित्यमहोद्योत मे मूल मे मंत्र नही है वे भी टीकाकार श्रुतसागर ने लिखे है। आशाधर के पहिले सोमदेव ने तो ये आशाधर वाले मत्र भी नही लिखे है। नित्य महोद्योत मे प्रयुक्त मत्रो का प्रसंग निम्न प्रकार है—

क्षेत्रपाल, वास्तुदेव, दिग्पाल व वात मेघ-अग्नि कुमार और नागदेव इन देवोके आह्वानादि मंत्र । अर्हंत आह्वानादि मंत्र । कलशस्थापन, प्रतिमास्पर्शन, प्रतिमास्थापन, पाद्य और आचमन बस इनके मंत्र ही प्रायः आशाधरने लिखे है । किंतु इंद्रनन्दि, देवनंदि और गुणभद्रके पाठोमे उक्त मंत्र तो है ही साथ ही, निम्नलिखित प्रसंगोके भी मंत्र लिखे मिलते है—

भूमिशुद्धि, दर्भस्थापन, मुद्रिका-कंकण-शेखर—यज्ञोपवीतधारण, धोती-डुपट्टाधारण, कलशार्चन, पीठस्थापन, पीठप्रक्षालन, पीठार्चन, श्री लेखन, श्रीयंत्रार्चन, जलादिअभिषेक, गोमयपिण्डादि-अवतारण और पुष्पार्पण इन सब क्रियाओ के मंत्र लिखे है। तथा जलादि अष्टद्रव्य चढाने के "परमेष्ठिम्य. स्वाहा जलं । परमात्मकेभ्यः स्वाहा चंदनं । अनादिनिघनेभ्यः स्वाहा अक्षतं आदि मत्र भी लिखे है जो विलक्षण से लगते है । ये सब मंत्र आशाधरके अभिपेकपाठ मे ही नही उनके प्रतिष्ठासारोद्धारमे भी कही नही है । यह कभी नही हो सकता कि ये मंत्र देवनंदि आदि प्राचीन ऋषिप्रणीत होते और आशाधरजी इनका उपयोग नही करते । इन देवनन्दि-गुणभद्र के अभिपेक पाठो मे पाये जाने वाले इन मंत्रो से तो उल्टे यह कहा जा सकता है कि—इन्होने जहाँ आशाधर के मंत्र थे वहाँ तो वे काम मे लिये है और जहाँ न थे वहाँ इन्होने अपनी तरफ से नये बना लिये है । सच तो यह है कि मंत्रो की यह अधिक भरमार ही इन अभिपेकपाठो को अर्वाचीन सिद्ध कर रही है ।

यह भी नही कह सकते कि—ये सभी मंत्र पीछे से ग्रंथ मे किसी ने जोड दिये है । क्योकि खुद ही इन देवनन्दि ने अपने इस अभिपेकपाठ मे मंत्र होने की विज्ञप्ति की है । यथा—

> निष्ठाप्यैवं जिनाना सवनविधिमनु प्राच्यंभूभागमन्यं
> पूर्वोक्तंमन्त्रयन्त्रैरिह भुवि विधिनाराधनापीठयन्त्रम् ॥ ३७ ॥

इसमे लिखा है कि—"इस प्रकार जिनाभिषेक की विधि को समाप्त

करके बाद मे पूर्वोक्त अभिषेक विधि मे कहे गये मत्र यंत्रो के द्वारा मंडल-पूजा के लिये अन्य भूभाग की पूजा करके यहाँ इस भूभाग मे विधि के साथ आराधनापीठ को रखकर ।"

अलावा इसके एकसधिभट्टारक भी इनमे लिखे मत्रो को ग्रहण करने का आदेश देते है। वे अपनी बनाई जिनसंहिता के मंत्रविधि नामक २०वें परिच्छेद के अन्त मे निम्न प्रकार लिखते हैं—

पूज्यपादगुणभद्रसूरिभिर्वज्रपाणिभिरपि प्रपूजितैं ।
मन्त्रवद्वचनमप्युदीरितं शस्यतेऽत्र सकलेऽपि कर्मणि ॥

अर्थ—पूज्यपाद गुणभद्र और इन्द्रनन्दि इन ग्रथकारो ने जो मंत्र वाक्य लिखे है वे सभी कर्म मे प्रशंसनीय है यानी उनका सब क्रियाओ मे उपयोग करना चाहिये।

इससे सिद्ध है कि एकसधि के वक्त मे भी इन अभिषेकपाठो मे मंत्र लिखे हुए थे। एकसधि का समय विक्रम सं० १३५० के करीब माना जा सकता है।

मुद्रित अभिषेकपाठसग्रह मे गुणभद्र के अभिषेक पाठ के साथ मत्रभाग नही छपा है। यह सम्पादक महोदय की कूटनीति का परिणाम है जो उनके सामने मत्रभाग वाली प्रतियाँ होते हुए भी उनकी अवहेलना की। पूजासार नाम के हस्तलिखित ग्रन्थ मे गुणभद्र का यह सारा का सारा पाठ आदि से अत तक ज्यो का त्यो उद्धृत है। उनमे वे सब मंत्र लिखे हुए है जो इन्द्रनन्दि और देवनदि के अभिषेकपाठो मे पाये जाते है। गुणभद्र के पाठ की मुद्रित प्रति मे तो मन्त्रभाग ही क्या बल्कि उसके कई स्थलो के कई श्लोक और गद्यभाग भी छपने से छूट गये है। इस संबध मे हम आगे लिखेगे।

३—आशाधर ने रसाभिषेक का वर्णन करते हुए इक्षुरस, खजूर-आँवला-नारियल-द्राक्ष आदि फलो का रस इन सबके संयुक्त रस से एक ही बार मे अभिषेक करने का विधान किया है। किन्तु देवनन्दि आदि उक्त

तीनों के पाठो मे इस तरह से रसाभिषेक करना नही बताया है। वहाँ नारियल का जल, इक्षुरस और आम्ररस इन तीनो के द्वारा क्रम से अलग-अलग अभिषेक करने का कथन किया है व रसो मे इन तीन ही का रस लिखा है, अन्य फलो का रस नही। तथा आशाधर ने कषायोदक से स्नान आरती के पहिले करना बताया है जब कि उक्त तीनो पाठो मे आरती के बाद कषायोदक से स्नान करने को कहा है। इस प्रकार देवनदि आदि तीनो के पाठो से आशाधर का कथन भिन्न पडता है। चूंकि आशाधर सोमदेव के बाद हुए है इसलिये आशाधर ने इस विषय मे सोमदेव का अनुसरण किया है यहाँ तक कि रसाभिषेक मे सोमदेव ने यशस्तिलक मे जिन-जिन फलो के नाम लिखे है वे ही नाम आशाधर ने भी लिख दिये है। अगर इन अभिषेकपाठो के कर्ता देवनन्दि और गुणभद्र प्राचीन होते तो इनमे जैसी और जिस क्रम से अभिषेकविधि बताई गई है वैसी ही आशाधरजी भी लिखते और वैसी ही सोमदेव भी।

४—देवनंदि के अभिषेक पाठ के पृष्ठ २ मे छपा "नीरजसे नम." आदि अष्टविधार्चन जिनसेन के आदिपुराण के समान है और उसी के पृष्ठ ४ मे छपा अष्टविधार्चन इद्रनंदि गुणभद्र के पाठो के अनुसार है। यदि यह अभिषेक पाठ प्राचीन देवनंदि कृत होता तो पृ० २ वाला अष्टविधार्चन ही इसमे लिखा मिलता। तब इससे यह समझा जाता कि इनका अनुसरण जिनसेन ने किया है किन्तु दो तरह का अष्टविधार्चन इसमे लिखा होने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस अभिषेक पाठ के कर्ता देवनंदि के सामने जिनसेन का अष्टविधार्चन और आधुनिक अष्टविधार्चन दोनो मौजूद थे।

५—देवनंदि के इस अभिपेक पाठ के प्रारभ के २ श्लोक गुणभद्र पाठ के है। क्योकि इंद्रवामदेव ने गुणभद्र पाठ की पंजिका लिखी है जो इसी संग्रह मे छपी है। उसमे इन दोनो श्लोको के भी कठिन शब्दों की व्याख्या की है। इससे देवनंदि का पाठ गुणभद्र के पाठ के बाद मे बना

सिद्ध होता है। इंद्रवामदेव का समय करीब विक्रम की १४वीं सदी का अन्त कहा जा सकता है। उस वक्त भी उक्त २ श्लोक गुणभद्र के पाठ में लिखे मिलते थे।

६—देवनंदि के इस पाठ के श्लोक ३८ मे तिथिदेव, ग्रह, यक्ष, यक्षी, द्वारपाल और लोकपाल इन देवों की आराधना का कथन किया गया है। बल्कि इस स्थल का सारा ही विधान इंद्रनंदि और गुणभद्र के पाठो से मिलता-जुलता है। यह पद्धति प्राचीन पूज्यपाद की आम्नाय से मेल नही खाती हैं। क्योकि इन्होने सर्वार्थसिद्धि के ६ वे अध्याय सूत्र ५ की टीका मे अर्हत आदि से अतिरिक्त देवो को पूजा को मिथ्यात्वक्रिया लिखी है—

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुकी प्रवृत्तिमिथ्यात्वक्रिया।"

अर्थ—जिनप्रतिमा, गुरु, जिनवाणी की पूजास्तुतिरूप सम्यक्त्व बढानेवाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया कहलाती है। और इनसे अतिरिक्त अन्य देवो की स्तुति करना मिथ्यात्वप्रवृत्ति की हेतुभूत मिथ्यात्वक्रिया कहलाती है।

यहाँ मै यह सूचित कर देना चाहता हूँ कि मुद्रित संग्रह मे इंद्रनंदि का अभिषेक पाठ भी पूरा नही छपा है। जितना छपा है उससे आगे का भी कितना ही अश पूजासार मे लिखा मिलता है।

७—ऊहापोह से देवनंदिके इस अभिषेक पाठ का रचना काल करीब विक्रम की १४वी सदी का प्रारभिक भाग पडता है। इस समय मे कोई देवनदि हुए भी है या नही अब इस पर विचार किया जाता है—

प० नेमिचद्र ने द्विसधान काव्य की टीका लिखी है। उसमें वे अपने गुरु देवनदिको विनयचद्र का शिष्य बताते हुए प्रणाम करते है और साथ ही त्रैलोक्यकीर्ति को भी प्रणाम करते है। इन्ही त्रैलोक्यकीर्तिका स्मरण इद्रवामदेव ने अपने बनाये त्रैलोक्यदीपक ग्रंथ मे किया है। ये

वामदेव संस्कृतभावसंग्रह की प्रशस्ति मे अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार देते है—वामदेव, लक्ष्मीचंद्र, त्रैलोक्यकीर्ति, विनयचंन्द्र । यानी त्रैलोक्य-कीर्ति वामदेव के दादागुरु लगते है । इन उल्लेखो से फलितार्थ निकलता है कि—उक्त विनयचंद्र के दो शिष्य थे देवनंदि और त्रैलोक्यकीर्ति । जिनमे देवनंदि के शिष्य नेमिचंद्र ने तो द्विसंधान काव्य की टीका बनाई और देवनंदि के गुरु भाई त्रैलोक्यकीर्ति के प्रशिष्य वामदेव ने भाव-संग्रहादि ग्रंथ बनाये । अपने गुरु देवनंदि के गुरुभाई होने के नाते त्रैलोक्यकीर्ति को भी नेमिचंद्र ने गुरुरूप से नमस्कार किया है । ये विनयचन्द्र कही वे ही तो नही है जिनको आशाधर ने धर्मशास्त्र पढाये थे और जिनकी प्रेरणा से आशाधर ने इष्टोपदेश की टीका और भूपाल चतुर्विंशतिका की टीका लिखी थी । अगर यह अनुमान ठीक हो तो विद्यागुरु की अपेक्षा इन देवनदि के आशाधर जी दादा गुरु कहे जा सकते है । वामदेव का समय विक्रम की १४वी सदी के अत के लगभग का अनुमान किया जा सकता है । चूँकि वामदेवकृत त्रैलोक्यदीपक ग्रंथ का लिपिकाल विक्रम स० १४३६ का मिलता है । वामदेव ने जो अपनी उक्त गुरु परंपरा दी है उसको देखते हुये विनयचद्र के शिष्य उक्त देवनदि का समय भी १४वी सदी का प्रारम्भिक भाग प्रतिभासित होता है । इससे यह नि सकोच कहा जा सकता है कि—विक्रम की १४ वी सदी के प्रारम्भ मे कोई देवनंदि अवश्य हुये है और संभवत प्रस्तुत अभिषेक पाठ के कर्ता भी शायद ये ही हो । चूँकि प्राचीन देवनदि आचार्य तो ऐसे निस्पृह थे जिहोने सर्वार्थ-सिद्धि, समाधिशतक आदि अपने किसी भी ग्रथ के अन्त मे अपना नाम किसी भी रूप मे व्यक्त नही किया है तब वे इस अभिषेक पाठ के अन्त मे हो भला अपना नाम क्यो देने लगेगे । इससे भी कह सकते है कि इस अभिषेक पाठ के कर्ता ये देवनदि कोई जुदे ही है और इनके इस अभिषेक पाठ का उल्लेख भी १४ वी सदीसे पूर्वके किसी भी ग्रथ मे नही मिलत । है ।

सिद्धिप्रियस्तोत्र भी इन अर्वाचीन देवनदि का ही बनाया हुआ हो सकता है। क्योकि काव्य की जो ललित छटा अभिषेक पाठ मे पाई जाती है वही सिद्धिप्रियस्तोत्र मे भी है और अभिषेक पाठ की तरह ही इसमे भी अन्त मे अपना नाम देवनंदि प्रकट किया है। तथा इन्होने ही २१ श्लोको मे 'मरुदेवी स्वप्नावली' लिखी है जो अनेकात वर्ष ५ किरण १-२ मे प्रकाशित हुई हैं।

इस अभिषेक पाठ के अन्तिम श्लोक के तीसरे चरण मे आया 'पूज्यपाद' वाक्य भगवान् का वाचक है। इसका प्रयोग ग्रन्थकार ने अपना नाम ध्वनित करने के अभिप्राय से नही किया है। ऐसा प्रयोग तो श्लोक ३३ मे भी किया है। जब कि चौथे चरण मे ग्रथकार ने अपना नाम साफ दे दिया तो फिर तीसरे चरण मे दुबारा नाम देने की आवश्यकता भी क्या रहती। 'ग्रन्थकार के दो नाम होने से दोनो नाम दिये गये, ऐसा कहना विकट कल्पना ही कही जायगी जिसका समर्थन प्राचीन पूज्यपाद के अन्य किसी ग्रन्थ से हो सकना सभव नही है। जहाँ वे अपना ग्रथात मे एक नाम ही नही देते वहाँ वे अपने दो नाम देगे यह कोई कैसे मान सकता है।

प्राचीन देवनदि की ख्याति पूज्यपाद नाम से भी थी इसीसे एकसंधि भट्टारक भी भूल स या ऐसे ही किसी गूढ अभिप्राय से इस अभिषेक पाठ के कर्ता देवनदि को पूज्यपाद नामसे लिख बैठे है और एकसधि की देखादेखी ऐसा ही अर्घपार्य और पूजासार के संग्रहकार ने लिख दिया है। त्रिभगीसारकी सोमदेवकृत लाटी टीका की प्रशस्ति मे 'पूज्यपाद' का सकेत मिलता है। हो सकता है इन देवनदि ने प्राचीन की तरह अपना भी 'पूज्यपाद' यह दूसरा नाम रखा हो या शिष्यभक्तो ने प्रसिद्ध कर दिया हो।

एकसधि का बनाया सिर्फ जिनसंहिता नामक एक ही ग्रन्थ मिलता है। इनकी अन्य कोई रचना देखने सुनने मे नही आई है। इनकी जिनसहिता

के प्रारम्भ मे इन्होने जितने परिच्छेदो की सूचना की है और उनके जो नाम लिखे है उनमे से अन्तिम परिच्छेदके सिवा बाकी सब इदानें उपलब्ध इनकी सहिता मे पाये जाते है। यह नही जान पडता कि इनकी गुरु परंपरा क्या थी। ग्रंथ के आदि मे भी इन्होने अपने किसी गुरु का नाम नही प्रकट किया है। इनका समय तो एक तरह से निश्चित ही है। इन्होने इंद्रनंदि का उल्लेख किया है और इन एकसंधि का उल्लेख विक्रम सं० १३७६ मे होने वाले अर्यपार्य ने किया है अतः ये एकसंधि, इन्द्रनंदि और अर्यपार्य के मध्य किसी समयमे हुये है, सभवतः इनका समय वि० सं० १३५० के करीब का हो सकता है। ये कोई प्रामाणिक ग्रन्थकार मालूम नही होते है। 'एकसंधि' यह नाम भी इनका अटपटा सा ही है। इनकी बनाई जिनसहिता के वास्तु आदि विषयक कई एक परिच्छेदो मे स्पष्टत. जैनेतर ग्रन्थो का अनुसरण पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर इसके २८वे परिच्छेद का निम्न श्लोक देखिये—

> आयामेन परित्यक्तं चतु शालं निकेतनम्।
> योग्य दानस्य विप्राणामपि पाखडिनामपि ।।४४।।

अर्थ—चार शाल का घर लंबाई रहित हो तो वह अशुभ है उसे ब्राह्मणो और साधुओ को दान कर देना चाहिये।

इसी तरह इसके ४०वे परिच्छेद मे नयनोन्मीलन विधि का ऐसा विलक्षण वर्णन है जो आशाधर आदि किसी के भी प्रतिष्ठा शास्त्रो मे नही पाया जाता है। यो तो एकसंधि अपने इस जिनसंहिता ग्रंथ की संधियो मे इसे आर्ष लिखते है और अपने आपको भगवत् शब्द से निर्देश करते है। यही क्यो ये तो इसकी उत्थानिका मे यहाँ तक लिखते है कि— "सहितावियषक व्याख्यान जो गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर सुनाया था वह अविच्छिन्न रूप से गुरु परम्परा से चला आ रहा था उसे ही मैने इस समय संक्षेपसे इस जिनसंहिता मे प्रकाशित किया है। यथा—

चराचरजगद्बन्धुस्ततस्तां जिनसंहिताम् ।
भगवान् गौतमस्वामी मागधं प्रत्यबूबुधत् ॥
तत. प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागता ।
सेयं मयाधुना साधु संक्षेपेण प्रकाश्यते ॥

इसी तरह इन्होने हर परिच्छेद के आदि मे राजा श्रेणिक को सम्बोधन कर विवेचन शुरू किया है। कहना न होगा कि जहाँ सैद्धान्तिक विषय की परम्परा ही विच्छिन्न हो गई वहाँ संहिता विषय की परम्परा गौतम-गणधर से लेकर आज तक अविच्छिन्न ही बनी रही यह एकसंधि के कहने मे ही कैसे मानने मे आ सकती है। ये सब लुभाने और स्वमंतव्यके प्रचार करने के तरीके है और इनमे कुछ तथ्य नही है।

यहाँ एक बड़े मजे की बात है कि—उत्थानिका का यह प्रकरण एकसंधिसंहिता, इद्रनन्दिसंहिता, पूजासार और कुमुदचद्रकृतप्रतिष्ठाकल्प-टिप्पण इन चारो ग्रन्थो मे एक समान पाया जाता है। "विज्ञानं विकलं यस्य ···" इत्यादि श्लोक से यह प्रकरण शुरू होता है। इस प्रकरण के खास रचयिता हमे इन्द्रनन्दि मालूम पडते है। यह प्रकरण इन्द्रनन्दिसहिता के शुरू मे ही है। पूजासार मे भी प्रारम्भ मे यह ज्यो का त्यो उद्धृत है जो इन्द्रनदि सहिता से लिया जान पडता है। एकसंधिसहिता मे शुरू मे एक श्लोक मङ्गलाचरण का नया बनाकर फिर इस प्रकरण को मामूली कही पाठ भेद करके अपना बना लिया है। किन्तु कुमुदचंद्र का रवैया कुछ और ही है वे प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण मे प्रारम्भिक श्लोक मे अपने को माघनन्दि का पुत्र बताते हुए 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' के रचने की प्रतिज्ञा करते है और इसी के आगे वही "विज्ञानं विमलं····" वाला प्रकरण ज्यों का त्यो लिख देते है। यही क्या इन्द्रनन्दिसहिता के कई एक प्रकरणो को भी इनने ज्यो के त्यो ले लिये है और ग्रन्थ का 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' यह नया नाम धर के आप उसके निर्माता बन बैठे है।

८—ऊपर के विवेचन मे यह दर्शाया गया है कि—देवनन्दि

आदि के अभिषेक पाठ पं० आशाधरजी के बाद विक्रम की १४वी सदी के प्रारम्भिक भाग में रचे गये है। इनके विरोध मे नं० ४० का शिलालेख पेश किया जा सकता है जिसमे पूज्यपाद द्वारा रचे गये एक जैनाभिषेक ग्रन्थ का उल्लेख है व जिस शिलालेख को विक्र० सं० १२२० के समय का बताया जाता है। नीचे हम इसी पर विचार करते हैं—

प्रथम तो शिलालेखानुसार कोई जैनाभिषेक ग्रन्थ प्राचीन पूज्यपाद रचित होना मान भी लिया जाये तो भी वह आज ही नही आशाधरजी के वक्त भी उपलब्ध न था और जो यह मुद्रित अभिषेकपाठ है वह तो कदापि शिलालेख मे उल्लिखित जैनाभिषेक नही हो सकता है।

दूसरे उक्त शिलालेख का हाल यह है कि—श्रवणबेलगोल के चंद्रगिरि पर जिस पाषाण स्तम्भ पर यह खुदा हुआ है वह स्तम्भ चार पहलू का है। जिसके एक पहलू पर तो ३९वें नम्बर का शिलालेख है और शेष तीन पहलुओ पर ४०वे नम्बर का शिलालेख है। इस प्रकार एक ही पाषाण स्तम्भ पर दो शिलालेख अंकित हैं। ३९वें नं० के शिलालेख मे प्रथम ही मंगलाचरण के बाद देवकीर्ति मुनि की विद्वत्ता का कीर्तन कर उनके स्वर्गवास का समय वि० सं० १२२० बताकर अन्त मे उनकी निषद्या की, उनके शिष्य लक्खनन्दि, माधवचंद्र और त्रिभुवनदेव ने प्रतिष्ठा की, ऐसा लिखा है। तथा ४०वें नं० के शिलालेख मे भी प्रथम ही मङ्गलाचरण के बाद उन्ही देवकीर्ति मुनि के पूर्व होने वाले अनेक आचार्यों की नामावली दी है जिसमे पूज्यपाद और उनके रचे जैनाभिषेक आदि शास्त्रो का भी उल्लेख किया है। अन्त मे फिर उन्ही लक्खनन्दि आदि द्वारा देवकीर्ति की निषद्या के प्रतिष्ठित होने की बात दुबारा कही गई है। साथ ही इनमे निषद्या के निर्माता रूप में हुल्लपमंत्री का नाम भी नया लिखा गया है। इन दोनों ही शिलालेखों में दुबारा मङ्गलाचरण होने और दोनों ही के अन्त मे निषद्या प्रतिष्ठित करने वालो के दुबारा नाम देने आदि से दोनो शिलालेख भिन्न-भिन्न और जुदे-जुदे समय के लिखे

सिद्ध होते है। शायद इसी से राइस साहब ने भी जो इन शिलालेखो के सग्रहकर्ता है इन दोनो के भिन्न-भिन्न नम्बर कायम किये ऐसा प्रतीत होता है। ३९वे शिलालेख की अपेक्षा ४०वे शिलालेख मे सिर्फ दो बाते विशेष है—आचार्यो की नामावली और हुल्लपमत्री के द्वारा निषद्या निर्माण। किन्तु आचार्यो की नामावली लिखना ही यदि इष्ट होता तो नामावली तो ३९वे न० के शिलालेख मे भी दी जा सकती थी। बात दर असल यो हो सकती है कि—उक्त स्तम्भ के ३ पहलुओ का स्थान खाली पडा था इसी की पूर्ति के लिए ३९वे नम्बर के शिलालेख के न जाने कितने समय बाद हुल्लपमत्री के किसी कुटुम्बी ने इस ४०वे न० के शिलालेखकी सृष्टि की होगी। अन्यथा एक ही वृत्तान्त के दो शिलालेख एक ही स्तभ पर लिखने का अन्य क्या कारण हो सकता है? ऐसी अवस्था मे यह अनुमान लगाना सहज ही है कि—३९वा शिलालेख ही देवकीर्ति के स्वर्गवास के अवसर का लिखा हो सकता है। ४० वा शिलालेख तो बाद मे न जाने कब लिखा गया है कुछ निश्चित नही है। इसलिए ४०वे शिलालेख मे उल्लिखित जिनाभिषेक को वि० स० १२२० के पूर्वका समझना भ्राति युक्त है। कुछ भी हो न० ४० के शिलालेख की स्थिति अवश्य ही सन्देह पूर्ण है। अत जब तक उनकी स्थिति साफ न हो जाये तब तक प्रस्तुत चर्चा मे उसका प्रमाण पेश करना निरर्थक है।

आगे हम गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ पर विचार करते है—

इसके विषय मे कितना ही विवरण तो ऊपर देवनदि के अभिषेक पाठ की चर्चा के शामिल मे लिखा जा चुका है। यहाँ खास इसी से सबधित चर्चा की जायेगी। प्रथम ही प० पन्नालाल जी सोनी ने जो इस गुणभद्र के अभिषेकपाठ के सपादन मे अधाधुन्धी बरती है और जिसके कारण इस ग्रन्थ की मिट्टी पलीद की है हम उसका यहा कुछ दिग्दर्शन करा देते है।

हस्तलिखित पूजासार मे चार अभिषेक पाठ उद्धृत है इनमें से एक यह भी है। उससे इस मुद्रित पाठ को मिलान करने से जाना जाता है कि यह अधूरा छपा है। कई स्थानो के पद्य व गद्य छूट गये है और इसका मंत्र भाग तो प्राय सारा का सारा छूटा हुआ है। इंद्रवामदेव ने जो इस पर पजिका टीका की है वह भी अभिषेक पाठ संग्रह के अन्त मे छपी हुई है उसमे कितने ही ऐसे शब्दो की व्याख्या है जो शब्द इस मुद्रित प्रति के पद्य गद्य मे कही भी नही है जबकि वे लिखित प्रति मे पाये जाते है। सपादक जी को भी जब वे शब्द मुद्रित पाठ मे नही मिले तो उन्होने उनमे से कुछ शब्दो को × इस चिह्न से अकित किया है। इससे स्पष्ट है कि यह अधूरा छापा गया है। आश्चर्य है कि इतना होते भी इसका खडित रूप सपादक जी के दिमाग मे प्रवेश न कर सका। जिस-जिस प्रसग के श्लोक छूटे है उनकी मोटे रूपमे यह तालिका है—

"भूमिशुद्धयर्थ अग्निज्वालन, भूम्यर्चन, कलशस्थापन, कलशार्चन, पीठदर्भस्थापन, प्रतिमास्पर्शन, जिनपादप्रक्षालन, पचगुरुमुद्रा, पाद्याचमन, मंगलद्रव्यावतरण के ७ श्लोक, पुष्पाजलि, जलादिप्रत्येक अभिषेक के बाद अर्घ चढाने के ११ श्लोक, गधोदक ग्रहण, मगलद्रव्यो से पूजा, पूजाभेद और पूजाफल।"

छूटे हुए गद्य भाग का विवरण इस प्रकार है—

श्लोक ८९ के आगे का "ओ ह्री क्रौ अर्हन् मम पापं खड" इत्यादि व "ओ निखिलभुवनभवनमंगलीभूत" इत्यादि तथा "ॐ नमोऽर्हते भगवते" इत्यादि। (मालूम रहे कि ये तीनो लबे गद्य अर्यपार्य के अभिषेक पाठ पृष्ठ २०९-३१० पर पूर्णत: छपे है। अर्यपार्य ने यह अश इसी गुणभद्र के अभिषेक पाठ से लिया है।) इन गद्यो के भी कुछ कठिन शब्दो की व्याख्या उक्त वामदेव की पंजिका मे पाई जाती है जिससे ये गद्य गुणभद्र कृत अभिषेक पाठ के ही है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। तथा श्लोक ९० के आगे भी गद्य है जिसका अर्थ इस प्रकार है—

"इस प्रकार अभिषेक विधि समाप्त करके नव देवो की आराधना-विधिका उपक्रम करते हुए पूर्वरीति के अनुसार पृथ्वी का शुद्धि-विधान करके उस पर रखे पीठ पर अष्टदल कमल को रचकर उसकी कर्णिका पर पुष्पाक्षतो को क्षेपण करते हुए अभिषेकार्थ आहूत देवो का विसर्जन करके उस कमल की कर्णिका व पत्तो पर नवदेवो की स्थापना कर आगे के ९१ आदि श्लोको को पढते हुए अष्टद्रव्य से पूजा करे !" तथा श्लोक १०० के आगे गद्य है जिसमे उक्त कमल को घेर कर पाँच मण्डलों मे ८२ देवो की स्थापना बताते हुए उनके नाम यो लिखे है—

१५ तिथि देव, ९ ग्रह, २४ यक्षियाँ, १० लोकपाल। फिर ६ देवो का स्थान जिन मदिर की भीतरी कक्षा मे बताया है। उनके नाम ये है—

"क्षेत्रपाल, श्रीदेवी, गंधर्व, किन्नर, प्रेत और भूत। इस प्रकार ८८ परिवार देवो की पूजा का निर्देश कर चैत्यादि तीन भक्ति व विसर्जन का कथन करके अन्त मे २ श्लोको मे पूजा के भेद और उनका फल बताया है।

इस प्रकार गुणभद्रकृत अभिषेक पाठ के जो स्थल मुद्रित प्रति मे अपने से छूट गये है उनकी प्राय उपरोक्त तालिका है। विधिविधान के अनेक मत्र छूट गये है वे इनसे जुदे ही है।

सोनीजी न केवल इसके संपादक है प्रत्युत संशोधक भी है। उनके संशोधन का भी जरा नमूना देखिये—

पृ० २० पर "ॐ अखंडितमुखाभिनवनूतनं स्मितार्द्रसिततंदुलैर्नमेरु-मंदारवत्सरोजदलचंपकप्रभृति पुष्पपूर्ण स्फुट भगवतोऽर्हतोऽवतारणं करोमि श्रियै" इसे गद्य रूप मे छापा है। चूँकि अशुद्ध होने से छंद बनता नही है इसलिये इसे गद्य समझ लिया है। किन्तु यह गद्य नही पद्य है और शुद्ध रूप मे वह इस प्रकार है—

अखण्डितमुखाभिनूतनसितार्द्रसत्तण्डुल,
स्फुटत्कमलचंपकप्रभृतिपुष्पपूर्णाञ्जले.।

प्रदक्षिणमहं द्विधा पदसरोजमामस्तकं,
पुरो भगवतोऽर्हतोऽवतरणं करोमि श्रियै ॥

इसी प्रकार मुद्रित ग्रंथ मे अन्य अनेक अशुद्धियाँ भरी पडी हैं जिनका उल्लेख विस्तार भय से छोडा जाता है। यदि सोनीजी चाहते तो ग्रन्थ को कितनी ही अशुद्धियाँ तो पंजिका से भी शुद्ध की जा सकती थी किन्तु सोनीजी ने तो इतना सा श्रम भी करना उचित नही समझा। शुद्धाशुद्ध जैसी भी प्रति मिली उसकी वैसी ही नकल करके प्रेस मे दे दी गई। क्या यही सम्पादक संशोधक का कर्तव्य है ?

संपादक जी प्रस्तावना मे लिखते है जिसका आशय यह है कि 'दसवीं सदी मे होने वाले उत्तर पुराण के कर्ता गुणभद्र से लगाकर १४वी सदी तक गुणभद्र नाम के किसी आचार्य का इतिहास मे कही पता नही लगता हैं और यह निश्चित है कि गुणभद्रकृत इस अभिषेक पाठका समय १४वीं सदीके भीतर भीतर है। ऐसी अवस्थामे यह अभिषेक पाठ उन्हीं गुणभद्र का बनाया हुआ हो सकता है जो उत्तरपुराणके कर्ता और आचार्य जिनसेनके शिष्य थे।"

यह भी सब सोनीजी की अटकलू बाते है। इन्हे जानना चाहिये कि पं० सोमदेवने एक त्रिभगीसार की टीका लिखी है। उसकी प्रशस्तिमे वे गुणभद्रसूरिको नमस्कार करते है और वही शिवाशाधरका भी उल्लेख करते हैं। इससे ऐसा आभास होता है कि ये गुणभद्र शायद १४वीं सदी मे हुए हैं और सभवतः यही इस अभिषेक पाठ के कर्ता हो ? या और कोई गुणभद्र भी १४वी सदी मे हो सकते है। इतिहास का क्षेत्र विस्तृत है, इंद्रियातीत है और एक नामके अनेक भिन्न-भिन्न ग्रन्थकर्ता भूतकाल मे हो चुके हैं। अतः छद्मस्थ, सबल प्रमाणोके बिना कोई निश्चित बात नही कह सकता है।

उसी प्रशस्तिमे सोमदेवने अपनेको प्रतिष्ठाचार्य भी लिखा है। प्रतिष्ठाविधि का ज्ञान इन्होने अपने गुरु गुणभद्र से ही प्राप्त किया होगा।

इससे इन गुणभद्र का क्रियाकाडी विद्वान् होना पाया जाता है और इससे इनके द्वारा अभिषेक पाठ का रचा जाना संभव माना जा सकता है ।

सपादक जी ने इसके कर्ता को प्राचीन गुणभद्र बनानेके लिये दूसरी युक्ति यह दी है कि "इनके नामके साथ गणभृत् शब्द लगा हुआ है इससे ये कोई बडे आचार्य है ।" उत्तर मे लिखना है कि–प्रथम तो उत्तरपुराणके कर्ता गुणभद्र की किसी भी रचना मे इनके नाम के साथ गणभृत् शब्द लगा नही देखा जाता है और न इस नाम से इनकी कोई ख्याति ही है । दूसरे गणभृत् के पर्यायनाम गणी, गणाधिप, गणप, ऐसे शब्दोका प्रयोग भट्टारक भी अपने नाम के साथ करते है । देखिये शुभचन्द्र भट्टारक ने प्राकृत व्याकरण की स्वोपज्ञचिन्तामणि वृत्ति की प्रशस्ति मे अपने को गणप और अपने गुरु विजयकीर्ति को गणी लिखा है । यथा—

"विजयकीर्तियतिर्जगता गुरुर्गरिमगीर्मुदितागिगणो गणी ।"

"श्रीमच्छुभेन्दुगणपो गुणिगेयकीर्तिश्चिंतामणि विशदशब्दमयं चकार ।"

तीसरी युक्ति इसके प्राचीन होने मे संपादक जी यह देते है कि— इसका निम्न श्लोक आशाधर के सागारधर्मामृत मे उक्तं च रूप से पाया जाता है—

निस्तुषनिर्वणनिर्मलजलार्द्रशालेयधवलतन्दुलैर्लिखिते ।
श्रीकाम· श्रीनाथ श्रीवर्णे स्थापयामि जिनम् ।। ३१ ।।

इसलिये यह पद्य आशाधर के पूर्व का तो सिद्ध ही है । इसे संपादकजी ने अपनी सबसे बडी युक्ति समझी है । इसका भी हम यहाँ भंडाफोड कर देते है । गुणभद्र के मुद्रित अभिषेक पाठ मे जो आपने उक्त श्लोक जिस रूप मे प्रकाशित किया है वह लिखित प्रति मे उस रूप मे लिखा नही मिलता है । वह लिखित प्रति मे निम्न प्रकार है—

निस्तुपनिर्व्रणनिर्मलजलार्द्रशालेयतदुलै· श्रीवर्णम् ।
विलिखामि श्रीपीठे त्रिलोकनाथस्य केवलिश्रीभर्तु· ।।

इसमे सिंहासन पर गीले चावलों से श्रीवर्ण लिखने को कहा है। इसके आगे के "जिनराजप्रतिबिंबं......." श्लोक मे जिनप्रतिमा को स्पर्श करनेको कहा है। यह श्लोक मुद्रित मे नही है, लिखित प्रति मे है। फिर आगे के "द्वीपे नदीश्वराख्ये....." श्लोक मे जिनप्रतिमा को बेदी पर से उठा लाने को कहा है। इसका भी आगे का श्लोक लिखित प्रति मे यह है—

प्रणमदखिलामरेश्वरमणिमुकुटतटाशुखचितचरणाब्जं ॥
श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयामि जिनं ॥

इसमे भगवान् को श्रीवर्ण पर विराजमान करने को कहा है।

इस प्रकार मुद्रित प्रति में जो ऊपर लिखा ३१वाँ श्लोक छपा है इसके दो अर्द्ध अर्द्ध भाग अन्य दो अर्द्ध भागके साथ लिखित प्रति मे अलग अलग दो स्थानो मे पाये जाते है। और लिखित प्रति के ये अवतरण बिल्कुल सुसंगत मालूम पडते है। उदगाँवसे बहुत पहिले एक पूजापाठ प्रकाशित हुआ था जिसमे आशाधर विरचित थोडे से पाठ है बाकी सब पाठ अन्य रचित होते भी उसका 'आशाधर विरचित पूजा पाठ' ऐसा नाम प्रकट किया गया है। उसमे भी ये श्लोक लिखित प्रति के अनुसार ही पाये जाते है। इससे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि— मुद्रित प्रति का १३ वाँ श्लोक कतई गुणभद्र के अभिषेक पाठ का नही है। हाँ वह आशाधर के समकाल या पूर्व के किसी पूजापाठ का हो सकता है इसी से आशाधर ने इसे सागारधर्मामृत मे उक्तं च रूप से उद्धृत किया है। किन्तु प्रस्तुत गुणभद्र के अभिषेक पाठ का तो वह हरगिज भी नही है। बल्कि ऐसी परिस्थिति मे उल्टे यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि इन गुणभद्र के सामने सागारधर्मामृत का वह उक्तचं श्लोक मौजूद था जिसे गुणभद्र ने ही उसके पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध मे अपनी रचना जोडकर दो अलग अलग स्थानों मे अपनाया है।

इस प्रकार इसको प्राचीन सिद्ध करने के लिए सम्पादक जी ने जो प्रमाण पेश किये है उन पर विचार करने से ये निःसार सिद्ध होते है ।

यह भी विचार करने की चीज है कि इसमे अभिषेक समाप्ति के बाद मंडल पूजा मे जिन तिथि, ग्रह, यक्ष, दिग्पालादि ८८ परिवार देवोंकी आराधना का कथन किया है जैसा कि ऊपर लिखा गया है वैसा कथन इंद्रनंदि, देवनंदि आदि के अभिषेक पाठो मे भी पाया जाता है किन्तु ऐसी आम्नाय प्राचीन गुणभद्राचार्य की प्रतीत नहीं होती। क्योकि उन्होने या उनके गुरु आचार्य जिनसेन ने इन देवो का कही भी उल्लेख नही किया है बल्कि गुणभद्र स्वामी ने तो उल्टे उत्तर-पुराण के चंद्रप्रभचरित्र श्लोक १०२ मे १०९ तक दिग्पालो को दिशाओ की रक्षा करने मे असमर्थ बताते हुए इनकी सृष्टि करने वाले को महा मूर्ख बताया है। यदि ऐसी आम्नाय प्राचीन देवनन्दि की होती तो वे भी सर्वार्थसिद्धि के चौथे अध्याय मे जो खासतौर से देवगति के कथन से सम्बन्ध रखता है इन यक्ष यक्षी दिग्पाल तिथि देवो का कथन करते किन्तु इन्होने तो कही इनके नाम तक भी नही लिखे है। इससे जान पडता है कि ये सब देव काल्पनिक हैं और इनका कथन प्राचीन मूल सघ मे नही था।

अलावा इसके इस गुणभद्र के अभिषेक पाठ मे दश मगल द्रव्यो की आरती का कथन करते हुये एक आरती सुगधित चूर्ण की लिखी हैं ऐसा ही कथन इद्रनदि ने भी किया है किन्तु आशाधर ने इस जाति की आरती का कथन नही किया है। अगर यह कृति प्राचीन गुणभद्र कृत होती तो आशाधर जी भी तदनुसार कथन अवश्य करते।

जबकि आशाधर के ग्रन्थो के पद्य गुणभद्र के इस अभिषेक पाठ में पाये जाते है तब यह नि सदेह कहा जा सकता है कि अवश्य ही यह गुणभद्र का अभिषेक पाठ आशाधर के बाद का बना हुआ है। जैसा कि निम्न-लिखित अवतरणो से प्रकट है—

"यः श्रीमदैरावणवाहनेन........" इत्यादि ८ श्लोक आशाधर के नित्यमहोद्योत में नम्बर ६४ से ७१ तक पाये जाते हैं। ये ही श्लोक आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार पत्र ९३ मे भी लिखे मिलते है अतः निश्चित है कि ये आशाधर के ही रचे हुए है किन्तु ये ही आठों श्लोक गुणभद्र के अभिषेक पाठ मे भी नं० २२ से ३० तक ज्यो के त्यो पाये जाते हैं। यह भी नहीं कह सकते कि वर्तमान मे उपलब्ध लिखित प्रतियों में ये प्रक्षिप्त हो गये है क्योकि वामदेव ने इन श्लोकों के बाबत इसकी पंजिका में लिखा है कि "इन ८ श्लोकों के विषम पदो की व्याख्या प्रतिष्ठा ग्रंथ मे की जाने की वजह से यहाँ व्याख्या नही की जाती" (देखो पृ० ३७५) इससे सिद्ध है कि इस गुणभद्र के अभिषेक पाठ की ऐसी प्रति वामदेव के वक्त भी मौजूद थी जिसमे आशाधरके बनाये उक्त ८ श्लोक लिखे मिलते थे।

वामदेव ने भी कोई प्रतिष्ठाविषयक ग्रंथ बनाया जान पड़ता है। जिसका उल्लेख उन्होने त्रैलोक्यप्रदीप की प्रशस्ति मे भी किया है। प० वामदेव का समय करीब विक्रम सं० १४०० है। वामदेव ने उक्त पंजिका के पृ० ३८१ पर "शश्वत्, चंद्रबलाबल, सत्कृत्य, उपाहिता, प्राप्नुत, और व्यंक्त च" इन शब्दो की व्याख्या की है। किन्तु इन शब्दो वाला कोई पद्य उपलब्ध गुणभद्र के अभिषेक पाठ मे मिलता नही है तथापि ऐसे पद्य वाली प्रति भी वामदेव के समक्ष थी वह पद्य भी आशाधर का रचा हुआ है जो प्रतिष्ठासारोद्धार के पत्र ३१ पर पाया जाता है। यथा—

> एते सप्तधनुःप्रमाणवपुरुत्सेधा नवापि ग्रहाः।
> शश्वच्चन्द्रबलाबलाप्यसदसद्दानस्फुरद्विक्रमा.॥
> सत्कृत्योपहितामिमामिह महे पूर्णाहुतिं प्राप्नुत।
> प्रीतिं व्यंक्त च यष्टृयाजकनृपादीष्टप्रदानाद् द्रुतम्॥

कुछ श्लोक गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ मे ऐसे भी पाये जाते है जिनमें आशय आशाधरकृत अभिषेकपाठ से लिया गया है। उसकी तालिका निम्न प्रकार है—

आशाधरकृत अभिषेकपाठ के—	गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ के—
श्लोक ३५ वा	श्लोक १८ वा
८० वा	३६ वा
११२ वा	६५ के आगे का गद्य
१२४ वा	८१ के पूर्व का गद्य
१२८ वा	८६ वा का पूर्वार्द्ध
१३० वा	८८ ,,

अर्थ की यह समानता आकस्मिक नही हो सकती है, जरूर ही गुण-भद्र के सामने आशाधर का अभिषेकपाठ उपस्थित था।

"आशाधर ने ही गुणभद्र का अनुमरण किया हो" ऐसी सम्भावना इसलिए नही की जा सकती कि गुणभद्र ने आशाधर के पद्यो को भी तो ज्यो के त्यो अपनाये है। इसलिए आशाधर ही पूर्ववर्ती हो सकता है, गुणभद्र नही।

●

त्रिवर्णाचारों और संहिता ग्रन्थों का इतिहास

दिगम्बर जैन धर्म मे इस प्रकार के साहित्य मे बहुतेरे क्रियाकाड वैदिकधर्म के घुस आये है। यह बात श्री प० जुगुलकिशोर जी मुख्तार के त्रिवर्णाचारो पर लिखे हुए परीक्षा लेखो से भी खूब स्पष्ट हो चुकी है। ऐसे ग्रन्थो का निर्माण दि० जैन धर्म मे सबसे प्रथम कब से शुरू हुआ और किनने किया ? इस पर जब हम विचार करते है तो हमारी दृष्टि विक्रम की १४वी सदी मे होने वाले गोविन्दभट्ट और उनके वशजो पर जाती है। गोविदभट्ट स्वय पहिले वत्सगोत्री वैदिक ब्राह्मण था, समतभद्र के देवागमस्तोत्र के प्रभाव से वह जैन हो गया था। उसका पुत्र हस्तिमल्ल हुआ जिसने सस्कृत मे विक्रान्त कौरव आदि जैन नाटको की रचना की है। इन्होने ही सस्कृत मे एक प्रतिष्ठाग्रथ भी बनाया है, जिसकी प्रशस्ति जैन सिद्धात भास्कर भाग ५ किरण १ मे प्रकाशित हुई है। हस्तिमल्लका समय विक्रम की १४वी सदी का पूर्वार्द्ध निश्चित है। ये गृहस्थी थे। इन्ही के समय मे इन्द्रनदि हुए है, जिन्होने इद्रनदि सहिता नाम का एक ग्रन्थ रचा है। इस सहिता का परिचय करीब २५ वर्ष पहिले जैन बोधक वर्ष ५१ अक १०-११ मे निकला था। उसके अनुसार यह सहिता ११ परिच्छेदो मे कोई डेढ हजार श्लोक प्रमाण है। हमारे देखने मे इसकी एक अधूरी प्रति आई है, जिसमे पूरे ७ परिच्छेद भी नही थे। इसी अधूरी प्रति के आधार पर प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। इस सहिता मे शौचाचार, आचमन तिलक विधि, स्पृश्यास्पृश्यव्यवस्था, जाति निर्णय, शूद्रो के भेदोपभेद, वर्णसकर सतानसज्ञा, सूतक पातक, कुछ दायभाग, गर्भाधानादि षोडश सस्कार, हवन, सध्या, गोत्रोत्पत्ति, मृत्युभोज, गोदान, पिड दान और तर्पण आदि कई विषयो का वर्णन है। इनमे से कितना ही कथन साफ तौर पर वैदिक धर्म से लिया गया प्रतीत होता है।

इस सहिता मे आशाधर कृत "सिद्ध भक्ति पाठ" पाया जाता है और इसी सहिता के तीसरे परिच्छेद के उपात मे "न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् " यह पद्य भी पाया जाता है जो आशाधर के सागारधर्मामृत का है। इससे इस सहिता के कर्ता इद्रनदि का समय आशाधर के बाद का सिद्ध होता है। इस सहिता के तीसरे परिच्छेद मे गोत्रोत्पत्ति का कथन करते हुए ऐसा लिखा है—

पुष्पदत उमास्वातिरिन्द्रनदीति विश्रुता ।
वसुनदिस्तथा हस्तिमल्लाख्यो वीरसेनक ॥

इस श्लोक मे प्रयुक्त हस्तिमल्ल के उल्लेख से हस्तिमल्ल के बाद या हस्तिमल्ल के समय मे इद्रनदि हुए, ऐसा कहा जा सकता है। और ये दोनो आशाधर के बाद हुए यह भी प्रकट है। आशाधर का आखिरी समय विक्रम स० तेरह सौ करीब ह। विक्रम स० १३७६ मे निर्मापित अयपार्य के प्रतिष्ठा पाठ मे इद्रनदि व हस्तिमल्ल का उल्लेख हुआ है अत इनका समय १४वी शताब्दि का प्रथम-द्वितीय चरण सिद्ध होता है। यह समय आशाधर के कुछ ही बाद पडता है।

इद्रनदि ने उक्त सहिता के तीसरे परिच्छेद मे भरद्वाज, आत्रेय, वशिष्ठ और कण्व आदि नाम गोत्र प्रवर्तको के बताये है। ये नाम वैदिकऋषियो के है। इससे मालूम होता है कि—इद्रनदि भी पहिले कोई शायद वैदिक ब्राह्मण ही हो और गोविदभट्ट की तरह ये भी फिर जैन हुए हो। कुछ भी हो हस्तिमल्ल के साथ इनका कोई सपर्क अवश्य रहा है। इद्रनदि यह नाम इनका दीक्षा-नाम जान पडता है। पूर्व मे वैदिक ब्राह्मण होने के कारण ही इन्होने सहिता मे कितना ही विषय ब्राह्मणधम का भर दिया है। सभव है इसकी रचना मे हस्तिमल्ल का भी हाथ रहा हो।

क्रियाकाडी साहित्य के दो अग है—एक प्रतिष्ठा ग्रन्थ और दूसरा त्रिवर्णाचार ग्रथ। ऐसा लगता है कि दिग० जैनधर्म मे प्रतिष्ठा ग्रन्थो के निर्माण का आधार प्राय आशाधर का प्रतिष्ठा पाठ रहा है और त्रिवर्णाचार

ग्रन्थों के निर्माण का आधार इंद्रनंदि संहिता रही है । इस संहिता में त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठा दोनों ही विषयो का प्रतिपादन किया है ।

विक्रम सं० १३७६ मे होने वाले अर्यपार्य ने एकसंधि का भी उल्लेख किया है अतः एक संधि भी इंद्रनंदि के समय मे या इनसे कुछ ही बाद हुए जान पडते है । इंद्रनंदि संहिता का सबसे प्रथम अनुसरण इन्होने ही किया है । तदुपरात अर्यपार्य के द्वारा आशाधर, इंद्रनंदि, हस्तिमल्ल और एक-संधि के अनुसार प्रतिष्ठा ग्रन्थ रचा गया है । ये अर्यपार्य भी गोविंदभट्ट के ही वंश के है, ऐसा ये खुद लिखते है ।

पूजासार नामके ग्रंथ मे भी जिसके कर्त्ता का पता नही है, इंद्रनंदि सहिता का कितना ही अंश ज्यों का त्यो भरा पडा है । यह ग्रन्थ अनुमानतः १५वी सदी का हो सकता है ।

विद्यानुवाद नाम के ग्रन्थ जिसके संग्रहकर्त्ता कोई मतिसागर नाम के विद्वान् हुये है, मे भी कितना ही अंश इद्रनंदि संहिता का पाया जाता है । उसमे एक जगह हस्तिमल्ल के नाम से भी गणधरवलय मंत्र का समावेश किया है । उसी मे पूजासार का भी उल्लेख हुआ है । वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ की उत्थानिका मे जिन ग्रन्थो के आधार पर ग्रथ बनाने की प्रतिज्ञा की है उनमे विद्यानुवाद का भी नाम है । वह विद्यानुवाद संभवत यही हो सकता है ।

''भावशर्मा ने अभिषेक पाठ की टीका विक्रम सं० १५६० मे बनाई'' ऐसा राजस्थान ग्रंथ सूची द्वि० भाग के पृष्ठ १४ मे लिखा है । इस टीका मे भावशर्मा ने वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ का उल्लेख किया है और आमेर शास्त्र भंडार की सूची के पृष्ठ १९३ मे वसुनदि प्रतिष्ठा पाठ का लिपिकाल सं० १५१७ दिया है । यह लिपिकाल यदि सही हो तो इस वसुनंदि का समय भी अनुमानत. १५वी सदी माना जा सकता है । वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ मे कितने ही पद्य आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पाये जाते है, इससे वह आशाधर के बाद का तो स्पष्ट ही है ।

इस तरह पूजासार, विद्यानुवाद और वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ इन तीनों का समय करीब-करीब आस-पास का ही जान पडता है।

वामदेव ने भी कोई प्रतिष्ठा ग्रन्थ लिखा दिखता है। अपने इस प्रतिष्ठा पाठ का उल्लेख वामदेव ने अभिषेक पाठ की टीका मे किया है। (देखो मुद्रित अभिषेक पाठ संग्रह) वामदेव का समय अर्यपार्य के आस-पास का, १४वी शताब्दी है।

कुमुदचद्र कृत "प्रतिष्ठा कल्प टिप्पण" नामक ग्रन्थ भी सुना जाता है, जिसके कुछ उद्धरण हमारे देखने मे आये, उससे ज्ञात होता है कि वह इंद्रनदि सहिता की नकलमात्र है।

ब्रह्मसूरि ने प्रतिष्ठा ग्रथ ही नही त्रिवर्णाचार ग्रंथ भी लिखा है। सोमसेन के त्रिवर्णाचार मे कितना ही वर्णन ब्रह्मसूरि के उल्लेख से किया गया है। वास्तव मे वह वर्णन ज्यो का त्यो इन्द्रनन्दि संहिता मे पाया जाता है। इसमे जान पडता है—ब्रह्मसूरि ने इन्द्रनन्दि संहिता से लिया और सोमसेन ने ब्रह्मसूरि के त्रिवर्णाचार से। सोमसेन का समय विक्रम स० १६६० निश्चित है।

अलावा इसके एक प्रतिष्ठातिलक नाम का ग्रंथ नेमिचन्द्र कृत है जो छप भी चुका है। उसके देखने से मालूम होता है कि वह अर्धश. अधिकांश मे हूबहू आशाधर प्रतिष्ठा पाठ की नकल है, भले ही उसके कर्ता ने कहीं आशाधर का उल्लेख नही किया है। इसकी प्रशस्ति से पाया जाता है कि ये नेमिचन्द्र भी हस्तिमल्ल के ही वश मे हुए है और रिश्ते मे उक्त ब्रह्मसूरि के भानजे लगते है। ये गृहस्थ थे। इन्होंने जो प्रशस्ति मे अपनी वशावली दी है उसकी गणनानुसार इनका समय १६वी शताब्दी हो सकता है। और यही समय ब्रह्मसूरि का भी समझना चाहिये।

तदुपरान्त अकलक प्रतिष्ठा पाठ का नंबर आता है। इसका निर्माण ब्रह्मसूरि के बाद मे हुआ है।

एक जिससेन त्रिवर्णाचार भी है वह सोमसेन त्रिवर्णाचार के बाद उसकी छाया लेकर बना है।

इस तरह त्रिवर्णाचारो और प्रतिष्ठा पाठो के रचे जाने का यह इतिहास है। इससे जाना जा सकता है कि इन त्रिवर्णाचारोकी परम्परा जहाँ से शुरू होती है वे पहिले वैदिक ब्राह्मण थे बाद मे जैन होकर उन्होने क्रियाकाडी साहित्य की रचना की। पूर्व सस्कार और परिस्थिति वश उनको उसमे कितना ही कथन ब्राह्मण धर्म जैसा करना पडा है। यह परपरा आज से कोई सात सौ वर्ष पहिले से चालू हुई है। और प्रतिष्ठा ग्रथो की परपरा भी प्राय आशाधर को आधार बनाकर यही से शुरू हुई है। इस प्रकार के साहित्य की परम्परा का उदगम आशाधर और उसके समय के आस-पास होने वाले हस्तिमल्ल, इद्रनन्दि, एकसधि आदि मे हुआ जान पडता है।

यहाँ खास ध्यान मे रखने की बात यह है कि–हमारे यहाँ इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, माघनन्दि, नेमिचद, अकलक, जिनसेन आदि नाम वाले प्राचीन और प्रामाणिक आचार्य हुये हैं। वैसे ही नाम वाले अर्वाचीन ग्रथकार भी हुये है। अत नामसाम्य के चक्कर मे पडकर उनको एक ही नही समझ लेना चाहिये। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि—एक ही नाम और एक ही समय मे होकर भी व्यक्ति भिन्न-भिन्न रहे है, जैसे आदिपुराण और हरिवश-पुराण के कर्ता जिनसेन। इस तरह से अन्य भी ग्रथकार हो सकते है।

जीवराज जैन ग्रथमाला सोलापुर से प्रकाशित "भट्टारक सम्प्रदाय" पुस्तक के पृ० २५२ पर पट्टावली का लेख छपा है जिसमे लिखा है कि— "पद्मसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन ने कुछ विद्या के गर्व से उत्सूत्रप्ररूपण करने के कारण आशाधर को अपने गच्छ से निकाल दिया तो वह कदाग्रही श्रेणीगच्छ मे चला गया। वह लेख यो है—

"तदन्वये श्रीमत् वाटवर्गट प्रभाव श्री पद्म-सेनदेवाना तस्य शिष्य श्री

नरेन्द्रसेनदेवै किंचिद्विद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशाधर स्वगच्छान्निस्सारित कदाग्रहग्रस्त श्रेणिगच्छमशिश्रियत ।''

आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ मे कई ऐसे देवी देवताओ के नाम उनके विचित्र रूप व उनकी आराधना करने का कथन किया है जिनके नाम तक करणानुयोगी ग्रन्थो मे नही मिलते है। वैसा वणन साफ तौर पर कपोल कल्पित नजर आता है। सम्भव है आशाधर के ऐसे ही कथनो को लेकर नरेन्द्रसेन ने आशाधर का बहिष्कार किया हो। इति।

●

क्या ऋषि मंडल स्तोत्र दिगम्बर परम्परा का है

करीब २५ वर्ष पहिले गुणनन्दि कृत ऋषि-मण्डल यंत्र पूजा संस्कृत की भाषा टीका करके उसे पं० मनोहरलालजी शास्त्री ने बम्बई से प्रकाशित की थी। उसके बाद इसका दूसरा सस्करण जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुआ था जो आज भी मिलता है। इस दूसरे संस्करण मे विद्याभूषण सूरि विरचित 'ऋषिमंडल कल्प' नामक संस्कृत पाठ भी साथ मे दिया गया है जो प्रथम संस्करण मे नही था। अब वही पुस्तक उन्ही विद्याभूषण और गुणनन्दिकृत संस्कृत के उक्त दोनों पाठो के साथ ब्र० पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थ रचित हिंदी पद्यों सहित 'श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था महावीरजी' से बृहदाकार मे प्रकाशित हुई है। यह वही संस्था है जो पहिले कलकत्ते मे 'भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था' के नाम से चलती थी। अस्तु।

हम पाठकों को प्रस्तुत लेख मे यह बतलाना चाहते है कि गुणनन्दि-कृत ऋषि मण्डल यन्त्र पूजा पुस्तक का आदिसे अन्त तक सब अंश गुण-नन्दिकृत नही है। 'अथात. ऋषिमण्डलस्तोत्रं पठेत्' ऐसा लिखकर जो पुस्तक मे ऋषिमण्डलस्तोत्र पढने की सूचना दी है उसके आगे 'आद्यन्ताक्षर संलक्ष्य' से शुरू करके अन्त मे 'पदं प्राप्नोति विस्रस्तं परमानंदसंपदा।' लिखा गया है यह सब स्तोत्रपाठ गुणनन्दि कृत नही है। गुणनन्दि ने तो सिर्फ इसकी पूजा का भाग ही बनाया है। इसलिये इस स्तोत्र पाठ के श्लोकों के क्रमिक नम्बर भी पुस्तक मे अलग दिये गये हैं। चूँकि यह पाठ विद्यानुशासन मे भी पाया जाता है वहाँ भी इसका केवल स्तोत्र पाठ ही लिखा हुआ है—पूजा भाग नही। अगर स्तोत्र व पूजा भाग दोनों अकेले गुणनन्दि की कृति होते तो विद्यानुशासन मे वह सारा का सारा पाया

जाना चाहिये था। अलावा इसके विद्यानुशासन का संकलन सम्भवतः गुणनन्दि से करीब १ शताब्दी पूर्व हो चुका था। पर च विद्याभूषण ने जो 'ऋषि मण्डल मन्त्र कल्प' बनाया है जिसकी चर्चा ऊपर हुई है। ये विद्याभूषण गुणनन्दि के बाद हुए हैं। इन्होने भी उक्त कल्प मे सिर्फ स्तोत्र ही का रूपातर किया है। इससे सहज ही यह जाना जा सकता है कि इसका स्तोत्र भाग अलग है और पूजा भाग की ही रचना गुणनन्दि ने की है, स्तोत्र तो पहिले ही से चला आ रहा था जिसके निर्माता कोई और ही है।

गुणनन्दि ने इसकी प्रशस्ति मे अपने को ज्ञानभूषण का शिष्य लिखा है। प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्ति के प्रशिष्य ज्ञानभूषण विक्रम सं० १५५० के आस-पास हुये है। "भट्टारकसम्प्रदाय" पुस्तक के पृ० १५४ मे लिखा है कि—इन ज्ञानभूषण के शिष्य नागचन्द्र और गुणनन्दि हुए, नागचन्द्र ने विषापहारस्तोत्र की टीका तथा गुणनन्दि ने ऋषिमण्डलपूजा बनाई।

उक्त विद्याभूषण का समय तो गुणनन्दि से भी बाद का है। ये विक्रम स० १६०४ के करीब हुए है और काष्ठासंघ की परम्परा मे हुए है। इनके बनाये ऋषिमण्डलस्तोत्र, चिन्तामणिपार्श्वनाथस्तवन आदि ग्रन्थ देहली के पचायती मंदिर मे है ऐसा वीरसेवामदिर से प्रकाशित जैनग्रन्थ प्रशस्तिसग्रह की प्रस्तावना के पृ० ४९ मे सूचित किया है।

ऋषिमण्डलस्तोत्र का प्रचार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो मे है। देखना यह है कि दरअसल दोनो मे से प्रथम यह किस की चीज रही है। इस पर हम यहाँ कुछ ऊहापोह करना चाहते है।

१—दिगम्बर सम्प्रदाय मे सिद्धचक्र, गणधरवलय आदि कई तरह के बीसो यत्रमण्डल मिलते है उनसे इसकी रचनाप्रणाली भिन्न जाति की प्रतीत होती है।

२—इसका उल्लेख विद्यानुशासन के पूर्ववर्ती इंद्रनदिसहिता, एकसधि-सहिता, पूजासार आदि क्रियाकाण्डी दिगम्बर साहित्य मे नही मिलता।

पूजासार मे जहाँ बीसो यन्त्रमण्डल लिखे है वहाँ इसको कतई स्थान नही दिया गया ।

३—आशाधर ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ मे जहाँ आचार्यादि की प्रतिष्ठा विधि लिखी है वहाँ वे गणधरवलय का तो प्रयोग करते है पर इस ऋषिमण्डल का नही ।

इससे कहा जा सकता है कि इस ऋषिमण्डल का आशाधर और उनके बाद आसपास होनेवाले हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि आदि के वक्त दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रवेश नही हो पाया था । यह दिगम्बर आम्नाय का न होने की वजह से ही नेमिचन्द्र प्रतिष्ठातिलक मे भी कही इसका उपयोग नही किया गया है ।

इस ऋषिमण्डलस्तोत्र के श्वेताम्बर होने मे खास प्रमाण यह भी है कि—इसमे तीर्थकरो का कायवर्ण श्वेताम्बरसम्मत लिखा हुआ है । प० आशाधरजी ने तीर्थकरो का कायवर्ण इस प्रकार बताया है—

सितौ चन्द्राकसुविधी श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ।
पद्मप्रभवासुपूज्यौ च रक्तौ मरकतप्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्वपार्श्वौ स्वर्णाभान् शेषाश्चालेखयेत् स्मरेत् ॥

—प्रतिष्ठासारोद्धार, अध्याय १

अर्थ—चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त का रग सफेद, नेमिनाथ मुनिसुव्रत का श्याम, पद्मप्रभ वासुपूज्य का लाल और सुपार्श्वनाथ व पार्श्वनाथ का रग मरकत यानी पन्ना जैसा हरा है । शेष तीर्थकरो का सुवर्ण के जैसा रंग है ।" ऐसा ही तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४, गाथा ५८८-५८९ मे कहा है । यह तो हुई दिगम्बर मान्यता । अब श्वेताम्बर मान्यता के लिये हेमचन्द्राचार्य का लिखा देखिये ।

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभपुष्पदन्तौ ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ श्रीमल्लिपार्श्वौ कनकत्विषोऽन्ये ॥४९॥

—अभिधानचिन्तामणिकोश प्र० काण्ड

यहाँ मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का रंग (विनील) गहरे नीले रंग का व सुपार्श्वनाथ का कनकवर्ण लिखा है। जबकि दिगम्बरमत मे मल्लिनाथ को कनकवर्ण के और पार्श्वनाथ सुपार्श्वनाथ को हरे रग के बताये है। इस प्रकार तीर्थकरो के कायवर्ण को लेकर दोनो मतो मे अन्तर मालूम पडता है। अब देखना यह है कि—इस ऋषिमण्डलस्तोत्र मे तीर्थंकरो का कायवर्ण किम मत का लिखा गया है।

ऋषिमण्डलस्तोत्र के श्लोक न० १३ मे लिखा है कि—"ह्रीं इस बीजाक्षर की ईकारमात्रा का रग विनील (विशेष नीला) किया जावे और इस पर इसी रग के तीर्थंकर के नाम के अक्षर लिखे जावें।" ऐसा निर्देश करके आगे श्लोक न० १५ मे ईकार मे पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ के नाम लिखने को कहा गया है। इस अर्थ के सूचक वाक्य ये है–

"शिर ई स्थित संलीनौ पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ।"

यहाँ स्पष्ट तौर पर मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का रग हेमचन्द्राचार्य के लिखे अनुसार विनील बतलाया गया है जो श्वेताम्बरमत का द्योतक है। ज्ञात हो कि जब यहाँ का कथन दिगम्बरमत के अनुकूल नही दीखा तो यहाँ के पाठ को बदल दिया है यानी "पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ" के स्थान मे "पार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" पाठ बना दिया है किन्तु बदले हुए पाठ मे डबल नाम पार्श्वनाथ का हो गया है। होना चाहिए सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के नाम, ऐमा करने के लिये "सुपार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" पाठ बनता तो छन्दभग हो जाता इसलिए लाचार बेतुका पाठ "पार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" बनाना पडा है। इससे नि संकोच कहा जा सकता है कि वास्तविक पाठ इसका अवश्य ही श्वेताम्बरसम्मत रहा है। आश्चर्य है कि विद्यानुशासन मे भी इस स्तोत्र का वही श्वेताम्बरसम्मत पाठ "पार्श्व-मल्ली जिनोत्तमौ" ही पाया जाता है और यही पाठ चर्चा-सागर मे है। और तो क्या स्वयं विद्याभूषण भी इस पाठ मे तबदीली करना नही चाहते

अत. वे भी स्वरचित ऋषिमण्डलस्तोत्र के २७वे श्लोक मे ह्रीं की ईकार मात्रा मे पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ ही की स्थापना का कथन करते है।

इत्यादि कारणों से यह ऋषिमण्डलस्तोत्र नि:संदेह श्वेताम्बरकृति जान पड़ता है।

विद्यानुशासन मे जिन प्रकरणों का संग्रह किया गया है उसकी शैली को देखते हुए यह समझना भूल होगा कि ऋषिमण्डलस्तोत्र का विद्यानुशासन मे लिखा मिलने से ही उसे दिगम्बरकृति मान लिया जावे। विद्यानुशासन तो ऐसा खिचडी ग्रन्थ है जिसमे रावणकृत बालग्रहचिकित्सा आदि जैनेतर प्रकरणो का भी संकलन किया है तो ऐसी हालत मे उसमे किसी श्वेताम्बर कृति का मिल जाना कौन बडी बात है। ।

●

भास्करनन्दि और श्रीपालसुत डड्ढा

श्रीमदुमास्वामि विरचित तत्त्वार्थसूत्र पर भास्करनन्दि ने सुखबोध नाम की सस्कृत मे एक टीका लिखी है। टीका सहित यह ग्रन्थ छप चुका है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे भास्करनन्दि ने अपने को जिनचन्द्र का शिष्य लिखा है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना मे शातिराजजी शास्त्री ने भास्करनन्दि का समय अनुमानत. क्रिस्तीय संवत् तेरह सौ का अन्तिम भाग बताया है। भास्करनन्दि का बनाया १०० श्लोक प्रमाण एक ध्यानस्तव नाम ग्रन्थ भी है जो भास्कर भाग १२ किरण २ मे प्रकाशित हुआ है, उसकी प्रशस्ति के भी अन्तिम ३ श्लोक प्राय वे ही है जो तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीका की प्रशस्ति मे लिखे मिलते है

भारतीय ज्ञानपीठ काशी से एक पचसग्रह नामक सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमे श्री सुमतिकीर्तिकृत सस्कृत टीका के साथ प्राकृत पचसग्रह छपा है। साथ ही मे श्रीपाल सुत डड्ढा कृत सस्कृत का पद्य पचसग्रह भी छपा है। इसकी प्रस्तावना मे प० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री ने डड्ढा का समय अनुमानत विक्रम की १७वी शताब्दी बताया है। शास्त्रीजी ने जिस आधार पर समय का यह अनुमान लगाया है, उनका वह आधार यह है कि "प्राकृत पचसग्रह की जो संस्कृत टीका विक्रम स० १६२० मे सुमतिकीर्ति ने बनाई है उसका प्रभाव श्री डड्ढा पर रहा है। यह बात उनके द्वारा दी गई सदृष्टियो मे अवश्य हृदय पर अकित होती है।"

किन्तु डड्ढा के इस समय पर पुन विचार किया जाना आवश्यक है। चूँकि भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीका मे डड्ढाकृत पचसग्रह के पद्य उद्धृत किये है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

द्विः कापोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा ।
नीलाकृष्णे च कृष्णातिकृष्णा रत्नप्रभादिषु ॥
॥१९८॥१—पंचसंग्रह

भास्करनन्दि ने इस पद्य को तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र की टीका मे उद्धृत किया है ।

लेश्या योगप्रवृत्ति स्यात्कषायोदयरंजिता ।
भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्यच्छवि षोढोभयी तु सा ॥१८४॥
षड्लेश्यागा मतेऽन्येषा ज्योतिष्का भौनभावना ।
कापोतमुद्गगोमूत्रवर्णलेश्या निलागिन ॥१९०॥१
लेश्याश्चतुर्षु षट् षट् च तिस्रस्तिस्र शुभास्त्रिषु ।
गुणस्थानेषु शुक्लैका षट्सु निर्लेश्यमन्तिमम् ॥१९५॥१
आद्यास्तिस्रोऽप्यपर्याप्तेष्वसख्येयाब्दजीविषु ।
लेश्या क्षायिकसदृष्टौ कापोता स्याज्जघन्यका ॥१९६॥
षण्नृतिर्यक्षु तिस्रोऽन्त्यास्तेऽवसख्याब्दजीविषु ।
एकाक्षविकलामज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रयं मतम् ॥१९७॥१

डड्ढाकृत पचमग्रह के इन सब पद्यो को भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ के सूत्र २ की टीका मे उद्धृत किया है। इनमे से १९०वां श्लोक को "तदुक्तं सिद्धान्तालापे" इन वाक्योके साथ उद्धृत किया है। डड्ढा ने भी इस श्लोक के आगे "इति सिद्धान्तालापे" ऐसा वाक्य प्रयोग किया है। यहाँ का गद्य भी दोनो मे एक समान है। अलावा इसके भास्करनन्दिने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र २२ की टीका मे भी डड्ढाकृत पंचमग्रह के दो पद्य उद्धृत किये हैं।

इन उद्धरणो से डड्ढा का समय भास्करनन्दि से पूर्व का सिद्ध होता है। अगर हम डड्ढा को विक्रम की १७वी शताब्दी का जैसा कि पं० हीरालालजी शास्त्री ने अनुमान किया है मान लेते है तो भास्करनन्दि का

समय १७वी शताब्दी से भी बाद मे जा पडता है। और जो भास्करनन्दि का समय १३वी शताब्दी मानते है तो डड्ढा का समय १३वी शताब्दी से भी पूर्व का सिद्ध होता है।

यहाँ यह भी विचारने की चीज है कि डड्ढा की तरह अमितगति ने भी संस्कृत पद्यो मे पचसंग्रह बनाया है। जब हम दोनो पंचसंग्रहो को आमने सामने रखकर देखते है तो ऐसा आभास होता है कि डड्ढा के पंचसंग्रह मे कितने ही ऐसे पद्य मिलते है जो अमितगतिके पंचसग्रह के पद्यो को कुछ हेरफेर करके बनाये हो, प० आशाधर जी ने अमितगति के पंचसंग्रह और अमितगति के श्रावकाचार का अपने बनाये अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत मे खूब उपयोग किया है। किन्तु आशाधर जी ने डड्ढाकृत पंचसंग्रह का कोई भी पद्य कही भी उद्धृत नही किया है। इससे ऐसा लगता है कि डड्ढा के पंचसंग्रह का निर्माण आशाधर जी के बाद हुआ है और डड्ढा से भी बाद मे भास्करनन्दि हुये है। आशा है खोजी विद्वान् इस पर पुन प्रकाश डालेगे।

●

देवसेन का भावसग्रह

देवसेन के बनाये हुए दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र, आलापपद्धति और भावसग्रह ये ग्रथ इदानी उपलब्ध होते है। इनमे से सिर्फ दर्शनसार मे उसका रचनाकाल वि० स० ९९० दिया हुआ है। शेष ग्रन्थो मे रचनाकाल का कही कोई उल्लेख नही है। और भाव सग्रह को छोड कर शेष ग्रथो मे कही देवसेन ने अपने गुरु का नाम भी नही लिखा है। ऐसी हालत म यह पता लगाना बडा ही मुश्किल है कि इन सब ग्रथो का कर्ता एक ही देवसेन है या देवसेन नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति ? और उनमे कौन कब हुआ है। क्योकि हमारे यहाँ एक नाम के अनेक जुदे-जुदे ग्रथकार भी हुये है। इतने पर भी कुछ विद्वान् इन ग्रन्थो मे से भावसग्रह ग्रन्थ के कर्ता उन्ही देवसेन को मान रहे है जिन्होने विक्रम स० ९९० मे दर्शनसार ग्रन्थ रचा है। इस मान्यता का आधार ऐसा कोई समर्थ ऐतिहासिक प्रमाण भी नही बताया गया है जिससे सिद्ध होता हो कि यह 'भावसग्रह'' वाकई उन्हो दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया हुआ है। जब किसी ग्रथ के रचनाकाल का पता ऐतिहासिक साधनो से नही लग सकता हो तो एक और भी साधन पता लगाने का है। और वह उस ग्रथ के कथनो की अतरग जाँच करना। इस की जाँच से और नही तो भी इतना परिज्ञान तो भावसग्रह के विषय मे हो सकता है कि इस तरह का वर्णन तो अमुक शताब्दी मे ही सभवनीय है या अमुक वर्णन प्राचीन देवसेनाचार्य के द्वारा होना सभव नही है। इसी खयाल से मैने प्रस्तुत लेख मे उक्त भावसग्रह ग्रथ की अतरग जाँच करने का प्रयास किया है। इस जाँच से पाठक देखेगे कि यह भावसग्रह ग्रथ उन दशवी शताब्दी मे होने वाले देवसेन का तो बनाया हुआ नही हो सकता है जिन्होने दर्शनसार ग्रथ लिखा है। नीचे इसकी चर्चा की जाती है—

१—"मांस से पितरों की तृप्ति होती है" ऐसा वैदिक मत का का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का खंडन करते हुये भावसग्रहकार ने वैदिक मत के "नाभिस्थाने वसेद् ब्रह्मा" आदि-आदि श्लोक पृ० १३ पर उक्तंच रूप से उद्धृत किये हैं। जिनमे लिखा है कि "जीवोके नाभि स्थान मे ब्रह्मा, कठ मे विष्णु, तालवे मे रुद्र, ललाट मे महेश्वर, और नाक के अग्र मे शिव निवास करते है।" ऐसा बतलाकर आगे गाथा निम्न-लिखित दी है—

सव्वासु जीवरासिसु एए णिवसति पंच ठाणेसु।
जइ तो कि पसुवहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥४७॥
देवे वहिऊण गुणा लब्भइ जइ हत्थ उत्तमा केई।
तो तुरुक्क वंदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥४८॥

अर्थ—सबही जीवो के नाभि आदि पंच स्थानो मे यदि ब्रह्मा विष्णु आदि निवास करते है तो पशु वध करने से इन ब्रह्मा आदि देवो का घात होना भी क्यो न माना जावेगा। और यदि कोई उत्तम पुरुष देवो का विध्वंस करने से गुण प्राप्त करते है तो देव मूर्तियो के विध्वंसक यवन भी वदनीय माने जाने चाहिये और शेष सब पापी माने जाने चाहिये।

गाथा मे आये 'तुरक्क' शब्द की सस्कृत छाया 'तुरुष्क' होती है। और तुरुष्क शब्द का अर्थ तुरुक यानी यवन होता है। धर्मामृत की प्रशस्ति मे प० आशाधरजी ने भी तुरुष्क शब्द का प्रयोग यवन अर्थ मे किया है, भावसग्रह की अजमेर की लिखित प्रति मे "तुरुक्क वंदणया" पाठ के स्थान मे "तो तुरुक्त वंदणीया" पाठ जान पडता है। इससे छंदभंग भी मिट जाता है। इतिहासकार भारत मे यवनो के शासन का प्रारंभ ई १३वी शताब्दी से मानते है। अत. उक्त कथन से भावसंग्रह १३वी शताब्दी से पूर्व का बना सिद्ध नही होता है।

२—श्वेताबर मत मे स्थविरकल्पी साधु के लिये वस्त्र धारण करना विधेय बताया है। उसका निराकरण करते हुये भावसंग्रह मे उसे स्थविर

कल्प न बताकर गृहस्थ कल्प कहा है। इसी प्रसग मे भावसग्रहकार ने गाथा ११९ से १३२ तक मे जिनकल्प और स्थविरकल्प का स्वरूप भी वर्णन किया है। उसमे आपने वन कदराओ मे रहना यह जिनकल्पी की क्रिया बताई है। किन्तु स्थविर कल्पी साधुओ के लिये भी नगर ग्रामो में रहने का विधान किसी मान्य आगम मे नही मिलता है। इसके लिये श्री जिनसेनाचार्य कृत आदि पुराण का निम्न श्लोक देखिये—

ततो विविक्तशायित्व वने वासश्च योगिनाम।
इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयो ॥७९॥ पर्व २१

अर्थ—इसलिये योगियो को एकात मे रहना और वन मे बसना चाहिए। चाहे जिनकल्पी हो या स्थविरकल्पी हो दोनो ही प्रकार के साधुओ के लिये यही सामान्य मार्ग है।

इन्ही के शिष्य आचार्य गुणभद्र ने तो आत्मानुशासन मे रात्रि के समय मे भी मुनि को नगर के समीप आ बसने मे ही खेद प्रकट किया है। इन्ही जिनसेन गुणभद्र के ऊपर दशनसार के कर्ता देवसेन की कैसी श्रद्धा थी? वे उन्हे कितने उच्चकोटि के मुनि मानते थे इस सबन्ध मे दशनसार की गाथा ३०–३१ मे वे लिखते है कि—

"वीरसेन के शिष्य जिनसेन सकलशास्त्र के ज्ञाता हुये जो श्रीपद्मनदि (कुदकुद) के बाद चार सघ के उद्धार करने मे समर्थ हुए। इनके शिष्य गुणभद्र हुये जो गुणवान, दिव्य ज्ञानी, पक्षोपवासी, शुद्धबुद्धि, महातपस्वी और भावलिगी थे।'

जो देवसेन दर्शनसार मे जिन जिनसेन गुणभद्र के प्रति इतना सम्मान व्यक्त करते है वे ही देवसेन भावसग्रह मे जिनसेन की आम्नाय के विरुद्ध स्थविरकल्पी साधुओ के लिये नगर ग्राम मे रहने का कथन करने लग जावें यह बात बुद्धि मे बैठने योग्य नही है। इसलिये न तो इस भावसग्रह के कर्ता वे देवसेन है जिन्होंने दर्शनसार बनाया है और न यह भावसग्रह

कोई प्राचीन ग्रन्थ ही है। यह तो स्पष्ट ही शिथिलाचार के जमाने का बना सिद्ध होता है।

भावसंग्रह मे जिनकल्पीके लिए यह भी लिखा है कि "वर्षा ऋतु मे वे छह मास तक निराहार कायोत्सर्ग मे स्थित रहते है।" (गाथा २२१)

इसी के अनुरूप वामदेव ने भी संस्कृत भाव संग्रह मे ऐसा लिखा है—

वर्षासु मासषट्कं हि मार्गे जातेऽगिसंकुले।
निराहारा विनिष्ठन्ते कायोत्सर्गेण निस्पृहा. ॥२६७॥

अर्थ—जिसमे कि जीवोत्पत्ति से मार्ग व्याप्त हो जताा है ऐसी वर्षाऋतुओ मे वे जिनकल्पी छहमास तक निराहार कायोत्सर्ग मे स्थित रहते हैं।

यह कथन भी भावसंग्रहकार का अत्युक्तिपूर्ण है और वह जिनकल्पी की चर्या को बहुत अधिक कठिन बताने की गरज से किया गया प्रतीत होता है। इमसे ग्रथकार ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वन कंदराओ मे रहना और वर्षा मे ६ मास तक निराहार तिष्ठना आदि जिनकल्पकी चर्या बडी दुर्धर है। उसका पालन सभी साधुओं के लिए शक्य नही है।

अगर जिनकल्पीकी ऐसी ही चर्या है तो तीर्थंकर जो कि सब जिनकल्पी ही होते है तो क्या वे सब छह मास तक वर्षा मे निराहार ही रहते है। ऐसा वर्णन उनके चरित्र ग्रन्थो मे तो लिखा नही देखा जाता है। बल्कि गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण मे तो लिखा है कि–"नेमिनाथ स्वामी ने श्रावण शुक्ला ६ को दीक्षा ली और दीक्षादिन से बेला के बाद ही उन्होंने पारणा किया। ५६ दिन मुनिअवस्था मे रहकर आश्विन शुक्ला १ को बेला के नियम में केवलज्ञान पाया।" अर्थात् नेमिनाथ स्वामी ने वर्षाऋतु मे ही दीक्षा ली और उसी ऋतु मे ही केवलज्ञान पाया। वर्षा ऋतु के इन ५६ दिनों में ही न जाने उन्होने कितनी बार आहार लिया है। दो बार आहार लेने का प्रसंग तो कथा मे ही बता दिया है। तब निजकल्पी के लिए वर्षा-ऋतु मे ६ मास तक निराहार और कायोत्सर्ग मे स्थित रहने का नियम

कहाँ रहा ? तथा भावसंग्रह में जिनकल्पी को मौन से रहना भी प्रतिपादन किया है। किन्तु मूलाचार अधिकार ४ गाथा १४९ मे जो एकविहारी मुनि के लक्षण बताये है वहाँ उनके लिए मौनी रहना और वर्षाऋतु मे ६ मास तक निराहार रहना नहीं बताया है। आम तौर पर स्थविरकल्पी का अर्थ संघ मे रहना और जिनकल्पी का अर्थ एकविहारी होना ही समझा जाता है। वामदेव ने भी संस्कृत भावसंग्रह के श्लोक २७७ मे यही लिखा है कि स्थविर आदि मुनिगुणो के रक्षण पोषण की इच्छा रखने वाले स्थविरकल्पी मुनि कहलाते है, और यही बात भावसंग्रहकार ने भी गाथा १२९ मे कही है। किन्तु वे इन दोनो कल्पों का स्वरूप अन्य गाथाओ मे बताते हुए इस मुख्य लक्षण पर स्थिर नही रहे है और यद्वा तद्वा कथन कर गये है। वे लिखते है कि—"खडे होकर करपात्र मे एक बार आहार लेना, पीछी आदि उपकरण रखना, पृथ्वी पर सोना, लौच करना, छह आवश्यको का पालना आदि स्थविरकल्पी की चर्या है। और धर्म शुक्लध्यानी, निष्कषायी, मौनी, निस्पृही आदि रूप से रहने की जिनकल्पी की चर्या है।" इससे भावसंग्रहकार का अभिप्राय ऐसा मालूम होने लगता है कि जैसे मानों वे सातवें आदि ऊपर के गुणस्थान वर्ती को ही जिनकल्पी मानते हो और छठवे गुणस्थान वाले को स्थविरकल्पी मानते हो ? नही तो जिनकल्पी के ही लिए धर्मशुक्ल ध्यानी आदि बताने व स्थविरकल्पी ही के लिए आहार करना, लौच करना, आदि प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ बताने का और क्या मतलब हो सकता है। किन्तु वे अपनी इस कपोलकल्पित मान्यता पर भी आरूढ़ नही रहे है। क्योंकि वे जिनकल्पीके लिए पाँव मे लगे काँटे और आँख मे पड़ी रज को स्वयं न निकालने व वर्षामे निराहार रहने का भी आदेश देते है। इससे सातवें आदि ऊपर के गुणस्थानी को जिनकल्पी मानने का भी कोई सम्बन्ध नहीं बैठता है। इस तरह भावसंग्रहकार का कथन इस सम्बन्ध में बिल्कुल ही अजीब सा हो गया है। और ये इस बाबत कोई

निश्चित सिद्धान्त स्थिर नही कर सके है। यह सब गडबड शिथिलाचार को स्थविर कल्प बनाने के प्रयास से हुई है। इस प्रकार के अयुक्त वर्णन किये जाने की आशा प्राचीन देवसेनाचार्य से नही की जा सकती है।

३—भावसंग्रह की गाथा १२४ मे स्थविरकल्पी के लिए यह भी लिखा है कि "वह पाँच प्रकार के वस्त्रो का त्यागी होता है।" किन्तु ऐसा त्यागी तो जिनकल्पी भी होता है फिर यहाँ अकेले स्थविरकल्पी के ही लिए ऐसा कथन क्यो किया ? इस कथन से शायद ग्रन्थकार का आशय यह हो कि वे स्थविरकल्पी मुनि के लिए पाँच प्रकार से भिन्न तृणज वस्त्र का उपयोग कर लेना जायज समझते हो। इसके समर्थन मे भाव-संग्रह की हस्तलिखित कुछ प्रतियो मे उक्तंच रूप मे निम्नलिखित पद्य भी लिखा मिलता है—

अण्डज वुण्डज रोमजचर्मजवल्कल पंच चेलानि।
परिहृत्य तृणजचेल यो गृह्णीयाद् भवेत् स यति ॥

इसमे लिखा है कि—"सूती, रेशमी, ऊनी, चमडे व वृक्षो की वल्कलो से बने ऐसे इन पाँच प्रकार के वस्त्रो का त्यागकर जो तृण के बने वस्त्र को ग्रहण करता है वह यति है।"

कथन की अयुक्तता को देखकर किसी ने इसके चौथे चरण मे "यो गृह्णीयात् न भवेत् स यति" पाठ बना दिया है। किन्तु पाठ मे "न" अधिक बढा देने से छन्द भग होता है और तबदीली करना साफ जाहिर होता है। तथा झालरापाटन की सं—१४८८ की भावसग्रह की लिखित प्रति मे भी "भवेत् स यति" ही पाठ है। यही पाठ इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार की संस्कृत टीका मे है। (श्लोक ९५वा)

ऐसा विधान परमात्म प्रकाश की टीका मे ब्रह्मदेवजी ने भी किया है—

"विशिष्टसहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तप पर्यायसहकारिभूतमन्न-पानमयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिक किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति।"

अर्थ—"विशेष संहननादि शक्ति के न होने से तप का सहायक अन्न पान और संयम-शौच-ज्ञान के उपकरण पीछी कमण्डलु शास्त्र व तृणमय-वस्त्रादि कुछ भी साधु ग्रहण करता है। तथापि उसमे ममत्व नहीं करता है।"

विदित हो कि इन्ही ब्रह्मदेवजी ने बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका भी की है। राजस्थान ग्रन्थ सूची तृतीय भाग के पृ० १८० पर टीका सहित इस ग्रन्थ का लिपिकाल विक्रम सं० १४१६ लिखा है। इससे ये १४१६ से पूर्व मे हुए है और उन्होने किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ का भी निर्माण किया है ऐसा पं० अजितकुमारजी शास्त्री ने बृहद्द्रव्य-संग्रह टीका पुस्तक की प्रस्तावना मे लिखा है। अधिकतर प्रतिष्ठाशास्त्रो का निर्माण काल भी १४वी सदी ही रहा है। फलत: इन ब्रह्मदेवजी का समय भी १४वी सदी ही अनुमान किया जा सकता है।

इस तरह मुनि के लिए तृणमयवस्त्र का विधान १४वी शताब्दी आदि शिथिलाचार के जमाने मे हुआ है। और वही समय भावसंग्रहका है। भावसंग्रहकारने जिनकल्पी को तो बाह्याभ्यन्तर सब प्रकार के परिग्रह का त्यागी लिखा है और स्थविरकल्पी के लिए पंचचेला का त्याग करना बताया है। इससे भावसंग्रहकार का साफ अभिप्राय यही प्रकट होता है कि उनके मत से स्थविरकल्पी साधु पाच प्रकार के वस्त्र से भिन्न तृणमय चेल का उपयोग कर सकते है और जिनकल्पी किसी भी जाति के वस्त्र का उपयोग नही कर सकते। जिस प्रकार ग्रन्थान्तरो मे उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की ओट मे शिथिलाचार का पोषण किया गया है उसी प्रकार भावसग्रह मे जिनकल्प-स्थविरकल्प की ओट लेकर शिथिलाचार का पोषण किया है।

जो देवसेन दर्शनसार मे मामूली मतभेद की वजह से ही मुनियों को जैनाभास करार देते है वे भावसंग्रह मे ऐसा कथन करेगे यह कदापि मानने मे नही आ सकता।

यहाँ यह समझ रखना चाहिये कि आसन के लिये मुनि को घास की बनी चटाई का उपयोग करना ऐसा अभिप्राय भावसंग्रह का नहो है। वहाँ "तृणज चेल" वाक्य दिया गया है और चेल का उपयोग शीत से बचने के लिए अगप्रत्यंग को ढक कर किया जाता है। इसी भाव को ऊपर ब्रह्मदेव ने "तृणमय आवरण" शब्द से व्यक्त किया है।

४—जैसे सवस्त्र मुक्ति मानने वाले श्वेताबरो के स्थविर कल्प को भावसंग्रहकार ने गृहस्थ कल्प बताया है वैसे ही भावसंग्रह मे स्थविर कल्पी दिगम्बर साधुओं की जो चर्या लिखी हैं उसे हम दिगम्बरों का शिथिलाचार कल्प कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ऐसे शिथिलाचार कल्पी साधुओं की प्रशंसा भावसंग्रह की गाथा १३० मे इस प्रकार वर्णन की है—

"संहनन की अति हीनता दुषमाकाल और मनकी चंचलता होते भी जो महाव्रत के भार के धारण करने मे उत्साही बने हुये हैं वे धीर वीर मुनि हैं।" इस गाथा का आशय बहुत कुछ यशस्तिलक के इस पद्य से मिलता है।

> काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
> एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नरा॥

तथा भावसंग्रह की कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे यशस्तिलक के कई उक्तंच पद्य भी लिखे मिलते हैं। इससे भी भावसंग्रह का निर्माण यशस्तिलक के बाद मे होना सिद्ध होता है।

इसके आगे की गाथा मे उक्त साधुओं की प्रशंसा जिस ढंग से वर्णन की है वह तो बड़ी ही विलक्षण है—

> वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण कायेण।
> तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणो ॥१३१॥

इसमे बताया है कि—"पहिले के मुनि अपने उस कामसे जिस कर्म

को हजार वर्ष मे खपा देते थे उस कर्म को इस काल में हीन संहनन का धारी मुनि वर्ष भर मे ही निर्जरा कर डालता है।"

कहना न होगा कि भावसग्रह का यह कथन कितना आपत्ति के योग्य है। साफ तौर से ऐसा कथन अपनी और अपने साथी साधुओं ने जैसी कुछ चर्या बना रक्खी है उनके पोषण की दृष्टि से किया गया है। सचमुच ही अगर इस काल के साधु लोग कर्मो की इतनी अधिक निर्जरा कर डालते है तो इनमे किसी के अवधिमनःपर्ययज्ञान व चारण आदि विविध ऋद्धियाँ होती तो नही देखी गई है। और तब पंचम काल मे मोक्षगमन का अभाव भी क्यो बताया जाता है?

ऊपर गाथा १३० और १३१ मे जो कथन किया गया है उसे ध्यान मे रखकर ही भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा की रचना हुई है—

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाहा ॥१२७॥

अर्थ—संहनन के गुण से अर्थात् हीनसंहनन वाले साधु के अधिक निर्जरा होती है जैसा कि गाथा १३१ मे कहा है। यह तो हुआ संहनन का गुण और दुःषम काल के तप के प्रभाव से अर्थात् पंचमकाल मे इस समय हीन संहनन और मन की अस्थिरता होते भी महाव्रती साधु बने हुये है जैसा कि गाथा १३० मे कहा है। यह हुआ दुःषमकाल के तप का प्रभाव। इन कारणों से साधुओ का पुर नगर ग्राम मे रहना स्थविर कल्प माना जाता है।

भावसंग्रह की गाथा १३१वी को रत्ननंदि ने अपने बनाये भद्रबाहु चरित्र मे भी उद्धृत की है। रत्ननंदि ने तो भद्रबाहु चरित्र मे जिनकल्पी स्थविरकल्पी वाला वह सारा प्रकरण ही वामदेव के संस्कृत भावसंग्रह से ज्यों का त्यों अनुवाद कर रक्खा है। और सकलकीर्ति ने भी धर्म-प्रश्नोत्तर ग्रंथ मे प्रश्न नं० ३१७ में भावसंग्रह की गाथा १३१ के आशय को अपनाया है। इस तरह गाथा १३१ के कथन का अनुसरण किया

जाना १४वी सदी के बाद के बने ग्रथों मे तो कही-कहीं मिलता है। किंतु १४वी शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों मे ऐसा विलक्षण कथन हमारे देखने मे नही आया है। और तो क्या अधिकाश रूप से भावसंग्रह के आशय को लेकर सस्कृत का भावसंग्रह बनाने वाले वामदेव भी इस कथन से सहमत नही मालूम पडते है क्योकि उन्होने भी अपने भावसग्रह मे इस प्रकरण की बहुत सी बातें तो ली हैं" इस कथन को नही लिया है।

इस प्रकार मिथ्या तरीको से शिथिलाचार का पोषण करना यह बताता है कि यह भावसंग्रह उस वक्त की रचना है जब शिथिलाचार को शिथिलाचार ही नही माना जाता था बल्कि उसे एक महिमा की चीज सिद्ध किया जा रहा था। इससे हम कह सकते है कि यह ग्रथ सभवत. १४वी सदी से पूर्व का बना हुआ नही है।

५—भावसग्रह मे गाथा ३५० से लेकर ५९९ तक २५० गाथाओ मे पाँचवे गुणस्थान का वर्णन पाया जाता है। तथापि श्रावकाचार का उल्लेख योग्य ऐसा कोई खास वर्णन नहीं किया है। दो चार गाथाओ मे श्रावक के १२ व्रतो और ८ मूलगुणो के केवल नाम मात्र लिख दिये है। न उनके स्वरूप का कथन किया है न अतीचारो का। सप्त व्यसन ग्यारह प्रतिमाओ का भी कही कोई कथन नही है। बाकी सारी गाथाये अधिकतया दान पूजा विषय की ही भर दी गई है। गाथा ४२५ से ४८२ तक स्नान, आचमन, सकलीकरण, अभिषेक, दिक्पालो की उपासना, भगवान् के उबटना करना, याग मडल आदि यन्त्रोद्धार, पूजा, विसर्जन इत्यादि क्रियाकाड लिखकर फिर गाथा ४८६ तक पूजा का फल स्वर्गगमन और वहाँ से चक्रवर्ती हो महाव्रती दीक्षा ले मोक्ष मे जाना बताकर गाथा ४८७ मे इन सबका निष्कर्ष यह बताया है—

इय णाऊण विसेस पुण्णं आयरइ कारण तस्स।
पावह ण जाम सयलं सजमयं अप्पमत्त च ॥४८७॥

अर्थ—इस प्रकार उक्त क्रियाकाड के अनुष्ठान से उस मोक्ष का

कारणभूत ऐसा विशेष पुण्य होगा जानकर जब तक सकल संयम और अप्रमत्तसंयम नहीं प्राप्त कर लेवे तब तक उसी विशेष पुण्य का आचरण करते रहो।

भावसंग्रह के इस कथन से ग्रन्थकार का कुछ ऐसा आशय झलकता है कि वे श्रावकों के उस समय उक्त क्रियाकाड की मुख्यता लाना चाहते थे इसी से उन्होने श्रावको के बारह व्रतो अतिचारों आदि का वर्णन नही किया है। और इस बात पर जोर दिया है कि श्रावको का कर्तव्य तो विशेष तौर पर दान पूजा करके पुण्यसंपादन करने का ही है। वे नही चाहते थे कि गृहस्थी ध्यान स्वाध्यायादि के पचडे मे पड़कर उक्त क्रियाकांड के अनुष्ठान मे शिथिलता दिखावे। अपने इसी उद्देश्य को लेकर कभी तो वे गाथा ३५७ मे "पाँचवे गुणस्थान मे आर्त रौद्र और भद्र ध्यान होता है। धर्म ध्यान नही होता है।" ऐसा कथन करते है। यहाँ वे भद्रध्यान की एक नई ही कल्पना करते हैं। और कभी वे गाथा ३७१ मे पंचम षष्ठ गुणस्थान ने उपचार से धर्मध्यान बताते है। वहाँ वे चौथे गुणस्थान मे उपचार से भी धर्मध्यान होता है या नही? कुछ नही बताते है। तथा कभी वे धर्मध्यान के सालम्ब, निरालम्ब ऐसे दो भेद करके गृहस्थी के गाथा ३८८ मे पंचपरमेष्ठियो के स्वरूप का चिंतवन रूप या मंत्राक्षर रूप सालम्ब ध्यान का प्रतिपादन करते हैं। और इससे शायद वे आज्ञाविचय आदि जो चार भेद रूप धर्मध्यान हैं वैसा धर्मध्यान श्रावक के न मानते हो। और ऐसा ही सालम्ब ध्यान वे छठवे गुणस्थान मे भी मानते है। क्योकि गाथा ३८१ मे उन्होंने निरालम्ब ध्यान सातवें गुणस्थान मे ही बताया है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ धर्मध्यान के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार के कथन किये हैं। किन्तु आगम सम्मत "पाँचवे गुणस्थान मे एक देश धर्मध्यान होता है।" यह जो सही सिद्धांत है उसका उल्लेख अपने उद्देश्य मे बाधा पड़ती देख कहीं नहीं

कर रहे है। जिनकल्प और स्थविरकल्प के स्वरूप कथन में इनकी जैसी डांवाडोल स्थिति रही है, वही डावाडोल स्थिति धर्मध्यान के स्वरूप कथन मे भी नजर आती है।

श्रावकों का खास काम पुण्य संपादन करने का ही है अपने इस सिद्धांत को लेकर भावसंग्रहकार ने जो एक बडी अनोखी बात शुरू मे ही कही है वह भी जरा देखिये—

सेयो सुद्धो भावो तस्सुवलंभोय होइ गुण ठाणे।
पण दह पमायरहिए सयलवि चारित्त जुत्तस्स ॥६॥

अर्थ—शुद्धभाव श्रेयः कहिये कल्याणमय है उसकी उपलब्धि सकल चरित्र वाले प्रमाद रहित अर्थात् अप्रमत्तविरत नाम के ७ वे गुणस्थान मे होती है।

यहाँ ग्रन्थकार ने सातवें गुणस्थान मे केवल शुद्ध भाव बताया है। इससे यह दर्शाया है कि—सातवें से नीचे छठवें पाँचवे गुणस्थान मे शुद्ध भाव तो है नहीं, वहाँ शुभ भाव हो सकते है और शुभ भाव से पुण्यबंध ही होगा इसलिये श्रावकों को पुण्यबंध के ही काम करने चाहिए। और चूँकि ग्रन्थकार ने खास धर्मध्यान सातवे गुणस्थान मे ही माना है और उसी मे शुद्ध भाव भी इससे ग्रन्थकार का मत यही प्रकट होता है कि वे धर्मध्यान मे शुद्धभाव ही मानते है और शुद्ध भाव श्रावक के नही हो सकते है इसीसे वे पंचम गुणस्थान मे धर्मध्यान का निषेध करते है।

किन्तु सातवे गुणस्थान मे धर्मध्यान की मुख्यता होने से ग्रन्थकार का वहाँ सर्वथा शुद्ध भाव मानना भी ठीक नही मालूम देता है। क्योंकि जब सातवे गुणस्थान मे शुक्ल ध्यान नही और कषायजनित बन्ध का अभाव भी नही तो वहाँ सर्वथा शुद्ध भाव ही हो शुभ भाव न हो ऐसा कैसे हो सकता है। बल्कि मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १९७ की टीका मे तो स्पष्टतया धर्मध्यान को स्वर्ग गति का कारण लिखा है—

"धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके।"

यहाँ धर्मध्यान से देवगति होना बताया है। इससे सिद्ध है कि धर्मध्यान में शुभभाव भी होते है।

और यह भी एकान्त नहीं है कि पाँचवें छठवें गुणस्थान में कुछ भी शुभ भाव नहीं है। चौथेसे सातवें गुणस्थान तक जिनके जितने अंशों में मोह का अभाव है उनके उतने ही अंशो मे शुद्ध भाव भी है ऐसा मानना पड़ेगा। इसी से तो आगम में चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है।

और जो भावसंग्रहकार ने गाथा ३५७ मे श्रावक के धर्मध्यान का निषेध करके फिर गाथा ३७१ मे पाँचवें छठवें गुणस्थान मे उपचार से धर्मध्यान बताया है सो यहाँ उपचार का क्या अर्थ है? यही कि वहाँ वास्तविक धर्मध्यान नही है। उपचार शब्द से तो ग्रन्थकार का यही अभिप्राय ध्वनित होता है। तो क्या पाँचवे छठवें गुणस्थान मे वास्तविक धर्मध्यान का एकदेश भी नही होता है? ग्रन्थकार का यह सब कथन ठीक नहीं है। क्योकि धर्मध्यान के आज्ञाविचय आदि भेद है और सम्यक्त्व के साथ ही आज्ञाविचय हो जाता है। अतः पाँचवें ही नही चौथे गुणस्थान मे भी धर्मध्यान होना सिद्ध है। और इसीसे तत्त्वार्थराजवार्तिकमे चौथे से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान बताया है। और भावसंग्रहकार का केवल सातवें ही गुणस्थान मे धर्मध्यान बताना यह आम्नाय तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है जो उनके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मे उल्लिखित है। इसलिये भावसंग्रहकार का पाँचवें ही नहीं महाव्रती छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के भी उपचार से धर्मध्यान बताना सिद्धान्त विरुद्ध कथन है। इस विषय मे विद्यानन्दिस्वामी ने श्लोकवार्तिक मे जो विवेचन किया है उस पर ध्यान दीजिये—

"कस्य तद्धर्मध्यानं स्यादित्याह—
साकल्येन विनिर्दिष्टं तत्प्रमत्ताप्रमत्तयोः।
अन्तरंगतपोभेदरूपं संयतयोः स्फुटम्॥

सयतासंयतस्यैकदेशेनासंयतस्य तु ।
योग्यतामात्रत कैश्चिद्वैर्दुर्ध्यानि प्रचक्षते ॥

धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न, पूर्वेषा निवृत्तिप्रसंगात् । इष्यते च तेषा सम्यक्त्वप्रभावाद्धर्म्यध्यानम् ।"—नवम अध्याय सूत्र ३६ की व्याख्या ।

अर्थ—वह धर्मध्यान किसके होता है ? यह बताते हैं—अन्तरग तप का भेद होने से वह धर्मध्यान पूर्णरूप से प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत दोनो के स्पष्ट तौर से माना गया है और संयतासयत पाँचवें गुणस्थान मे वह एकदेश रूप से माना गया है तथा असयत गुणस्थान मे भी वह जैसी जहाँ योग्यता है उस रूप माना गया है । "धर्मध्यान अप्रमत्त नाम के सातवे गुणस्थान मे ही होता है ।" ऐसा नही कहना चाहिए । क्योकि ऐसा कहने से नीचे के गुणस्थानो मे उस धर्मध्यान के अभाव का प्रमग आवेगा । क्योकि सम्यक्त्व के प्रभाव से सातवें नीचे के गुणस्थानो मे भी आगम मे धर्मध्यान बताया है ।

पाठक देखेंगे कि भावसग्रहकार ने जहाँ छठवे गुणस्थान मे वास्तविक धमध्यान ही नही बताया है वहाँ विद्यानंद्याचार्य पूर्ण धर्मध्यान बताते है । इसी तरह भावसग्रहकार जहाँ पाँचवें गुणस्थान भी वास्तविक धर्मध्यान न बता कर भद्रध्यान आदि विभिन्न प्रकार के धर्मध्यान की कल्पना करते है वहाँ आचार्य विद्यानन्दि पाँचवे गुणस्थान मे भी थोडे रूप मे उसी धर्मध्यान को बताते है जो सातवे गुणस्थान मे होता है । इस तरह विद्यानन्दिस्वामी के मत से भावसग्रहकार का मत मिलता नही है ।

अगर श्रावक के धर्मध्यान न माना जाये तो चक्रवर्ती जैसी विभूति के धारी राजा भरत "घर मे ही वैरागी थे" यह कहावत कैसे घटित हो सकेगी । यह उनके गृहस्थाश्रम मे साधु हुए धर्मध्यान का ही प्रताप था जो दीक्षा लेने के अन्तमूहूर्त बाद ही उन्होने केवलज्ञान पा लिया । सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक तो देशव्रती भी न थे फिर भी उनके ३३ सागर की नरकायु घटकर ८४ हजार वर्ष प्रमाण ही रह गई, यह धर्मध्यान का

प्रभाव नही तो और किसका था ? धर्मध्यान के ही प्रताप से देशव्रती का उत्पाद शास्त्रों मे १६वां स्वर्ग तक लिखा है। पार्श्वनाथ चरित मे मरुभूति का जीव हाथी भी देशव्रत से १२वा स्वर्ग गया है।

और जो भावसंग्रहकार ने पूजादि क्रियाकाण्ड के प्रचार के उद्देश्य को लेकर एकान्तरूप से श्रावक के लिए पुण्य सम्पादनार्थ प्रवृत्ति मार्ग की मुख्यता बताकर पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत आदि देश चारित्र, स्वाध्याय संयम तप आदि निवृत्तिमार्ग की ओर उपेक्षावृत्ति दिखलाई है वह जैनधर्म की समीचीन नीति के ही नही अपितु प्राचीन आगम परम्परा के भी विरुद्ध है। आगम मे तो जो आचार्य प्रथम मुनि धर्म का उपदेश न देकर श्रावक धर्म का उपदेश देने लगता है तो वह भी दण्ड योग्य समझा गया है क्योकि पाँचवें गुणस्थान के वर्णन मे जो पद्धति भावसंग्रह मे अपनाई है वैसी पद्धति प्राचीन देवसेनाचार्य की नही हो सकती है। क्योंकि अमृत-चन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ मे ऐसा लिखते है—

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणा यदुक्तमाचरणम्।
मुनिरूप्य निजां पदवी शक्ति च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥
इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्यया मुक्तिमभिलषता ॥२०९॥

अर्थ—जिनेन्द्र के आगम मे मुनीश्वरो का जो आचार कहा है वह गृहस्थों को भी अपनी पदवी और शक्ति का विचार करके तदनुसार सेवन करना चाहिए। अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ को भी यह रत्नत्रय एकदेश रूप से प्रति समय निरन्तर पालते रहना चाहिए।

इस प्रकार भावसंग्रह मे उसके कर्ता ने जिस मनोवृत्ति को लेकर पाँचवें गुणस्थान का वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य उस समय उक्त क्रियाकाण्ड के प्रचार करने का था। इस प्रकार का क्रियाकाण्डी साहित्य का निर्माण बहुत करके १४वी सदी से शुरू हुआ है।

मण्डलपूजा मे जयादि ८ देवियो, १६ विद्यादेवियो, २४ यक्षयक्षियों,

और ३२ इन्द्रो की स्थापना कर उनकी पूजा करने की जैसी पद्धति आशाधर, इन्द्रनन्दि, एकसधि आदि के क्रियाकाण्डी साहित्य मे पाई जाती है वैसी ही पद्धति इस भावसग्रह मे भी दृष्टिगोचर होती है। (देखो गाथा ४४९से४५४) इत्यादि कारणो से यह भावसग्रह'भी एकसधि आदि के आस-पास के समय मे ही रचा गया जान पडता है

यहाँ हम पाठको को यह भी बतला देना चाहते है कि करीब ४० वर्ष पहिले यह भावसग्रह ग्रन्थ मूल गाथाबद्ध माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसकी प्राकृत गाथाओ की सस्कृत छाया प० पन्नालाल जी सोनी ने की थी। छाया करने मे कई जगह अशुद्धियाँ कर रक्खी है। अशुद्धियो के कुछ नमूने देखिये—

गाथा २४ सव्वस्सेण–सर्ववस्तुना। चाहिये 'सर्वस्वेन,
गाथा ३८२ जइणो–यतीना। चाहिये 'जैन ,
गाथा २०५ णिवदिय–वदिन । चाहिये'नृप द्विज,
गाथा २५० करयलाओ–करे लग्ना। चाहिये'करतलत ,

कुछ अरसे पहिले इस ग्रन्थ का पं० लालारामजी शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद करके कुछ दातारो की सहायता से प्रकाशित कर इसे बिना मूल्य वितरण भी किया है। इसके पूर्व सस्करणमे सस्कृत छाया मे जो अशुद्धियाँ थी वे सभी प्राय इस प्रकाशन मे भी मौजद है। उन अशुद्धियो से इसका हिन्दी अनुवाद भी जहाँ-तहाँ गलत हो गया है। अनुवाद की गलतियो मे से भी एक नमूना यहाँ पाठको की जानकारी के लिये दे देते है—

जीवो के शुभ, अशुभ और शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। गाथा ६वी मे कहा है कि–जो शुद्ध परिणाम कल्याण के कर्ता है वे तो सातवे गुणस्थान मे होते हैं। (यह गाथा इस लेख मे ऊपर उद्धृत हुई है) इसके आगे की गाथा इस प्रकार है—

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपाव संजणया ।
ते पंच भावमिस्सा हों ति गुणट्ठाणमासेज्ज ॥७॥

अर्थ—"बाकी जो दो शुभ अशुभ भाव है वे पुण्य पाप के बन्ध करने वाले हैं इस प्रकार जीवों के तीनों परिणाम गुणस्थान को आश्रय करके औपशमिकादि पंच भावों मे मिले रहते है।" यह तो सही अर्थ है, किन्तु पं० लालाराम जी ने इस के उत्तरार्द्ध का गलत अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव औदयिक आदि पाँच भावों से मिल कर गुणस्थानों के आश्रय से रहते है।" हम अनुवादकजी से पूछते हैं कि आपने यहाँ औदयिक पाँच भावो में शुभ अशुभ दो ही भावों का मिलना कैसे बताया, शुद्ध भाव को क्यों छोड़ गये ? शुद्ध भाव पंचभावों से बाहर है क्या ? फिर आप ही ने आगे गाथा ८ के भावार्थ मे शुभ अशुभ शुद्ध इन तीनो भावो को पंचभावोंमें गर्भित भी लिख दिया है। दर असल बात यह है कि गाथा ७ की संस्कृत छाया जो पूर्व संस्करण में अशुद्ध थी वही इस संस्करण मे भी है। उसी के आधार पर हिंदी मे अर्थ करने से यह गलती हुई है।

इसी हिंदी टीका वाले संस्करण के पृष्ठ २९७ पर अनुवादकजी ने सूचना छपाई है कि—"बहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर में कहीं भी इसका यंत्र नहीं मिला जिससे इन पद्यों का अर्थ नही बैठा है।" अनुवादक की इस सूचना पर हमारा निवेदन है कि—यह कोई प्राचीन ग्रंथ नही है जो इसमे लिखा यंत्र दक्षिण उत्तर मे कही न मिले। दरअसल आपके दिमाग में यह प्राचीन ग्रंथ जँचा हुआ है इसीसे आपने अच्छी तरह तलाश नही किया है। हम बताये देते है कि इस यंत्र का नाम त्रिलोकसार यंत्र है और यह विद्यानुशासन पूजासारादि ग्रंथों मे पाया जाता है। आप वहाँ देख सकते है।

६—इस ग्रंथमे दानके प्रकरण मे गाथा ५०५ से लेकर ५०८ तक जो कथन किया गया है वह भी खास विचारणीय है। वहाँ लिखा है कि—

"जो कुछ भी सिद्धान्तशास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो और कुछ भी बाह्य अभ्यन्तर तप का धारी हो तथा दृढ ब्रह्मचारी हो वह वेदमय तपमय पात्र है ऐसा पात्र नियमत: संसार से तारने वाला है।

इस कथन में जो रहस्य छिपा हुआ है वह यह है कि—"वस्त्रधारी भट्टारको को उत्तम मध्यम जघन्य पात्रो मे से कौन सा पात्र माना जाये? जैनागम मे जो इन पात्रो के लक्षण लिखे गये है उनके अनुसार तो प्राय: निष्परिग्रही नग्न मुनि उत्तम पात्र माने जाते है। तब वस्त्रधारी भट्टारकों को कौन सा पात्र मानना चाहिये? इसी प्रश्न का समाधान ऊपर के कथन मे किया गया है और उससे यह सूचित किया है कि वेदमय तपमय होने से वस्त्रधारी भट्टारक भी एक विशिष्ट पात्र है। इसीसे उनके लिए सिद्धान्तज्ञान, तप और ब्रह्मचर्य का होना तो बताया गया है किन्तु अपरिग्रही, निरारम्भी, नग्नलिंगी होने का कथन नही किया है।

जिस प्रकार भावसंग्रहकार ने गृहस्थी के लिए भद्र-ध्यान और पंचमकाल के हीनसंहननी साधु के अधिक निर्जरा होने आदि का स्वच्छन्द कथन किया है। जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है। उसी प्रकार वेदमय तपमय पात्र की एक नई कल्पना यहाँ भी की है। इससे स्पष्ट है कि यह भावसंग्रह भट्टारकी जमाने की रचना है।

इसके अलावा एक बात यह भी है कि प्राचीन देवसेन ने दर्शनसार आराधनासार आदि छोटी छोटी रचनाएँ सूत्र रूप से की है और इसीसे उनकी रचनाओ के नामो के अन्त मे प्राय. सार शब्द पाया जाता है। भावसंग्रह सातसौ गाथाओ का एक बडा ग्रन्थ है अतः वह उन प्राचीन देवसेन का नही है ऐसा प्रतिभासित होता है।

दूसरी बात यह है कि—आशाधर के बनाये टीका ग्रंथो मे बहुत से उद्धरण ग्रंथान्तरों के मिलते है। उनसे ग्रंथकारों के समय निर्णय करने में बड़ी मदद मिलती है। खास कर वे आचार ग्रंथ जो आशाधर से पूर्व बन चुके थे उनमे से तो जहाँ तक मेरा खयाल है कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं

बचा है जिसका कुछ न कुछ उल्लेख आशाधर ने अपने सागार अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका मे न किया हो। आशाधर से पूर्ववर्ती आचारग्रंथ ये थे—

"पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अमितगति श्रावकाचार, यशस्तिलक, रत्नकरंड-श्रावकाचार, वसुनंदि श्रावकाचार, आदि पुराणका जैन संस्कार प्रकरण, मूलाचार और उसकी आचारवृत्ति टीका, पद्मनंदिपंचविंशतिका, चारित्र-सार और रत्नकरंडकी प्रभाचंद्र टीका।"

जबकि आशाधर ने इन सब ग्रन्थोके उद्धरण लिये हैं तब क्या कारण है कि उन्होने भावसग्रह ग्रन्थ का एक भी उद्धरण नहीं लिया। जबकि उन्होंने देवसेन के अन्य ग्रंथ दर्शनसार आराधनासार के भी उद्धरण लिये हैं। आराधनासार पर तो उन्होने टीका भी लिखी है। कारण स्पष्ट है कि—आशाधरजी के वक्त तक भावसंग्रह ग्रंथ बना ही न था तब वे उसका उल्लेख कैसे करते। जिस प्रकार पूज्यपाद श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार। सावयधम्म दोहा, और शिवकोटिकी रत्नमाला आदि भी आचार के ग्रंथ हैं किन्तु ये सब आशाधर से बाद के बने हुए हैं इसीसे इनका उल्लेख आशाधर के ग्रंथों मे कहीं नहीं पाया जाता है। उसी प्रकार भावसग्रह ग्रथ भी आशाधरजी के बाद का बना हुआ है इसीसे उसका उल्लेख भी आशाधररचित ग्रन्थो मे नही मिलता है।

इस प्रकार जाँच करने से यह भावसंग्रह ग्रंथ निश्चय ही अर्वाचीन सिद्ध होता है। यह १०वी शताब्दी मे होने वाले देवसेन का न होकर १४वी शताब्दी मे होने वाले किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा रचा हुआ जान पड़ता है। सभवत यह उन देवसेन का भी हो सकता है जिन्होने अपभ्रंशभाषा मे सुलोचना चरित लिखा है। सुलोचना चरित की समाप्ति का समय श्रावण शुक्ला १४ बुधवार राक्षस संवत्सर दिया है। एक राक्षस संवत्सर वि० सं० १३७२ मे भी पडता है। भावसंग्रह का रचना समय हमने जो ऊपर १४वी शताब्दी अनुमान किया है उससे भी इसकी संगति बैठती है तथा सुलोचना-चरित के कर्ता ने अपने गुरु का

नाम विमलसेन लिखा है। भावसंग्रहकार ने भी अपने गुरुका नाम विमलसेन लिखा है। एवं भावसंग्रह की रचना मे काफी तौर पर अपभ्रंश भाषा के शब्द पाये जाते है। इन सब कारणों से सुलोचना-चरित्रकार और भावसंग्रहकार दोनों का बहुत कुछ मेल बैठता है अतः दोनो अभिन्न मालूम पडते है। रहा सुलोचना-चरित्र मे देवसेन ने अपने गुरु विमलसेन का उल्लेख करते हुए उन्हे मलधारी लिखा जबकि भावसंग्रह मे देवसेन ने उन्हे गणी लिखा है। इतने मात्र से दोनों की भिन्नता नही सिद्ध की जा सकती है। भिन्नता के लिए अन्य कोई पुष्ट प्रमाण होने चाहिए। हो सकता है कि विमलसेन के अनेक शिष्यों का संघ होने से वे गणी या गणधर कहलाते हो और मलधारी उनकी कोई उपाधि होने से वे मलधारी नाम से भी पुकारे जाते हो। इसलिए एक ही देवसेन ने अपने दो ग्रंथो मे से एक मे तो अपने गुरु के नाम के साथ मलधारी शब्द का प्रयोग कर दिया हो और दूसरे मे गणधर शब्द का। ये ही नही पिछले कई भट्टारकों ने भी अपने को गण, गणधर और गणभृत् शब्द से उल्लिखित किया है। और यह कहना कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन ने दर्शनसार और आराधनासार के मगलाचरण मे अपना नाम श्लेषरूप से ध्वनित किया है। वही पद्धति भावसंग्रह मे भी अपनाई है इसलिए दर्शनसार और भावसंग्रह के कर्ता दोनो एक है। इस हेतु मे भी कुछ सार नही है। क्योकि मंगलाचरण मे श्लेष रूप से अपना नाम प्रकट करने की परिपाटी देवसेन की ही नही अन्य ग्रंथकारों के ग्रंथों में भी देखी जाती है। हाँ, यह ठीक है कि भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन नहीं है जिनको पांडवपुराण के कर्ता माथुरसंघी यशःकीर्ति ने अपनी गुरु-परम्परा की पाँचवी पीढी मे बताया है। भावसंग्रह के कर्ता के लिए यह भी जरूरी नही है कि वह काष्ठासंघी आदि कोई जैनाभासी ही हो। वह वैसा मूलसंघी भी हो सकता है जैसे कि अन्य सहस्र-भट्टारक अपने को मूलसंघी लिखते है।

भावसंग्रह में कई ऐसी गाथाएँ हैं जो निश्चयतः अन्य ग्रंथों की हैं और वे इसमे मूलका अंग बनी हुई है। जैसे कि 'हिसार हिए धम्मे·····" गाथा। यह गाथा कुन्दकुन्दके मोक्ष पाहुड़ की है जो भावसंग्रह में २६२ वें नम्बर पर पायी जाती है। इसी तरह गोम्मटसार पंचसंग्रह आदि ग्रंथों की भी इसमें कुछ गाथायें जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जबकि उपयुक्त जाँच से यह भावसंग्रह आशाधर से बाद का बना सिद्ध हो जाता है तो इन गाथाओ के बाबत कुछ विद्वानो की जो यह धारणा बनी हुई है कि गोम्मटसारादि ग्रन्थों मे ये गाथाये भावसंग्रह से ली गई हैं वह धारणा गलत सिद्ध होती है। और अब यह कहना चाहिए कि गाथायें भावसंग्रहकार ने ही उक्त ग्रन्थों से लेकर अपना ली है। इसी तरह इसमे वसुनंदि-श्रावकाचार की भी कई गाथायें बिना किसी उक्तंच के पाई जाती है। जिनमे से "संकाइ दोसरहियं" आदि ६ गाथायें जो भावसंग्रह मे नं० २७९ से २८४ तक पाई जाती हैं वे भी विशेष विचार करने से वस्तुतः वसुनन्दि-श्रावकाचार की ही प्रतीत होती है। जो किसी तरह भावसंग्रह मे प्रक्षिप्त हो गई हैं। क्योंकि प्रकरण को देखते हुए भावसंग्रह मे इन गाथाओं की कुछ भी संगति बैठती नही है। अगर देवसेन को ऐसा कुछ कथन करना अभीष्ट होंता तो वे प्रकरण संगत गाथा २६३ के आगे कर सकते थे। भावसंग्रह की गाथा २७८ मे कहा है कि-"उन अर्हतो के द्वारा कहे हुए नवपदार्थ, पंचास्तिकाय, और छह द्रव्यो का आज्ञा और अधिगम से श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है" इसके आगे नव पदार्थों आदि के नाम और उनके स्वरूप का वर्णन होना क्रम प्राप्त है किन्तु जो गाथा २८५ से शुरू होता है। इसलिए बीच की २७९ से २८४ तक की वे ६ गाथाये स्पष्टतः अप्रासंगिक नजर आती है। भावसंग्रह के उस प्रकरण मे जबकि सम्यक्त्व के अंगों के नाम तक भी नही है तो अंगों मे प्रसिद्ध होने वालों की कथाओ का उल्लेख करना साफ ही असंबद्ध मालूम देता है। किन्तु वसुनंदि श्रावकाचार में इन

गाथाओं का होना संगत मालूम देता है। वसुनंदि ने अपने इस श्रावकाचार में जहाँ सप्त व्यसनो का वर्णन किया है वहाँ भी गाथा १२५ से १३३ तक मे व्यसनों की कथाओ का उल्लेख किया है। यही नही गाथा ३४८-३४९ मे वैयावृत्य का फल पाने वाले वसुदेव और श्रीकृष्ण के भी नाम लिखे हैं। उसी तरह सम्यक्त्व के अगसम्बन्धी कथाओं का उल्लेख करना वसुनदिकी कथन शैली को प्रकट करता है। इससे वे गाथाये वसुनदि श्रावकाचार की ही हो सकती है ऐसा मानने को बाध्य होना पडता है। इसलिए वसुनदि श्रावकाचार की कोई एक हस्तलिखित प्रति मे इन गाथाओ को "उक्तच भावसंग्रहात्" वाक्य के साथ लिख देना अवश्य ही किसी गलती का परिणाम है। इस गलती की पुष्टि इस बात से भी होती है कि वसुनदि श्रावकाचार मे ग्रंथ भर मे कही भी उक्तंच का नाम निशान नही है। उक्तच की यह प्रणाली तो अधिकतया भावसंग्रह मे ही नजर आती है जो उसकी कई हस्तलिखित प्रतियो से सिद्ध है। तथा और भी विचारने का विषय है कि पं० आशाधरजी ने वसुनदि श्रावकाचार के कई उद्धरण लिये है इससे कह सकते है कि उन्होने वसुनदि श्रावकाचार को अच्छी तरह से देखा है तो विवादस्थ उक्त छहगाथाओ के पूर्व मे लिखा "उक्तंच भावसग्रहात्" वाक्य भी आशाधरजी की नजर मे गुजरा होगा तब यह स्वाभाविक है कि उनकी इच्छा भावसंग्रह ग्रंथ को देखने की भी हुई ही होगी और वे उसे भी प्राप्त कर देखे होगे। यदि यह सब हुआ हो तो आशाधर के साहित्य मे भावसग्रह के उद्धरण भी मिलते। किन्तु आशाधरजी का तो जितना भी साहित्य इस समय उपलब्ध है उसमे तो कही भी भावसग्रह की कोई गाथा उक्तंच रूप से लिखी नही मिलती है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि— वसुनदि श्रावकाचार की प्रति मे आशाधरजी के वक्त भी उन ६ गाथाओ के साथ "उक्तच भावसग्रहात्" वाक्य नही था और हो भी कैसे जबकि भावसग्रह ग्रंथ आशाधरजी से पहिले बना ही न था। यह तो मानने मे

नहीं आता कि जानकारी होते भी आशाधरजी उसे न प्राप्त करें या उन्हें वह न मिल सके।

यदि ऐसा कहा जाये कि "अगर ये गाथाये भावसंग्रह की न होकर वसुनदि श्रावकाचार की है तो भावसंग्रह मे इनका उल्लेख उक्तंच रूप से क्यों नहीं है?" तो इसका उत्तर यह है कि—ये ही क्या वसुनंदि-श्रावकाचार की तो अन्य भी गाथायें इसमे बिना उक्तंच के मिलती है। इसी तरह अन्य ग्रन्थो की भी गाथाएँ इन मे मिलती हैं। इसकी गाथा नं० २६२ को देखिये जो इसमे मूल का अग बनी हुई है। दर असल यह गाथा मोक्षपाहुड की है जो वहाँ ९० नम्बर पर पायी जाती है। तथा भावसंग्रह की हस्तलिखित प्रतियो की हालत पर जब हम विचार करते है तो माणिकचन्द ग्रन्थमाला मे जो भावसंग्रह छपा है उनमे एक प्रति तो सं० १५५८ की लिखी हुई है और दूसरी स० १६२७ की लिखी है। किन्तु दोनों प्रतियो मे बडा ही अन्तर है। सं० १६२७ प्रति मे ग्रन्थान्तरो के बहुत से उद्धरण है किन्तु सं० १५५८ की प्रति मे उतने उद्धरण नही है। इन प्रतियो के अलावा ए० प० सरस्वती भवन झालरापाटन की एक और प्रति जो सं—१४८८ की लिखी हुई है उसमे भी प्रायः ग्रन्थान्तरो के उतने ही उद्धरण मिलते है जितने कि सं० १६२७ की उक्त प्रति मे पाये जाते है। इन उद्धरणो मे और तो क्या संस्कृत भावसंग्रह तक के उद्धरण मौजूद है। विद्वानो का खयाल है कि संस्कृत भावसंग्रह की रचना बहुत करके प्राकृत भावसंग्रह के आशय को लेकर की गई है। ऐसी हालत मे उद्धरणो से विद्वानो ने यही फलितार्थ निकाला है कि ये उद्धरण मूल ग्रन्थकार के द्वारा उद्धृत नही हुये है। किन्तु किसी स्वाध्याय-शील व्यक्ति ने भावसंग्रह की प्रति के हासिये पर लिख दिये थे जो आगे चल कर प्रतिलिपिकार ने नासमझी से उन्हे मूल के साथ नकल कर दिये है। अगर यही बात ठीक है तो वसुनंदिश्रावकाचार की वे विवादस्थ ६ गाथायें भी हाँसिये पर से उठ कर मूल मे शामिल हो गयी हों ऐसा क्यों

नहीं माना जा सकता है ? इसी से तो उनकी स्थिति भावसंग्रह के प्रकरण से नहीं मिलती है और जबकि संस्कृत का भावसंग्रह प्राकृत भावसंग्रह से अनुवादित है और संस्कृतके भावसंग्रह मे सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन होते हुये भी उसमे अङ्ग प्रसिद्ध कथाओं का जिकर नही है। इससे क्या यह सिद्ध नही होता कि संस्कृत भावसंग्रह के कर्त्ता वामदेव के वक्त भी प्राकृत के भावसंग्रह मे वे ६ गाथाये नही थी। उसमे वे बाद मे प्रक्षिप्त हुई है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि सं० १५५८ की लिखित प्रति मे यशस्तिलक चम्पू, संस्कृत भावसंग्रह आदि के उद्धरण न होने से इसे ही देवसेन की मूल कृति मान ली जाय सो ऐसा भी नही है। इस प्रति मे भी थोड़े बहुत हाँसिये के उद्धरण जरूरी मूलमे शामिल हुये हैं। इसके लिये देखिये भावसग्रंह का ५१६वें नम्बर का दोहा। यह दोहा सावयधम्म पुस्तक का है जो अपभ्रंश भाषा मे और यहाँ बिना किसी उक्तंच के मूल के साथ शामिल हो रक्खा है। सावयधम्म के उद्धरण १६वी शताब्दी के पहिले के ग्रन्थो मे नही देखे जाते है और उक्त दोहा भावसग्रंह की संवत् १४८८ की लिखी झालरापाटन की प्रति मे भी नही है, जबकि अन्य सबही उद्धरण उसमे भी लिखे मिलते हैं। इत्यादि कारणो से सावयधम्मका रचना काल बहुत आधुनिक मालूम होता है।

सर्वथा यह भी न समझना कि भावसंग्रह मे सब ही उद्धरण हांसिये पर से ही मूल मे शामिल हो गये हैं। बल्कि इनमे से कितने ही उद्धरण मूल ग्रंथकार के द्वारा भी उद्धृत हो सकते हैं। जैसा कि वसुनंदि श्रावकाचार की कई गाथाओ को इसमे उद्धृत मिलने से जाना जा सकता है। इन गाथाओं मे से कुछ गाथाये तो ज्यों की त्यों ले ली गई हैं और कुछ गाथाये मामूली हेर फेर करके उद्धृत की है। ऐसी गाथाओं की तालिका ज्ञानपीठ से प्रकाशित वसुनंदि श्रावकाचार की प्रस्तावना मे देख सकते हैं। हेर फेर की हुई गाथाओ से तो यही निश्चय होता है कि खुद भाव-

संग्रहकार ने ही वसुनंदि गाथायें अपनाई है। "वसुनंदि ने ही भावसंग्रह की गाथाओं को अपनाया हो" ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है। इसके लिये उदाहरण स्वरूप हम एक गाथा पेश करते हैं—

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
तस्स फलेणुववज्जइ उत्तमभोयभूमीसु ॥२४५॥

यह गाथा वसुनंदि श्रावकाचार की है। इसमे लिखा है कि—जो मिथ्या दृष्टि भद्र (मंदकषायी) पुरुष उत्तमपात्रो को दान देता हैं उसके फल से वह उत्तम भोगभूमियो मे उत्पन्न होता है।" इसी गाथा को कुछ रद्दो-बदल करके भावसंग्रह मे निम्नरूप से लिखी है :

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावइ वरभोए फुडु उत्तमभोयभूमीसु ॥४९९॥

वसुनंदि की उक्त गाथा के प्रथम चरण मे आये "भद्दो शब्द की जगह भावसंग्रह मे 'पुरिसो' शब्द मे तबदीली तो कर दी परन्तु पुरिसो शब्द मे अर्थ की वह खूबी न आ सकी जो भद्दो शब्द मे थी। इससे साफ प्रमाणित होता हैं कि भावसंग्रहकार के द्वारा ही वसुनंदि की गाथाओ मे हेरफेर किया गया हैं।

भावसंग्रह की ऐसी स्थिति को देखते हुए न्यायकुमुदचंद्र के पृष्ठ ८५६ पर "षड्विधो हि आहार : प्रवचने प्रसिद्ध :" वाक्य के साथ "णोकम्मकम्महारो····" गाथा उद्धृत हुई हैं। वही गाथा भावसंग्रह मे ११०वें नम्बर पर स्थित है। वह गाथा भी खास भावसंग्रह की नहीं प्रतीत होती। वह किसी अन्य प्राचीन आगम की जान पड़ती है। और वहीं से प्रभाचंद्र ने न्यायकुमुदचंद्र मे उद्धृत की है न कि भावसंग्रह पर से।

"मतना कोई उत्सूत्र कथन हो जाये" इस बातका प्राचीनकाल मे बड़ा भय रहता था। इसीसे प्रखरबुद्धिवाले निर्मल आचार के धारी कोई बड़े आचार्य ही शास्त्र निर्माण का कार्य करते थे। यह नियंत्रण आगे चलकर धीरे-धीरे लुप्त होता चला गया, फिर तो वस्त्रधारी भट्टारक ही

नही गृहस्थी भी इस काम के अधिकारी बन बैठे। प्रायः १३वीं शताब्दी और उसके बाद में तो साधुओ के शिथिलाचार और श्रावको के क्रियाकाण्ड को लेकर कतिपय शास्त्रो मे जिस स्वच्छंदता से कथन किया गया है। उस स्वच्छदता के दर्शन इस भावसग्रह मे भी होते है। ऐसा इसके अध्ययन से सहज ही जाना जा सकता है। एक श्रेष्ठ आचार्य की रचना जैसी व्यवस्थित, सारगर्भित, पुनरुक्ति-पूर्वापर विरुद्धता आदि दोषों से रहित, प्राचीन ग्रन्थपरम्परा की अनुगामिनी होती है वैसी रचना इस भावसंग्रह की दिखाई नही देती है। और तो क्या "भावसंग्रह" इस नाम के अनुरूप औपशमिकादि भावो के लक्षण और उनके उपभेदो के नाम तक भी इसमे नही है।

इस प्रकार के ऊहापोह से मुझे यह भावसंग्रह प्राकृत ग्रन्थ १०वी शताब्दी मे होने वाले देवसेन के द्वारा निर्मित नही प्रतीत होता है। किन्तु किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा १४वी शताब्दी के लगभग का बना जंचता है। मेरे ये विचार कहाँ तक ठीक है इस पर विद्वज्जन ध्यान देगे।

●

जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठाविधि का अशुद्ध प्रचार

जब से स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी ने इस जयसेन प्रतिष्ठापाठ को आधार बनाकर उसमे कही-कहीं नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के कुछ अंशों का समावेश करके तथा कुछ बाते अपनी तरफ से और मिलाकर एक नये प्रतिष्ठापाठ ग्रन्थ का प्रकाशन किया है तब से बहुत करके उसी के आधार से कई बिम्बप्रतिष्ठायें हुई है और हो रही हैं। उसमे उन्होने याग मण्डल पूजा आदि कुछ प्रकरणों को हिन्दी छन्दो मे भी लिख दिया है। जिससे उनका उपयोग हिन्दी के ज्ञाता भी गा-बजाकर कर लेते हैं; साथ ही उन्होने उसमें पंचकल्याणको के दृश्य ऐसे नाटकीय ढंग से लिखे हैं कि तदनुसार दृश्य दिखा देने से साधारण जनता का खूब मनोरजन होता है; फलतः दर्शक लोग अधिक संख्या मे एकत्रित होते है और मेले की रौनक बढ जाती है उससे धन खर्च करने वाला यजमान भी अपने को धन्य समझने लगता है और उससे प्रतिष्ठाचार्य की भी महिमा बढ जाती है। अगर कोई प्रतिष्ठाचार्य इस ढंग से काम न करे तो उसकी प्रतिष्ठा लोगों को फीकी-फीकी सी प्रतीत होती है; लोगो को मजा नही आता इससे प्रतिष्ठापक का दिल भी मुरझा जाता है और विचारे वैसे प्रतिष्ठाचार्य को तो आयदे किसी किसी प्रतिष्ठा मे बुलाना भी कोई नही चाहता है। उधर नाटकीय ढंग से प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्यों की भी अब कोई कमी नही रही है और न रहेगी, क्योकि स्व० ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठा की सब विधि हिन्दी मे लिख दी है। अतः अब तो इसके लिये संस्कृत भाषा के ज्ञान होने की भी ऐसी कोई खास जरूरत नही रही है और न किसी गुरु की खुशामद की। एक दो नाटकीय ढंग को प्रतिष्ठा ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ से करा दीजिए; नाम हो जायेगा, फिर तो जगह-जगह से निमन्त्रण ही निमन्त्रण है।

प्रतिष्ठाचार्य का पद एक बडा सम्मानका पद है और इसको कोई-कोई तो अर्थोपार्जन का साधन भी बना लेते है। इस पद की प्राप्ति के लिए कई सस्कृत के अच्छे-अच्छे पण्डित भटकने थे। अव ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ को वदौलत उनको भी भटकने की जरूरत नही रही है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि प्रतिष्ठाचार्य का पद जितना ही गौरव-पूर्ण है उतना ही वह भारी जोखम का भी है। जो प्रतिष्ठाचार्य अन्टसन्ट प्रतिष्ठाविधि करते है वे अपना बहुत ही अहित कर रहे है। धातु पाषाण की निराकार मूर्ति मे जिनेन्द्र की प्रतिष्ठा करना कोई हँसी खेल नही है। प्रतिष्ठा जैसे गुरुतर कार्य के लिए पल्लवग्राही पाण्डित्य मे काम नही चला करता है। इसके लिये मन्त्र, तन्त्र वास्तुविद्या, शकुन, निमित्तज्ञान, ज्योतिष आदि विविध विषयो का परिज्ञान होना चाहिये। साथ ही प्रतिष्ठाचार्य खुद भी जितेन्द्री, सुलक्षण सदाचारी, देशकाल का ज्ञाता, नम्र, मन्दकषायी, देव-शास्त्र-गुरु का अनन्य भक्त, मान्य, प्रभावक आदि लक्षणो का धारी होना चाहिये। इसी वजह से पुराने जमाने मे दूर-दूर तक कोई विरले ही प्रतिष्ठाचार्य मिलते थे। आज की तरह वे सुलभ नही थे। उस वक्त के प्रतिष्ठापक-यजमान भी विचारवान् होते थे। वे भी ऐसे ही प्रतिष्ठाचार्यो से प्रतिष्ठा विधि कराना योग्य समझते थे और उन्हे बडे ही आदर-मान से लाते थे। उस आदर-सन्मान का कथन प्रतिष्ठा शास्त्रो मे भी लिखा मिलता है।

ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी कुछ ऐसे कथन भी मिलते है जो न तो जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे है और न अन्य किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे ही। केवल ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे लिखे होने से ही इदानी उनका प्रचार हो रहा है। नीचे हम इसी का दिग्दर्शन कराते है—यहा हम उन्ही अशुद्धियो पर विचार करते है जो खास प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती है।

१—पृ० १४१ मे मुख वस्त्र विधिका वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी जी ने लिखा है कि—"एक शुद्ध वस्त्र मे सात प्रकार का अनाज बाँधकर प्रतिमा

के मुखपर ढक कर लपेट दे। तथा आगे जौ की माला रख दे।" एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठाचार्य को थोडे अरसे पहले एक प्रतिष्ठा महोत्सव मे हमने इसी तरह करते देखा है। किन्तु जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे जहाँ यह विधि लिखी है वहाँ के विवेचन से तो ऐसा अर्थ कदापि नहीं निकलता। वहाँ जैसा कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

> नूत्नं निरावृतिचमत्कृतिकारि तेजो,
> नो शक्यमीक्षितवतामपि भावुकानाम्।
> इत्येवमर्पितनयानयनेन शंभो-
> रग्रे मुखाग्रमहवस्त्रमुपाकरोमि ॥८५५॥

इसकी वचनिका इस प्रकार की है—

"अरु नवीन और निरावरणता का चमत्कार करने वाला प्रभु का तेज है सो देखने वारे भव्यनिकूं शक्य नही है। ऐसे या प्रकार अर्पितनयका अवलम्बन करि श्री भगवान् का मुख के अग्रभाग मे वस्त्र से परदा करूँ हूँ।"

"ओ ह्री अर्हते सर्वशरीरावस्थिताय समदनफलं सप्तधान्ययुतं मुखवस्त्रं ददामि स्वाहा।" इति मुखाग्रे वस्त्रयवनिका दत्वा यवमालावलयं जिनपादाग्रत. स्थापयेत्।' अर्थात् "ओ ह्री अर्हते ··· "मुखवस्त्रं ददामि स्वाहा" इस मन्त्र को बोलकर भगवान् के मुँह के आगे वस्त्र का परदा देकर जवमाला को जिनचरण के आगे रक्खे। यहाँ वचनिकाकार ने और भी स्पष्ट किया है—

"ऐसे मुखवस्त्र अग्ररोपण। अर मुखनाम अग्रभाग का है ताते बिम्ब के आडा एक परदा भगवान् को आड देना ऐसा अभिप्राय है। इसहीकूं मूलपाठ मे "यवनिका दत्वा" ऐसा कहा है।"

आगे श्लोक ८६६ मे भी इस मुखवस्त्र को हटानेका का कथन करते हुये "यवनी दूरमुदयेत्" पाठ दिया है जिसका अर्थ होता है "वस्त्र की यवनिका को दूर कर दे।" यहाँ "यवनी" शब्द से परदा ही बताया है।

ब्रह्मचारी जी ने जो सात प्रकार के अनाज की पोटली को प्रतिमा के मुख पर बाँधने को कहा है सो ऐसा कथन ऊपर लिखे मन्त्रो मे "सप्तधान्ययुतं मुखवस्त्र" वाक्य मे सप्तधान्य को मुखवस्त्र का विशेषण समझ लेने की भूल से हुआ है। तथा इस मन्त्र के "समदनफल" वाक्य का तो अर्थ ही ब्रह्मचारी जी साफ उडा गये है। दरअसल इस मन्त्र मे केवल तीन क्रियाओ का संकेतमात्र किया है — यवमाला, सप्तधान्य का स्थापन, और मुखवस्त्र प्रदान। इन तीनो क्रियाओ की प्रयोग विधि अलग लिख दी है। यही मंत्र इसी रूप मे आशाधर प्रतिष्ठापाठ पत्र १०९ मे लिखकर उमकी प्रयोग विधि वहाँ इस प्रकार बताई है—

"मुखवस्त्रदानपूर्वकं यवमालामारोप्य जिनस्य पादाग्रत सप्तधान्यान्युपहरेत्।" अर्थात् पहिले मुखवस्त्र देकर फिर यवमाला का आरोपण करे और फिर जिनचरणोके आगे सप्तधान्य भेट करे। आशाधर जी ने यहाँ मदन फल (मैणफल) को यवमाला के साथ लगाने को कहा है जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रगट है—

भक्तर्द्धिवृद्धिकृदनुक्षणभाविशर्म-
सपत्फलामितगुणावलिमुद्गिरंत्या।
रार्द्धिवृद्धियवमालिकयार्चितोऽर्हन्
गो. सप्तधान्यकमदोर्हतु सप्तभंगीम् ॥—अध्याय ४-१६२॥

अर्थ—क्षण भर के बाद होने वाली सुख-सपदा के फलो की प्रचुर गुणावली को बतलाने वाली, और मदनफल व ऋद्धि-वृद्धि (ये दोनो जडी बूटियाँ है) युक्त ऐसी जवमाला से जो पूजे गये है और जो भक्तो की ऋद्धि-वृद्धि के करने वाले है ऐसे अर्हत भगवान् सप्तधान्यरूपी वाणी की सप्तभंगी को प्राप्त होवे। अर्थात् उनके आगे भेंट किये सप्तधान्य मानों उनकी वाणी के सप्तभग रूप होओ।

नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ पृ० ५६३ मे मुखवस्त्र के लिए ऐसा लिखा है— "मुखवस्त्रमेवं कुर्यात् वेदिकायामंतर्गृहे च।" मुखवस्त्र ऐसा करे—वेदी पर

और भीतरी गृह पर। यहाँ भी मुखवस्त्र का अर्थ परदा ही व्यक्त किया है। वह परदा वेदो और निजमंदिर (गर्भ गृह) दोनों पर होना चाहिए। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के पूजामुख प्रकरण मे लिखा है कि—प्रभात ही जिन-मंदिर जावे तो मंदिर के किवाड़ खोल कर परदा हटाकर भगवान् के दर्शन करे ऐसा वर्णन करते हुये "उद्‌घाटधवदनवस्त्रं" इत्यादि श्लोक लिखा है। इसमे भी 'मुखवस्त्रं' शब्द का प्रयोग परदा के अर्थ मे किया है।

और ऊपर उद्धृत जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के श्लोक मे भी जिस उत्प्रेक्षा से कथन किया है उससे भी 'मुखवस्त्र' का भाव परदा करना ही झलकता है। यहाँ भी समझना चाहिए कि—तिलकदान के बाद मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि तिलकदान-विधि के बाद ही मूर्ति पूजनीय होती है। पूजनीय मूर्ति के अंग मुख पर कपड़ा लपेटना अयुक्त है। इसी ख्याल से तो जयसेन ने तिलकदान के बाद अधिवासना विधि मे बिंब के ककण बाँधने का कथन नही किया है यह एक खास ध्यान देने योग्य बात है।

इसलिए ब्रह्मचारी जी ने जो मुखवस्त्र विधि मे सातधान्यों को वस्त्र मे बाँधकर उससे प्रतिमा के मुख को लपेटना लिखा है और उसी के मुताबिक आजकल के प्रतिष्ठाचार्य जो विधि करते हैं वैसा विधान जयसेन प्रतिष्ठा पाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठाग्रंथ मे नही है। यह हम ऊपर बता चुके हैं।

२—पृष्ठ १४२ पर ब्रह्मचारी जी ने नयनोन्मीलन क्रिया की विधि इस प्रकार लिखी है "एक रकाबी मे कपूर जलाकर सुवर्ण की सलाई को रक्खे। और 'सोहं' मंत्र को ध्याता हुआ १०८ दफे "ओं ह्री श्री अर्हं नमः" मंत्र पढ़े। फिर निम्नलिखित श्लोक व मंत्र पढ़कर नेत्र मे सलाई फेरे।" ब्रह्मचारी जी के इस कथन का यही आशय है कि कपूर के काजल को सलाई मे लेकर उसको भगवान् की आँखों मे आँजे। किन्तु इस प्रकार का कथन जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे तो क्या अन्य किसी भी प्रतिष्ठा पाठ मे नहीं है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ यह कथन दो जगह आया है पृ० १३२ पर और २८४

पर । पृ० १३२ पर मूल मे जो लिखा है उसकी वचनिका ऐसी है—

"सुवर्णशलाका करि कुंकुमकरि (नेत्रोन्मीलनयंत्र को) लिखि, लवंग अर रक्त पुष्पनिकरि 'ओ ह्री श्री अर्हं नम " ऐसा मंत्र एकसौ आठ बार जपि चाँदी के पात्र मे मिश्री दूध घृत स्थापनकरि तिह गंध करि सुवर्ण-शलाका करि मूर्ति के नेत्र मे फेरि इन्द्र है सो पूरकनाडी बहता नेत्रो-द्घाटन करे ।

पृ० २८४ पर ऐसा लिखा है—"तदनतरमेव रुक्मपात्रस्थितकपूर्र-युक्तसुवर्णशलाका दक्षिणपाणौ विधृत्य 'मोह स' इति ध्यायन्नाचार्यो नयनोन्मीलनयंत्रं प्रदर्श्य श्लोकमिम पठेत् ।" आगे श्लोक और मंत्र लिख-कर फिर लिखा है—"इति स्वर्णशलाकया नेत्रोन्मीलनं कुर्यात् ।" इसकी वचनिका नही की है । अर्थ इसका यह है—मुखोद्घाटन के बाद ही सोने पात्र मे रखे कर्पूरादि गधद्रव्य से युक्त की हुई सुवर्णशलाका को दक्षिण हाथ मे लेकर "सोहं स" का ध्यान करता हुआ आचार्य नयनोन्मीलनयंत्र को दिखा कर आगे लिखे श्लोक और मंत्र को पढे और सोने की शलाका से नेत्रोन्मीलन करे ।" पृ० १३२ की वचनिका मे लिखे "तिह गधकरि सुवर्णशलाकाकरि" इस वाक्य से भी यही बताया है कि जिस कुंकुमादिगंध से नेत्रोन्मीलन मत्र लिखा गया है उस गंध को सलाई मे लेकर नेत्र मे फेरे । इसीसे बहुत कुछ मिलता-जुलता कथन नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ पृ० ४५८ और ५७४ मे लिखा है । वहाँ देख सकते है ।

इस विषय मे आशाधर जी ने अपने प्रतिष्ठापाठ के चौथे अध्याय मे इस प्रकार लिखा है—

येनोन्मील्य समस्तवस्तुविशदोद्भासोद्भट केवल-
ज्ञान नेत्रमदर्शि मुक्तिपदवी भव्यात्मनामन्यथा ।
तस्यात्रार्जुनभाजनार्पितमिताश्रीराज्यकर्पूरयुक्—
वक्त्रस्वर्णशलाकया प्रतिकृतौ कुर्वे दृगुन्मीलनम् ॥१८४॥

अर्थ—समस्त पदार्थों को स्पष्ट देखने की है उद्भटता जिसमें ऐसे

केवलज्ञानरूप नेत्र को खोलकर जिन्होंने भव्यजीवों को बाधारहित मुक्ति पदवी दिखाई उस भगवान् की प्रतिमा में यहाँ चाँदी के पात्र मे रक्खे मिश्री, दूध, घृत, कपूर इनमें सोने की सलाई का अग्रभाग डुबोकर उससे नेत्र खोलता हूँ।

इस प्रकार जयसेन प्रतिष्ठापाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठापाठ में कपूर जलाकर उसके काजल से नेत्रोन्मीलन करना नही लिखा है। न मालूम ब्र० शीतलप्रसाद जी ने ऐसा कथन किस आधार पर किया है? अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठाचार्य ब्रह्मचारी जी की इसी विधि से काम करते आ रहे है। इस अशा-स्त्रीय विधि से अब तक सैकड़ो प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा हो चुकी है।

ब्रह्मचारी जी तो इस विधान में आये मिश्री घृत दूध आदि का भी कोई उल्लेख नही करते है। ब्रह्मचारी जी ने तो जो कुछ उनकी समझ मे आया सो लिख दिया, किन्तु इन प्रतिष्ठाचार्यों का तो कर्तव्य था कि जिन शास्त्रो के आधार पर से ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठाग्रन्थ लिखा है उनसे इसका मिलान करके यथार्थता का पता लगाते।

३—पृष्ठ १३४ पर भगवान् को आहार देने का वर्णन करते हुए जो मूर्ति को मस्तक पर धरकर आचार्य का आहार के लिये जाना, काल्पनिक राजा सोम और श्रेयास का अपनी रानियो को साथ मे लेकर उन्हे पडगाहना आदि कथन किया है सो ऐसा नाटकीय ढंग तो ब्रह्मचारी जी के इस सारे ही प्रतिष्ठापाठ मे पाया जाता है किन्तु इस नाटकीय ढंग की धुन मे भगवान् के हाथ मे जो इक्षु रस की धारा डालने की बात कही है वह जयसेन प्रतिष्ठापाठ के अनुकूल नही है। एक प्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठा-चार्य जी ने भगवान् के आहारदान की जो विधि कराई थी वह भी सुन लीजिये—अनेक व्यजनो से भरा थाल प्रतिमा जी के सामने रखकर उसमे से अनेक नरनारी बारी-बारी से आकर भोजन का ग्रास बना बना कर प्रतिमा के हाथों पर ही नही मुँह पर रखते जाते थे। यह हमारा आँखों

देखा हाल है। धन्य है इन प्रतिष्ठाचार्यों की लीलाओं को। नाटकीय ढंग की भी तो कोई हद होनी चाहिए।

भगवान् के आहारदान के विषय मे जयसेन प्रतिष्ठापाठ मे जैसा कुछ लिखा है उसे देखिए—

तत्रोपवास मघवा तथार्यो यज्वा शची चान्यमहे नियुक्ता ।
विदध्युरूर्ध्वे विधिना हि मध्यदिने जिनाग्रे चरुपूजनानि ॥८४२॥
तदैव पञ्चाद्भुतवृष्टिरग्रे बिबस्य पुष्पाजलिना समेता ।
योज्या ध्वनि तूर्यगणैर्विधाय भुजीयुरन्यानपि भोजयित्वा ॥८४३॥

अर्थ—भगवान् के उस दीक्षादिन मे इन्द्र, आर्य-यजमान, इन्द्राणी और अन्य पुजारी उपवास रक्खे। अगले दिन के मध्याह्न मे विधि के साथ भगवान् के आगे नैवेद्य भेट करे और तब ही बिंब के आगे पुष्पाजलि के साथ पचाश्चर्यो की वर्षा करे और अनेक बाजे बजवा कर इन्द्रादि आप पारणा करे तथा अन्य साधर्मी जनो को भी जिमावे।

यहाँ भगवान् का आहार करने का भाव दिखाने को प्रतिमा के आगे नैवेद्य भेट करना मात्र लिखा है। अत. प्रतिमा के हाथ मे आहार धरना योग्य नही है।

ब्रह्मचारी जी ने भगवान् के उक्त आहारदान के प्रकरण मे प्रतिमा जी को पडगाहकर उनको दातार के द्वारा अष्टद्रव्य से पूजा करने को भी लिखा है सो यह भी अयुक्त है। इस प्रकार का विधान लिखने का इस प्रकरण को नाटकीय ढंग का रूप देने से हुआ प्रतीत होता है वर्ना प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे तो ऐसा कुछ लिखा नही है। अभी तो प्रतिमा की तिलक दान विधि ही नही हुई, तो उसके पहले उसकी अष्टद्रव्य से पूजा कैसे की जा सकती है। माना कि इस वक्त भगवान् मुनि अवस्था मे है पर यहाँ साक्षात् भगवान् तो नही है यहाँ तो उनकी मूर्ति है। अष्टद्रव्य से पूजने के योग्य मूर्ति प्रतिष्ठाविधि मे कब होती है यह तो विचार करना ही पडेगा। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे भी पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि के बाद

"अत्राष्टकं देयं" वाक्य देकर तिलकदान के बाद ही अष्टद्रव्य से पूजा करना बताया है। यहीं पर वचनिकाकार ने तिलकदान को प्रतिष्ठा का मुख्य कार्य बताया है। अर्थात् तिलकदान यह प्रतिष्ठा की मुख्य क्रिया-विधि है। इसके पहले मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा नही हो सकती है। इसी तिलकदान विधि मे अत्रावतरावतर आदि आह्वानादि मन्त्रों का प्रयोग कर भगवान् को मूर्ति मे स्थापन करने की भावना की जाती है। आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठापाठ पत्र १०८ मे तिलकदान विधि के हो चुकने बाद ही "तत्काल प्रतिष्ठितार्हत्प्रतिमां नमस्कुर्यात्" ऐसा लिखा है। अर्थात् उसी समय प्रतिष्ठित हुई अर्हतप्रतिमा को नमस्कार करे।

बिंब प्रतिष्ठा मे तिलकदान विधि कितनी मुख्य और महत्त्व की है इसके लिए आशाधर जी अपने प्रतिष्ठापाठ अध्याय ४ मे लिखते है कि—

द्रव्यै स्वैः सुनयार्जितैर्जिनपते बिंब स्थिरं वा चलं
ये निर्माप्य यथागम सुदृषदाद्यात्मात्मनान्येन वा।
लग्ने वल्गुनि लंभयति तिलकं पश्यंति भक्त्या च ये
ते सर्वेऽपि महोदयांतमुदयं भव्या. लभन्तेऽद्भुतम् ॥५॥

अर्थ—न्यायोपार्जित स्वद्रव्य से जो शास्त्रानुसार उत्तम पाषाण आदि की स्थिर व चल जिनप्रतिमा को बनाकर अपने या प्रतिष्ठाचार्य के द्वारा उत्तम लग्न मे तिलकविधि करते है और उस विधि को जो भक्ति से देखते है वे सब ही भव्य जीव महोदयात कहिये मोक्ष है अन्त मे जिसके ऐसे अद्भुत उदय को—अहमिंद्रादि पद को प्राप्त होते है।

मुद्रित जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में अशुद्धियाँ

आगे हम छपा हुआ जयसेन प्रतिष्ठापाठ जो इस वक्त प्रचार में आ रहा है उसके बाबत लिखते है—

आज से ३६ वर्ष पहले इस पाठ को सेठ हीराचन्द जी नेमीचन्द जी दोशी सोलापुर वालों ने छपाया था। इसके यागमण्डल पूजाविधान में

अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थो की तरह रागी द्वेषी देवो की कतई आराधना नहीं है। उसमे पंच परमेष्ठी सम्बन्धी पूजाविधान लिखा है। अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ इसमे देव शास्त्र गुरु की ही आराधना लिखी है तथा इसमे अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थों की तरह किसी भी विधान मे गोमय गोमूत्र का उपयोग नही किया है इत्यादि कारणो से यह प्रतिष्ठा पाठ अपनी खास विशेषता रखता है और अधिकतया श्रद्धा का पात्र बना हुआ है। किन्तु इस प्रतिष्ठा पाठ मे कहीं-कही हमे अशुद्धियाँ नजर आती है। खासकर वे अशुद्धियाँ जो मुख्यतया प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती है। उन पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये इसलिये यहाँ हम दूसरी अशुद्धियो को छोडकर प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी अशुद्धियो का ही उल्लेख करते है—

१—पृष्ठ ११७ के श्लोक ३७८ मे कहा है—

> आचार्येण सदा कार्य· क्रिया पश्चात् समाचरेत्।
> श्रीमुखोद्‌घाटने नेत्रोन्मीलने कंकणोज्झने ॥

अर्थ—आचार्य को श्रीमुखोद्‌घाट, नेत्रोन्मीलन और ककणमोचन मे सदा मातृकान्यास करना चाहिये। फिर अन्य क्रिया करनी चाहिये।

तथा पृष्ठ १३६ में मन्त्र नं० २५वाँ इस प्रकार है—"ओ नमोर्हते भगवतेऽर्हते सद्य सामायिकप्रपन्नाय ककणमपनयामि स्वाहा।" दीक्षास्थापनमन्त्र.। यही मन्त्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ मे भी भगवान् के दीक्षाग्रहण मे लिखा है। इस प्रकार जयसेनप्रतिष्ठापाठ मे उक्त दो स्थानो मे कंकण दूर करने का उल्लेख किया है। परन्तु ग्रन्थ भर मे कही भी किसी भी विधान मे जिनबिम्ब के ककण बाँधना नही बताया है तथा पृष्ठ १३६ मे "अट्ठविहकम्ममुक्का" आदि ३८वाँ मन्त्र मुखोद्‌घाटन का दिया है जिसे अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे ककणबन्धन का मन्त्र लिखा है। मगर जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के पृष्ठ २८३ मे जहाँ कि मुखोद्‌घाटन क्रिया का वर्णन किया है वहाँ यह मन्त्र न देकर अन्य ही वह मन्त्र लिखा है जो अन्य प्रतिष्ठा

ग्रन्थों मे पाया जाता है। इस प्रकार इस विषय में जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में खास गडबड़ नजर आती है।

२—पृष्ठ १३५ पर नं० ३०, ३१, ३२ के तीन मन्त्र दिये हैं दरअसल ये तीन मन्त्र नहीं है। तीनो का मिलकर एक ही मन्त्र है और उसका नाम जिनमन्त्र है। यही जिनमन्त्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पत्र ९६ पर लिखा है। इस मन्त्र का उपयोग जन्मकल्याणक मे किया जाता है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ २५६ मे इसे जन्मकल्याणक की विधि मे लिखा भी है वहाँ इसके दो मन्त्र बना दिये है। इस तरह एक ही मन्त्र जिनमन्त्र को कहीं ३ मन्त्रों मे विभाजित कर लिखना, कही दो मन्त्रों मे लिखना साफ ग्रन्थ प्रति की अशुद्धता को प्रकट करता है।

३—पृष्ठ १३६ मे नं० ३६ और ३७ के दो तिलक मन्त्र लिखे हैं। किन्तु पृष्ठ २७८ में जहाँ कि तिलक विधि का वर्णन किया है वहाँ जो तिलक मन्त्र लिखा है वह उक्त दोनो ही तिलक मन्त्रों से भिन्न हैं। यह भी इस ग्रन्थ की अशुद्धि को सूचित करता है।

४—दीक्षाकल्याणक में एक संस्कार मालारोपण की विधि की जाती है। इस विधि का मतलब ऐसा है कि भगवान् की मुनि अवस्था मे पंचाचारों के पालन करने से उत्पन्न होने वाली आत्मा की विशुद्ध-अवस्था विशेष के ४८ भेद करके उन भेदो को ही यहाँ अलग-अलग अड़तालीस संस्कार बना दिये हैं। उन संस्कारों को प्रतिमा मे आरोपण करना यही पंचसंस्काराारोपण विधि कहलाती है। इन संस्कारों मे से ११वाँ संस्कार जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे पृष्ठ २७२ पर 'शीलसप्तक' नामका लिखा है। यह नाम बिल्कुल गलत मालूम देता है। क्योकि तीन गुण-व्रतो और चार शिक्षाव्रतो को 'शीलसप्तक' कहते है जो श्रावक व्रतो के अन्तर्गत है। यहाँ मुनि अवस्था मे यह संस्कार कैसा ? आशाधर-प्रतिष्ठा-पाठ में इस नाम का कोई अलग संस्कार नही है। वहाँ ९वें संस्कार का नाम "त्रियोगासंयमच्युतेः शीलन" है जिसका अर्थ होता है त्रियोग के

द्वारा असंयम से अलग रहने का स्वभाव। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे इसी को दो नामो मे लिख दिया है—त्रियोगेन संयमाच्युति और शीलसप्तक। ऐसा लिखने की गलती से हुआ जान पडता है। इसी तरह इसमे जो ४४वाँ ४५वाँ संस्कार लिखे हैं वे भी आशाधर-प्रतिष्ठा पाठ मे नही है इन दोनो का अन्तर्भाव ४३वे संस्कार मे हो जाता है अतः ये निरर्थक है। कुछ सस्कार लिखने से रह गये हैं। इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ का यह प्रकरण कुछ अशुद्धियो को लिए हुए ज्ञात होता है। अफसोस है कि इस छपी हुई अशुद्ध प्रति से जितनी प्रतिष्ठाएँ अब तक हुई उन सब मे संस्कारो का आरोपण अशुद्ध रूप से ही हुआ।

५—जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि लिखी है। उसके श्लोक ८४९ के चौथे चरण के "निजाभिषिक्त्यै" वाक्य से यहाँ दही, दूब, सरसो, कपूर, अगर आदि से मिश्रित जल से यजमान की स्त्री को स्नान करने को कहा गया है। किन्तु वचनिकाकार ने "निजाभिषिक्त्यै" की जगह "जिनाभिषक्त्यै" पाठ मानकर अर्थ किया है "जिनका अभिषेक के अर्थि।" किन्तु यह अर्थ भी यहाँ ऐसा कुछ बैठता नहीं है। तथा यहाँ के मूल गद्य मे यजमान की पत्नी के द्वारा आचार्य के तिलक करने का विधान किया है किन्तु वचनिका मे इस गद्य का और यहाँ के श्लोक ८५०-५१ का कतई अर्थ नही है। सम्भव है जिस प्रति से वचनिका बनाई गई है उसमे ऐसा मूल पाठ नही हो। यहाँ के श्लोक ८५१ मे यह तिलक विघ्न-समूह के नाश करने के लिए बताया है। आचार्य के तिलक करने से विघ्नसमूह का नाश मानना भी अटपटा-सा ही है। और इस श्लोक मे 'विदधातु' क्रिया के स्थान मे 'विधातु' प्रयोग भी अशुद्ध किया है।

इस तरह यह प्रकरण इसमे अजीब सा हो गया है और ग्रन्थ की अशुद्धता को जाहिर करता है। शायद इसीसे ब्रह्मचारी जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ मे इस प्रकरण के इस प्रकार के कथन को नही अपनाया है।

६—पृष्ठ २८२ मे अधिवासना विधि के बाद "सर्वान् जनानपसृत्य

दिगम्बरत्वावगत आचार्य......" आदि गद्य पाठ दिया है जिसमें सब लोगों को हटाकर प्रतिष्ठाचार्य के नग्न हो जाने को कहा है। किन्तु वचनिका मे ऐसा कुछ भी नही लिखा है। इससे यही अनुमान होता है कि वचनिकाकार के सामने मूल प्रति मे यह पाठ नही था और इस कथन का आगे के विवेचन के साथ कुछ मेल भी नहीं बैठता है क्योंकि आचार्य के नग्न हुए बाद आगे यहाँ मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन इन विधियों का करना बताकर फिर आगे सूरिमन्त्र देने का विधान किया है। मुखोद्घाटन मे परदा हटाए बाद प्रतिष्ठाचार्य का नग्न रहना कैसे हो सकेगा? वैसे भी उसके लिए नग्नता का विधान अटपटा-सा ही नजर आता है और यहाँ यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन और सूरिमन्त्र इन तीन क्रियाओ मे से कौन सी क्रिया नग्न होकर की जावे। बल्कि आचार्य के नग्नता का कथन किये बाद, आगे वह कब वस्त्र धारण करे? ऐसा कुछ कथन ही नहीं किया है। इससे साफ प्रगट है कि यह कथन मूल में प्रक्षिप्त है। यह तो पहिले ही विचारणीय था ही फिर तुर्रा यह है कि ब्रह्मचारी जी ने अपनी तरफ से इसके साथ और नमक मिर्च लगा दिया है। वे अपने प्रतिष्ठा पाठ मे लिखते है कि—"फिर आचार्य नग्न हो जावे व ऐलकादि भी नग्न हो जावें (पृ० १४१) फिर आचार्य और मुनि आदि जो हो वह मिलकर सूरिमन्त्र पढे। दोनों कानों मे पढकर सर्वज्ञपना प्रगट करे (पृ० १४२) जयसेनप्रतिष्ठा पाठ मे तो कहीं मुनि ऐलक का नाम नही है, फिर न जाने ब्रह्मचारी जी इस काम मे मुनि ऐलक को क्यों ले आये? साथ ही प्रतिमा के कानों मे पढ़े जाने की बात भी बडी विचित्र है। प्रथमानुयोग आदि किसी भी प्राचीन शास्त्र में ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया कि जहाँ किसी मुनि ने प्रतिमा को सूरिमन्त्र दिया हो। वस्त्रधारी भट्टारकों ने ऐसा कहीं किया हो तो बात दूसरी है। आजकल जो सूरिमन्त्र दिया जाता है जिसे किसी को बताते नहीं है। उसका भी हाल सुनिए—"ओं भूर्भुवः स्वः ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य

धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" यह ब्राह्मण मत का गायत्री मन्त्र है। इसी मन्त्र के साथ असिआउसा आदि जैन मन्त्र जोडकर किसी ने मनघड़ंत सूरिमन्त्र बना डाला है।

इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ की मुद्रित प्रति मे यत्र तत्र अशुद्धियाँ नजर आती है। अत इसकी पुरानी हस्तलिखित प्रति की किन्ही शास्त्र भण्डारो से खोज होना बहुत ही जरूरी है। इस दिशा मे प्रतिष्ठाचार्यो को प्रयत्न करना चाहिए।

●

जैनधर्म और हवन

धर्म के तो भेद है—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। हवन करना यह श्रावको की क्रिया है, मुनियो की नही। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थो रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, चारित्रसार, वसुनन्दि श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार आदि मे यहाँ तक कि पं० आशाधर के सागारधर्मामृत मे भी श्रावको के लिए हवन करने का विधान कही नहीं बताया गया है। इन ग्रन्थो मे पूजा के प्रकरण मे भी हवन का कोई उल्लेख नहीं है। अगर हवन करना श्रावक का धर्म होता या जिनपूजाविधि का कोई अंग विशेष होता तो उसका कथन श्रावकाचार के ग्रन्थो मे अवश्य आता।

किसी लौकिक कार्य की सिद्धि के लिए कोई मन्त्र विद्या साधी जाती है उसमे भिन्न-भिन्न विद्याओ के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थो का हवन करना मन्त्र शास्त्रो मे बताया है परन्तु धार्मिक अनुष्ठान मे जपे जाने वाले मन्त्रो के साथ हवन का कोई नियम नही है। ज्ञानार्णव मे बहुत से उत्तमोत्तम मन्त्रो के जाप्य करने का वर्णन है परन्तु वहाँ उनकी आहुतियाँ देने का कोई कथन नही है। शास्त्रो मे पदस्थध्यान के वर्णन मे परमेष्ठीवाचक मन्त्रो का जाप्य तो बताया है पर उन मन्त्रो से हवन करना नही बताया है। जप तप ध्यान से तो बडी-बडी सिद्धियाँ होती है इसलिए जैन शास्त्रो मे जहाँ तहाँ इनकी तो बहुत महिमा लिखी है, हवन की नही। श्री समन्तभद्राचार्य ने भी "दयादमत्यागसमाधिनिष्ठ" इत्यादि कारिका मे जैन मत को अद्वितीयमत इसी कारण से बताया है कि उसमे दया, इन्द्रियसंयम, त्याग और ध्यान की मुख्यता है।

बहुत पुराने जमाने मे घृत मेवा मिष्ठान्न से हवन नहीं किया जाता था क्योकि ये मानव के पौष्टिक खाद्य है किन्तु उस धान्य से हवन किया जाता

था जो तीन वर्ष का पुराना हो जाने से न तो वह मानव के काम का रहता था और न कृषि के योग्य, क्योंकि खेत मे बोने से वह उग नही सकता था। ऐसे निकम्मे फालतू धान्य को इस काम मे लिया जाता था। उस वक्त की वह रस्म भी वैदिकमत की थी, न कि जैनमत की। क्योंकि "अजैर्यष्टव्यं" इस वाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद हुआ था उसमे नारद कहता था कि तीन वर्ष के पुराने धान्य जो बोने पर उगे नही वे अज कहलाते है उन अजों से हवन करना ऐसी वैदिकमत की मान्यता है। इसके विरुद्ध पर्वत का कहना था कि अज कहिये बकरो से हवन करना ऐसी मान्यता वैदिकमत की है। यहाँ दोनो ही ने वैदिकमत की मान्यता पर विवाद किया था। जैनमत का तो यहाँ कोई प्रसंग ही नही है। जैनधर्म तो दया प्रधान धर्म है, ऐसा आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है, तब उसमे बकरो से होम करने की बात कोई कहेगा ही क्यो और उसकी यह बात चलेगी भी कैसे। इसके लिये राजा वसु को साक्षी की भी कोई जरूरत नही थी।

तीन वर्ष के पुराने धान्य से हवन करने की रीति जैनमत की होती तो आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण मे गर्भाधानादि सस्कारो मे हवन के लिए तीन वर्ष का पुराना धान्य बताते। इसलिए पर्वत और नारद दोनो ही का विवाद वैदिकमत की मान्यता पर ही था। दोनो के गुरु क्षीरकदंब भी अजैन ब्राह्मण ही थे। पद्मपुराण और हरिवशपुराण मे लिखा है कि—वे शिष्यो को अरण्यक ग्रन्थ पढाते थे। अरण्यक यह वैदिकमत का ग्रन्थ। हाँ यह हो सकता है कि जैन दीक्षा लेकर क्षीरकदंब जैन हो गये हो। महाभारत शान्तिपर्व मोक्षाधिकार अ० ३३४ मे बताया है कि—

"एक बार ऋषियो और देवताओ के बीच अज शब्द पर विवाद चला। ऋषियों का पक्ष था धान्य से यज्ञ करने का और देवो का पक्ष था पशु बलि से यज्ञ करने का। राजा वसु से निर्णय माँगा गया, उसने पक्ष-

पात से अज का अर्थ बकरा बताया जिससे पशुबलि की प्रथा चली। ऋषि-शाप से वसु नरक गया।"

शान्तिपर्व २६९ श्लोक-२५, २६ तथा पर्व २७१ श्लोक-१-१३ में बताया है कि—"यज्ञों मे प्रारम्भ मे हिंसा नहीं होती थी। क्योंकि मनु ने अहिंसा को ही परमधर्म कहा है। सच्चा ब्राह्मण तो वह यज्ञ करता है जिसमे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।"

इससे भी यही सिद्ध होता है कि "अजैर्यष्टव्यं" का विवाद वैदिको मे ही आपस का था।

ब्राह्मण मत मे अग्नि को देवताओं का मुख माना है इसलिए उनके यहाँ अग्नि मे डाली वस्तु देवताओं को मिल जाती है। इसी माफिक उत्तर-पुराण पर्व ६७ श्लोक ३२९ से ३३१ मे कहा है कि—"तीन वर्ष के पुराने धान्य की बनी वस्तुओ से अग्नि रूप मुख मे देवता की पूजा करना-आहुति देना यज्ञ कहलाता है।" ऐसा अर्थ "अजैर्होतव्यं" का नारदने करके पर्वत को सुनाया था। इससे भी त्रिवर्ष धान्य से हवन करने का विधान वैदिक मत का ही जाहिर होता है। क्योंकि अग्नि को देवो का मुख माना ऐसा जैनो का मत नही है। इस प्रकार जैनधर्म मे तो तीन वर्ष के पुराने धान्य से भी हवन करने का विधान नही है।

पद्मपुराण पर्व ११ श्लोक-२४८ मे कहा है कि—ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जठराग्नि ये तीन अग्नियाँ इस शरीर मे ही है। विद्वानो को उन्ही मे दक्षिणाग्नि आदि तीनो अग्नियों का संकल्प करना चाहिये।" इस कथन से सिद्ध होता है कि रविषेण के वक्त तक जैनधर्म मे दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय इन तीन अग्नियों की कल्पना तीर्थकर-गणधर-सामान्य केवलियो के दग्ध शरीरो की अग्नियों में नही हुई थी।

पद्मपुराण के इसी ११वें पर्व के श्लोक २४१ से २४४ मे कहा है—"प्रथम तो यज्ञ की कल्पना ही निरर्थक है। दूसरे यदि कल्पना करनी ही है तो विद्वानों को हिंसायज्ञ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। उन्हें धर्मयज्ञ

ही करना चाहिये। वह इस तरह की आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, सन्तोष साकल्य है, त्याग होम है, मस्तक के केश कुशा है, प्राणियोंकी रक्षा दक्षिणा है, शुक्लध्यान प्राणायाम है, सिद्धिपद की प्राप्ति फल है, सत्य बोलना स्तम्भ है, तप अग्नि है, चंचलमन पशु है और इन्द्रियाँ समिधाये है। यही धर्मयज्ञ कहलाता है।"

पद्मपुराण के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि रविषेण के वक्त तक भी जैनधर्म मे अग्नि मे आहुतियाँ देने रूप यज्ञ की कोई प्रवृत्ति नही थी। उस वक्त वैदिक मत मे यज्ञ की जैसी प्रवृत्ति थी उसे भी उन्होने आध्यात्मिक रूपक मे ढाल कर उस तरह के यज्ञ करने का आदेश दिया है।

इसी तरह वैदिको के यहाँ देवाराधन मे जिस प्रकार यज्ञ स्वाहा आहुति शब्द प्रयुक्त हुए है उसी प्रकार हमारे यहाँ जैनधर्म मे भी ये शब्द प्रयुक्त हुये है, किन्तु इनका अर्थ हमारे यहाँ वैदिको से जुदा है। जल गध अक्षतादि अष्टद्रव्यों से भगवान् की पूजा करने को हमारे यहाँ यज्ञ कहा है।

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगंतुकाम. ।
आलंबनानि विविधान्यवलंब्य वल्गन्
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥

—नित्यनियम पूजा

पूजन के वक्त इष्टदेव के आगे स्वाहा शब्द बोलकर हमारे यहाँ द्रव्य अर्पण किया जाता है। और पूजा के अन्त मे जो अर्घ दिया जाता है वह पूर्णाहुति कहलाती है। इस पूर्णाहुति शब्द का प्रयोग पं० आशाधर ने स्वरचित प्रतिष्ठापाठ मे अनेक जगह किया है। इससे फलितार्थ यही निकलता है कि जैनमत मे भी यज्ञ करना बताया है परन्तु वह ब्राह्मणो की तरह अग्नि मे आहुतियाँ देने रूप नही बताया है किन्तु पूज्य के आगे द्रव्य अर्पण करने रूप बताया है।

यशस्तिकलचम्पू आश्वास ४ पृ०–१०५ पर दिगम्बर धर्म पर ऐसे आक्षेपका उल्लेख किया है।

न तर्पणं देवपितृद्विजानां
स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता।
श्रुतेः स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते
धर्मे कथं पुत्र दिगंबराणाम्।

अर्थ—जिस धर्म मे देव-पितृ-द्विजो का तर्पण नहीं हैं। न स्नान (जैन साधु स्नान नही करते) और न होम की जहाँ वार्ता हैं और जो श्रुति स्मृति से अत्यन्त बाह्य है ऐसे दिगम्बर के धर्म मे हे पुत्र, तेरी बुद्धि क्यों है?

इस आक्षेप से क्या यह सिद्ध नहीं होता हैं कि प्राचीन काल में दिगम्बर मत मे कतई हवन की प्रथा नही थी। साधारण तौर पर भी सोचा जाये कि—किसी का पूजा सत्कार करने मे चीजें उसे भेट मे देनी है उन चीजों को उसे न देकर उसके आगे अग्नि जलाकर उसमे उन्हे भस्म कर देना यह क्या कोई बुद्धिमानी है और ऐसा भी क्या कोई पूजा का तरीका है?

वैदिक मत में "अग्निमुखा वै देवाः" ऐसा श्रुति वाक्य है। जिसका अर्थ होता हैं "देवगण अग्निमुख वाले होते हैं।" यानी जो चीजें अग्नि मे हवन की जाती हैं वे देवताओं को पहुँच जाती है। ऐसा सिद्धान्त वैदिक मत का है अतः वैदिक लोग इस सिद्धान्त के माफिक अग्नि मे हवन करते है। किन्तु जैनों का तो ऐसा सिद्धान्त नहीं है फिर वे क्या समझ कर अग्नि में हवन करते है। जैनमत में तो देवों को अमृतभोजी लिखा है उनको हमारे खाद्यपदार्थों से प्रयोजन ही क्या है? यही बात सोमदेव ने भी हवन का निराकरण करते हुये यशस्तिलक उत्तरखंड पृ० १०९ में इन शब्दों में लिखी है—

"सुधाधसः स्वर्गसुखोचितागाः
खादंति किं वह्निगतं निलिम्पा.।"

अर्थ—स्वर्गीय सुखो मे पलने वाले अमृतभोजी देवता क्या अग्नि मे प्राप्त हुये खाद्य पदार्थो को खाते है, नही खाते है।

लौकिक कार्यो के साधनार्थ मन्त्रशास्त्रो मे वश्य, आकर्पण, स्तंभन, मारण, उच्चाटन आदि कर्म लिखे है जिनमे साधक को मन्त्र का जाप्य करना पडता है और हवन भी करना पडता है। हवन अलग-अलग मन्त्रों मे अलग-अलग पदार्थो का होता है। विद्यानुशासन मे लिखा है कि—

"कनेर के फूलों के हवन से स्त्रियो का वशीकरण होता है। सुपारी के फल-पत्तो के होम से राजा लोग वश मे होते है। घृत मिले आम्र फलो के होम से विद्याधरी वश मे होती है। घृत सहित तिलो के होम से धन-धान की वृद्धि होती है। इत्यादि" और लिखा है—होम से उस मंत्र का अधिष्ठाता देवता तृप्त होकर साधक के आधीन हो जाता है—

जपादविकलो मत्रः स्वशक्तिं लभते पराम्।
होमार्चनादिभिस्तस्य तृप्ता स्यादधिदेवता॥

अर्थ—अविकल जप करने से मत्र मे उत्कृष्ट शक्ति पैदा होती है। और हवनपूजादि से उस मंत्रका अधिष्ठाता देवता तृप्त हो जाता है।

ये सब बाते मंत्रशास्त्रो से संबंध रखती है। इनका धार्मिक पूठापाठो के साथ कोई सरोकार नही। भगवान् पंचपरमेष्ठी की आराधना रूप मंत्रों मे मत्रो के अधिष्ठाता देव पचपरमेष्ठी है वे वीतरागी है। उनका होम से तृप्त होने का और साधक के आधीन होने का कोई प्रश्न ही नही है। अतः धार्मिक अनुष्ठान मे हवन की कोई आवश्यकता नही है। सोमदेव ने भी यशस्तिलकचंपू उत्तरखड पृष्ठ—१०९ मे "षट्कर्मकार्यार्थ" इत्यादि श्लोक मे स्तंभन मोहन आदि षट्कर्म के कार्य मे ही होम को माना है। धर्मकार्यों के लिये नही। इससे यही सिद्ध होता है कि हवन का संबंध सिर्फ लौकिक मंत्र विद्या के साथ है। हवन ही क्या मंत्र विद्या के साथ

तो दिया, काल, मुद्रा, आसन, पल्लव, माला आदि अन्य भी कई बातों का विचार रखना पडता है। किसी-किसी मंत्र साधन में तो घृणित वस्तुओं का उपयोग भी बताया है। इसके लिये देखिये "भैरव पद्मावतीकल्प" नामक मंत्र ग्रन्थ।

उक्त स्तंभन, मोहन आदि षट्कर्मों के साथ शान्ति, पुष्टि मिलाने से ८ कर्म भी मंत्रशास्त्रों मे माने गये है। इस शांतिकर्म के लिये भी दिशा, काल, मुद्रा आदि के नियम लिखे है। जैसे लिखा है कि—मुख पश्चिम में रहे, समय अर्द्धरात्रि का हो, पद्मासन, ज्ञानमुद्रा, स्फटिक की माला, स्वाहा पल्लव, आसनसफेद, मध्यमागुली से माला फेरना, अग्निकुण्ड चौकोर, होम की समिधा ९ अंगुल की हो। यह मात्रिक, शातिकर्म है। इस मान्त्रिक शातिकर्म से जुदा एक धार्मिक शान्तिकर्म भी होता है। जिसमे पंचपरमेष्ठी संबंधी मण्डल पूजा विधान, जाप्य, स्तुति, (सहस्रनाम स्तोत्र का पाठ) अभिषेकादि रूप धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है। इस धार्मिक शातिकर्म मे दिशा काल मुद्रा आसन आदि नियमो का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। न इसमे होम करने की जरूरत है। भगवज्जिनसेन ने आदि पुराण मे ऐसे ही शातिकर्म का उल्लेख किया है। जिस वक्त भरत चक्री को अशुभ स्वप्न आये थे तो उनके दोष निवारणार्थ उन्होने शान्तिकर्म किया था। उसका कथन करते हुए आदिपुराण मे लिखा है कि—

शातिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशांतये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितै.॥

अर्थ—जिनेन्द्र का अभिषेक, सत्पात्रों को दान इत्यादि पुण्यकार्यों से भरत ने दुःस्वप्नों और अरिष्ट (अशुभसूचक उत्पात) की शान्ति के लिए शान्तिकर्म किया।

जो लोग शान्तिकर्म मे हवन को मुख्य-स्थान देते है। उन्हे आदिपुराण के इस कथन पर ध्यान देना चाहिये। अगर शांतिकर्म मे हवन एक मुख्य चीज होती तो आचार्य जिनसेन उसका नाम दिये बिना नहीं रहते। उन्होने

तो पूजा, दान को प्रधानता दी है। अर्हद्भक्ति और त्याग यही तो जैन-धर्म के प्राण है और सच्ची व स्थायी शान्ति भी इन्ही से मिल सकती है। साथ ही बडे-बड़े विघ्नो और उपद्रवों के मिटाने का भी ये ही अमोघ उपाय है। पं० आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ मे इसी प्रकार का शान्तिकर्म लिखा है। लिखते है कि—

"अष्ट दल के कमल के मण्डल मे लघुशान्तिकर्म की विधि और ८१ कोठों के मण्डल मे बृहत् शान्तिकर्म की विधि करनी चाहिये। ध्यान के माफिक ही उसका फल समझना चाहिये। विघ्नो की शान्ति के लिए दोनों शान्तिकर्म यथायोग्य, यथाविधि करने चाहिए।" इन दोनो शान्तिकर्मों मे उन्होने सिर्फ पञ्चपरमेष्ठी व जयादि देवी-देवो की आराधना पूजा (जैसी कि उनकी आम्नाय थी) और भगवान् का अभिषेक करना बताया है। हवन करने का कथन नही किया है। सिद्धचक्र मण्डल-विधान भी इसी तरह का शान्तिकर्म है। इसमे अनेक कवियो की संस्कृत रचनाओ का संग्रह है। इसका संकलन भट्टारक शुभचन्द्र ने किया है। इसमें कही भी हवन करने का नाम निशान नही है। तथापि वर्तमान मे हर अष्टाह्निका मे जैन समाज मे कई जगह इस पुस्तक से सिद्धचक्र मण्डल विधान किया जाता है। उसमे हजारो की सामग्री अग्निमे फूँक दी जाती है। इसे हम उत्सूत्र प्रवृत्ति ही कह सकते है।

यहाँ तक हमने इस लेख मे शास्त्राधार से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जैनधर्म मे धार्मिक अनुष्ठान करने के लिये हवन करने का कही कोई विधान नही है। अब हम आदिपुराण मे उल्लिखित हवन पर विचार करते है—

एक वक्त ऐसा गुजरा था कि हमारे इस देश में ब्राह्मण धर्म का प्राबल्य था तब हवन आदि क्रिया-कांडो का प्रचलन जोर-शोर पर था। उस वक्त जिनके हवनादि पूर्वक गर्भाधानादि संस्कार होते थे वे आर्य

कहलाते थे और उच्च श्रेणी के माने जाते थे। ऐसी परिस्थिति मे जैनधर्म की रक्षा और उसकी प्रतिष्ठा रखने के लिए हमारे आचार्य जिनसेन को भी आधानादि संस्कारों और उनके सम्पादनार्थ हवनादि क्रिया-काण्डों की सृष्टि करनी पड़ी है। जिसका वर्णन आदिपुराण मे लिखा मिलता है। उस वर्णन को गम्भीरता से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतिभासित होने लगता है कि—जब जिनसेन स्वामी को ऐसा नजर आया कि ब्राह्मण धर्म का असर जैनधर्म के मूल आचार-विचारों पर तो नहीं पड रहा है। किन्तु जैनी लोग अपने पडौसी वैदिक मतवालों की देखा-देखी विवाह, जातकर्म, शिलान्यास, नूतन गृह प्रवेश आदि लौकिक कार्यों को ब्राह्मण रीति से कराने लग गये हैं। यह भी चीज जैनधर्म के लिये अवज्ञा की है। इसके लिए भी जैन जनता क्यों परमुखापेक्षी रहे ? और क्यो वैदिक मत का सम्पर्क करे ? यही सब सोचकर आचार्य श्री ने लौकिक क्रियाकाण्डों का जो प्रवाह चल पड़ा था उसे रोकना मुश्किल समझ कर उसके विधिविधानों मे वैदिक आम्नाय के अनुसार देव गुरु अग्नि की साक्षी का उपयोग किया जा रहा था उनकी जगह उन्होने जैन आम्नाय के अनुरूप देव, गुरु, अग्नि के समक्ष मे विधि-विधान किये जाने की योजना चालू की। तदर्थ उन्होंने पीठिकादि हवन मन्त्रो, गार्हपत्यादि अग्नियो, तीर्थकरादि अग्निकुण्डो और गर्भाधानादि संस्कारों का प्रतिपादन किया है। साथ ही इन कामों के कराने वाले ब्राह्मण भी चाहिये तो इसके लिए उन्होने जैन ब्राह्मण बनाने के उपाय भी बताये है। उन जैन ब्राह्मणो को खास तौर से हवनादि करने का आदेश देते हुए आदिपुराण पर्व ४० मे लिखा है कि—

"तीनो प्रकार की अग्नियो मे मन्त्रों के द्वारा पूजा करनेवाला द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकार की पूजा नित्य होती रहती है वह अग्निहोत्री कहलाता है। घर मे बडे यत्न के साथ इन तीनों अग्नियों की रक्षा करनी चाहिये। जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे अन्य लोगों को कभी नही देनी चाहिये। ब्राह्मणों को व्यवहारनय की

अपेक्षा ही अग्नि की पूज्यता इष्ट है। इसलिये जैन ब्राह्मणो को भी आज यह व्यवहारनय उपयोग मे लाना चाहिये।"

आदिपुराण के इस सब कथनो से साफ तौरपर यही प्रकट होता है कि श्री जिनसेनाचार्य ने दो जगह हवन करना बताया है। एक तो गर्भाधान-विवाह आदि लौकिक कार्यो मे और दूसरे जैन ब्राह्मणत्व के लिये। इनके सिवा जिनालय मे मण्डल पूजा विधान आदि अन्य धार्मिक अनुष्ठानो मे हवन किये जाने का अभिप्राय जिनसेन स्वामी का ज्ञात नही होता है। और यह अग्नि हवन भी गृहस्थी के घर पर ही होना चाहिये, न कि जिन मन्दिर मे। विवाह मे तो आमतौर पर हवन घर पर होता ही है और ब्राह्मणो के लिये स्वय आचार्य श्री ने स्पष्टतया घर पर हवन करने को कहा ही है। अन्य गर्भाधानादि सस्कार भी लौकिक होने से उनका हवन भी घर पर ही होना योग्य है। रही मूर्तिप्रतिष्ठा और वेदीप्रतिष्ठा म हवन की बात सो लौकिक मे नये घर मे प्रवेश करते समय हवन किया जाता है। उसी की देखा देखी नूतन मन्दिर मे श्री जी को पधराते वक्त भी हवन की प्रथा चल पडी है इससे इसकी गणना भी लौकिक विधान मे ही जायेगी। इसे भी करना ही है तो सक्षिप्त रूप से कर लेना चाहिये। शान्तिमन्त्र का जितनी सख्या मे जाप्य हुआ है उसके दसवे हिस्से की आहुतिया देना ऐसा यहा कोई नियम नही है। ऐसा नियम तो किसी मन्त्र विद्या के साधनो मे कहा गया है।

हवन यह जैनधम की मूलसस्कृति नही है। जैनधर्म की मूल चीज है अन्तरग मे राग-द्वषादि कषायो की विजय और बाह्य मे जीव दया का पालन। ये दोनो ही हवन मे घटित नही होते है। हवन से अग्निकायिक जीवो की विराधना होती है। दूर दूर तक फैलने वाली अग्नि की गरम-गरम धुवे से वायुकाय आदि जीवो का विघात एव मक्खी-मच्छर आदि उडने वाले छोटे-छोटे त्रस जीवो को बाधा आदि तो प्रत्यक्ष ही दीखती है। साथ ही उसके काले धुँवो से मन्दिर की सफेद

दीवारो पर के सुन्दर चित्रो, छत्र-चामरो और बहुमूल्य चन्दोवो की भी खासी मिट्टी पलीद हुये बिना नही रहती हैं। इससे कभी-कभी आग लगने की भी सम्भावना रहती है। इस प्रकार हवन से सिवाय हानि के कोई लाभ नही दीखता है। अहिंसामय जैनधर्म मे यह निरर्थक सावद्य क्रिया कैसे पनप रही है? आज के जमाने मे घृत, मेवा, मिष्ठान्न फलादि पदार्थ वैसे ही मँहगाई की पराकाष्ठा तक पहुच कर जनसाधारण के लिये अत्यन्त दुर्लभ हो गये है। उनको अग्नि मे जला कर धर्म मानना इससे बढ-कर अन्य क्या अज्ञानता हो सकती है? सिद्धचक्रादि विधानो मे हजारो रुपयो की सामग्री जला कर खाक की जाती हैं। अगर ये ही रुपये दीन अनाथो के भी काम मे लगाये जाये तो कितना पुण्य हो। यह भी तो सोचना चाहिये कि अग्नि मे घृतादि जलाने के साथ धर्म का सम्बन्ध कैसे है? अविचार पूर्ण क्रियाओ का कोई फल मिलने वाला नही है। धर्म का असली तत्त्व छिपा जा रहा है और थोथे क्रियाकाण्डो का जोर बढता जा रहा है। विवेकी विद्वान् मन मे सब कुछ जानते हुए भी अल्पज्ञ लोगो की रुख के विरुद्ध कदम उठाने का साहस नही कर रहे यह बडे ही परिताप का विषय हैं।

●

आशाधर प्रतिष्ठापाठ में नवग्रहों का अद्भुत वर्णन

विद्वत् समाज मे पं० आशाधर जी की विद्वत्ता की धाक आज ही नहीं सदियों से चली आ रही है। इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर ही पिछले क्रियाकाडी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं मे प्रायः इन्हीं का अनुसरण किया है। बल्कि इनकी ऐसी ही रचनाओं का बल पाकर ही दि० जैनधर्म मे संहिता, त्रिवर्णाचार, प्रतिष्ठापाठ, पूजा अभिषेक पाठादि क्रियाकाडी साहित्य को भरमार हुई है। पं० आशाधरजी भी आचार व क्रियाकाड विषय के ही अधिकतर अभ्यासी मालूम पड़ते हैं, यही कारण है जो उनकी वैद्यक आदि लौकिक रचनाओके अतिरिक्त जैन रचनाओ मे कोई भी जैनसैद्धान्तिक ग्रन्थ नही पाया जाता है।

पं० आशाधरजी भले ही कोई भारी से भारी विद्वान् हुए हो परन्तु इसी के आधार पर उनका जो भी वक्तव्य हो उसे गले उतार लेना यह जैनधर्म की नीति नही है। जैनधर्म मे कोरी विद्वत्ता आदरणीय नही है, सम्यक्ज्ञान आदरणीय है चाहे वह थोडा ही हो। हमारे यहाँ आशाधरजी तो क्या ग्यारह अंग तक के पाठी भव्यसेन मुनि तक भी सम्यग्ज्ञान के अभाव से आशीर्वाद के पात्र नही समझे गये हैं, जबकि स्तोक ज्ञान वाली रेवती महिला आदरणीय मानी गयी है।

पं० आशाधरजी की रचनाओ मे कहीं-कही ऐसा भी कथन पाया जाता है जिसकी संगति इतर मान्य जैनग्रन्थो से नही बैठती, जिसे पढ-सुन कर आश्चर्यचकित हो जाना पडता है और कहना पडता है कि इस प्रकार का बेढंगा कथन आशाधरजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान् की कलम से कैसे लिखा गया। नीचे हम ऐसे ही एक प्रकरण को पाठकों के सामने बतौर नमूने के पेश करते हैं। यह प्रकरण प्रतिष्ठासारोद्धार नामक ग्रंथ के दूसरे

अध्याय में पाया जाता है। यह ग्रन्थ छप चुका है किन्तु बहुत अशुद्ध छपा है। कहीं-कहीं श्लोकों का हिन्दी अनुवाद भी किया हुआ है, अनुवाद में काफी गलतियाँ भरी हुई हैं। अनुवाद की स्थिति यह है कि कहीं तो श्लोक का पूरा अनुवाद किया है कहीं अधूरा किया है तो कहीं किया ही नहीं गया है। इसलिए पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत विषय के श्लोकों को शुद्ध पाठ और पूरे सही अनुवाद के साथ यहाँ हम दे देना उचित समझते हैं—

ऊर्ध्वं विस्तीर्णमंशान् वसुजलधिमितान् योजनस्यैकषष्ठान्
मुक्त्वाष्टौ तच्छतानि क्षितिमनिलघृतं खे सहस्रैश्चतुर्भिः।
पूर्वाद्याशानुपूर्व्या पृथगिभभिदिभोक्षार्वदेवैर्विमानं
स्वारूढो नीयमानं दशशतशरदन्वीतपल्योत्तमायुः ॥२७॥
त्वं तोष्टा तापसेष्टया कमलकर हरिद्वाह नेता ग्रहाणा
नैवेद्यैः सानुगोऽर्केन्धनश्रृतपरमान्नोद्यसर्पिर्गुडाद्यैः।
गंधैः पुष्पैः फलैश्चोत्तमघुसृणजपापक्वनारंगपूर्वै-
स्तादृक्षैश्चाक्षताद्यैरिह हरिहरिति प्रीणितः प्रीणयास्मान् ॥२८॥

जो विमान ऊपर की तरफ एक योजन के ६१ भागो मे से ४८ भाग प्रमाण चौड़ा है। और जो पृथ्वी को आठ सौ योजन छोडकर आकाश में पवन पर स्थित है, तथा जो पूर्वादि दिशाओं मे क्रम से सिंह, हाथी, बैल, घोड़ा इन रूप के धारी पृथक् चार-चार हजार देवताओं के द्वारा ले जाया जाता है ऐसे विमान पर जो भले प्रकार आरूढ है और जिसकी एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है। जो ग्रहो का नेता है ऐसे है हाथ मे कमल वाले अश्वारोही सूर्य, तू तापस को पूजने से प्रसन्न होनेवाला और आकड़े की लकडी की अग्नि से पकाई खीर, तपाये घृत, गुडादि तथा नैवेद्यों से सानुकूल रहने वाला यहाँ पूर्वदिशा मे उत्तम केशर, जपा-पुष्पो, पके नारंगी फलों तथा इसी तरह के अक्षतादिकों से पूजा हुआ हम पर प्रसन्न हो।

तद्बिंबादुरुबिंबमष्टभिरितो भागैश्चरद्योजना-
शीत्योर्ध्वं तदिवाब्दलक्षयुतपल्यैकायुरग्नेर्दिशि ।
शीतांशो सरलाज्यकिंशुकसमित्सिद्धान्नदुग्धादिभि-
स्त्व कापालिकसत्क्रियाप्रिय इह धाय ग्रहाग्रप्रभो ॥२९॥

उस सूर्य विमान की चौडाई से ८ भाग अधिक जिसकी चौडाई है अर्थात् एक योजन के ६१ भागो मे से ५६ भाग प्रमाण जो चौडा है, और जो सूर्यबिम्ब से ८० योजन ऊपर सूर्य के वाहक देवो सदृश देवो द्वारा उसी तरह चलाया हुआ विचरता है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसकी एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य की आयु है। ऐसा हे सब ग्रहो का प्रधान-स्वामी चन्द्र, तू कापालिक साधु के सत्कार करने से प्रसन्न होने वाला यहाँ अग्निदिशा मे देवदारु की धूप, पलाश की लकड़ी से पकाया अन्न, दुग्धादि से तृप्त हो।

त्र्यूने बिंबमितोऽकयोजनशते क्रोशार्धमात्रं क्षिते-
र्वाह्यं द्विद्विसहस्रकेसरिमुखैर्भिक्षुप्रिय. शूलभृत् ।
पल्यार्धायुरपाक् कुजात्र खदिराभृष्टैर्गुडाज्योत्कटै
सतुष्टो यवसक्तुभिर्घृ तयुतैर्दुर्ग्रादिभिर्धूप्यसे ॥३०॥

इस खरपृथ्वी से तीन कम नव सौ योजन की ऊँचाई पर पूर्वादिदिशाओं मे क्रम से दो दो हजार सिहादि रूप वाले देवो द्वारा जो ले जाया जाता है, जो आधे कोश का चौडा है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसे भिक्षु-साधु प्रिय है और जिसकी आधे पल्य की आयु है ऐसा हे त्रिशूलधारी मंगल, तू इस दक्षिण दिशा मे खैर की आग मे भुने, उत्कट गुड, घृत मिले जवो के सत्तुओ से सन्तुष्ट रहने वाले तेरे घृत मिले गुग्गुलादि की धूप देता हूँ ।

बिंब खं शशिनोऽष्टयोजनमतीत्योर्ध्वव्रजद् भूर्जवत्
क्रोशार्द्धप्रमितं कुजस्थिनिरितो वर्णीष्टिमुत् पुस्तकम् ।

बिभ्रत् त्वं विधुजोपवीतयुगपामार्गेधसिद्धौदन-
क्षीरंसर्जरसाज्यधूपमजगो रक्षोदिशि स्वीकुरु ॥३१॥

चन्द्रविमान से आठ योजन ऊपर आकाश को उलांघ कर जो मंगल की तरह विचरता है और जो आधे कोश प्रमाण चौडा है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसकी मंगलवत् आधे पल्य की आयु है, जो वर्णी को पूजने से हर्षायमान होता है, बकरे की जिसके सवारी है ऐसा पुस्तक और जनेऊ का धारी हे बुध, तू अपामार्ग की लकडी से पकाये भात, खीर व घृत मिली राल की धूप को नैऋत दिशा मे स्वीकार कर।

तच्चाराद् रसयोजनैरुपरि यात्तद्वद् विमानं मना-
गूनक्रोशमितः सपुस्तककमंडल्वक्षसूत्रोऽब्जगः ।
पल्यैकायुरिहोपवीतरुचिरोरस्क परिव्राड्रतः
प्रत्यक् पिप्पलपक्वपायसहविर्धूपैर्गुरोऽभ्यर्च्यसे ॥३२॥

उस बुध के विमान के विचरने के क्षेत्र से छह योजन ऊपर बुधविमान की तरह ही चलने वाला, कुछ कम एक कोश प्रमाण चौड़ा ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जो पुस्तक कमंडलु जपमाला सहित है, जो कमल पर बैठा है, जिसकी एक पल्य की आयु है, जिसका उरस्थल जनेऊ से मनोहर है और परिव्राट् कहिये भागवतीसाधु मे प्रीति रखता है ऐसा हे बृहस्पते, तुझे पश्चिम दिशा मे यहाँ पीपल की लकडी से पकी खीर व नैवेद्यों, धूपो से पूजता हूँ।

सौम्यात्खेऽध्युषितस्त्रियोजनमतिक्रांतेऽभ्रयानं तथा
प्रेयं क्रोशततं त्रिसूत्रफणभृत्पाशाक्षसूत्रैः स्फुरन् ।
प्रीतः पाशुपते सवर्षशतपल्यायुः प्लवस्थो मरुत्-
काष्ठायां गुडफल्गुपाचितयवान्नाज्यैः कवे पूज्यसे ॥३३॥

बुध के विमान से ३ योजन ऊपर आकाश में जो बुधविमान की तरह ही विचरता है और जो एक कोश प्रमाण चौड़ा है ऐसे विमान पर जो

आरूढ है। जनेऊ नागपाश जपमाला से जो स्फुरायमान है जिसकी एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य की आयु है। जो पाशुपत कहिए शिवमत के साधु मे प्रीति रखता है और जो मेढक पर बैठा है ऐसा हे शुक, तुझे वायुकोण मे काकोदुबर काष्ठ से भुने हुए यवान्न व गुड, घृत से पूजता हूँ।

क्रोशार्द्ध पृथु योजनैस्त्रिभिरपर्यभ्रे कुजान्मडल,
तद्वद्गत् गतोऽर्धपल्यपरमायुष्कस्त्रिसूत्रीयुत ।
नीतस्तृप्तिमुदक् शमीधनभृतैर्माषैस्तिलैस्तदुलै
रालाज्यागुरुणेज्यसे श्रमणमुन्नैपालपूज्य शने ॥३४॥

जो आधे कोश का चौडा है, जो मगल के विमान से तीन योजन ऊपर आकाश मे मगल विमान की तरह ही विचरता है ऐसे विमान पर जो आरूढ है जिसकी आधे पल्य को उत्कृष्ट आयु है, जो जनेऊ का धारी है और नेपाल देशवासियो से पूजा जाता है तथा जो श्रमण कहिये बौद्ध साधु मे प्रीति रखता है ऐसा शने तू शमी की लकडी से पकाये उडद तिल तन्दुलो से तृप्त होने वाला तुझे उत्तर दिशा मे राल घृत अगुरु से पूजता हूँ।

त्यक्त्वारिष्टदरोनयोजनततस्वव्योमयानध्वज,
चत्वारि व्रजदगुलान्यहरह षष्ठे च मास्यैदवम् ।
बिब छादयिता तदशुनिवहै राहो द्विजार्चामहो,
दूर्वापिष्टपयोघृताक्तजतुधूपेनेशदिश्यर्च्यसे ॥३५॥

श्याम मणि का बना, कुछ कम एक योजन का चौडा ऐसे अपने (राहु के) विमान की ध्वजा को चार अगुल छोडकर चलनेवाले चन्द्रबिंब को अपने उस विमान की श्याम किरण समूह से जो प्रतिदिन और छठवें मास मे ढकनेवाला है और ब्राह्मण को पूजने से जिसे आनन्द होता है ऐसा हे राहो तुझे ईशानदिशा मे दूब की अग्नि से पकाये आटे दूध व घृत मिली लाख की धूप से पूजता हूँ। (यह राहु के द्वारा नित्य और छह

मास मे चन्द्रमा को ढकना कहा है वह नित्य राहु और पर्वराहु दोनों राहुओं की अपेक्षा से कहा है)

षष्ठे षष्ठ उपेत्य मासि तपनस्यें दोस्तमोबिंबवद्
बिम्बाद् बिंबमधश्चरन्मलिनयत्यंशूद्गगमैस्तद्वियत्
दर्शांतेऽधिवसन्निहोर्ध्व-दिशि तत्केतो सकुल्माषकं,
स्फूर्जत्केतुसहस्रदेहसकुशं बिल्वाज्यधूपं भज ॥३६ ॥

सूर्य के विमान से नीचे चलनेवाला जो विमान छठवें छठवें मास मे सूर्य के निकट आकर चन्द्र को आच्छादित करने वाले राहु की तरह अपनी निकलनेवाली किरणों से अमावास्या के अन्त मे उस सूर्य विमान के आकाश को मलिन करता है ऐसे विमान पर आरूढ़ हे केतो, हे देदीप्यमान हजार ध्वजा रूप देह वाले, तू ऊर्ध्वदिशा मे कुलथ व डाभ सहित घृत मिले बिल्व की धूप को ग्रहण कर।

यह है नवग्रहों का वर्णन। इसमे सूर्यादि-विमानों की चौड़ाई, पृथ्वी से उनकी ऊँचाई, उनके वाहक देवो की संख्या रूप व सूर्यादिदेवो की आयु का प्रमाण बस ये ही कथन सिर्फ जैन शास्त्र सम्मत है शेष ऊल-जलूल कथन है और वह सब जैनधर्म से बाहर का है इनकी चर्चा अभी न करके पाठको का ध्यान मै दो बातो पर ले जाना चाहता हूँ। एक तो यह है कि—ज्योतिष्क देवों का वर्णन प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र और उसके अनेकों भाष्यो व त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि इस विषय के शास्त्रों मे पाया जाता है। वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे ऐसे ५ प्रकार के ज्योतिषी देव लिखे हैं जिनमे सूर्य चन्द्रमा से ग्रहों का भेद अलग किया गया है और ग्रहो की संख्या ८८ लिखी है न कि ९। और उन ८८ मे भी कहीं भी चन्द्र सूर्य का नाम नहीं है। चन्द्र सूर्य तो जैनागम के अनुसार तमाम ज्योतिषी देवों के इन्द्र प्रतीद्र होते हैं भला इनकी गणना निम्नश्रेणीके ग्रहों में कैसे हो सकती है। सच तो यह है कि "नवग्रह" यह संज्ञा ही जैनधर्म की नहीं है।

दूसरी बात यह है कि—ऊपर लिखे श्लोको से यह जाहिर होता है कि—जो कोई इन ग्रहो से इष्ट वस्तु की प्राप्ति चाहे तो वह पहिले तापसी, कापालिक, पाशुपत आदि अन्यमत के साधुओ की सेवा पूजा करके उन्हे प्रसन्न कर लेवे तब ये ग्रह उसे वर दे सकते है। बिना ऐसा किये बाला-बाला खाली ग्रहो की ही पूजा कर लेने मात्र से ये ग्रह वर देने वाले नही है। आशाधरजी का यह अभिप्राय इसी अध्यायके श्लोक २४ से और भी अच्छी तरह स्पष्ट होता है। देखिये

प्रारब्धा फणियक्षभूतक्रतुभिर्देहार्तिवित्तक्षति-
स्थानभ्रंशरसाद्यसाम्यविपदस्तत्कल्पना कल्पत ।
येष्विष्टेषु च तापसादिषु शमं यात्यागयित्वार्चिते-
ष्वालन्वतु गुरुप्रसाद वरदास्तेऽर्कादयो व· शिवम् ॥२४॥

जिन ग्रहो को उनकी स्थापना विधि से पूजने पर और तापस कापालिक आदि साधुओ को भोजन जिमाकर उनको पूजने पर नाग यक्ष भूत राक्षस से उत्पन्न हुई क्रम से देह पीड़ा, धनक्षय, स्थानभ्रष्टता और रसादि धातुओ की विषमता ये विपदाये शाति को प्राप्त होती हैं, ऐसे सूर्यादिग्रह उन तापसादिसाधुओ के प्रसाद से वर देने वाले है। वे तुम्हारा कल्याण करे। इस श्लोक के "तापसादि" वाक्य मे आये आदि शब्द से शेष साधुओं के कापालिक, पाशुपत आदि नाम ग्रहो के वर्णन मे आगे स्वयं आशाधरजी ने लिख दिये हैं इसलिये इसका खैचतान कर दूसरा तात्पर्य हो ही नही सकता हैं।

आशाधरजी का यह वर्णन कितना अनर्थ पूर्ण है, यह सरासर कुगुरु पूजा का प्रतिपादक है इससे अतिरिक्त मिथ्यात्व पोषक कथन अन्य क्या होगा ? जिस प्रकार आशाधर जी ने यक्ष यक्षी आदि रागीद्वेषी देव देवियो की आराधना अव्युत्पन्न सम्यग्दृष्टियो के वास्ते विधेय करार दी है, उसी प्रकार यह कुगुरु आराधना भी शायद उसी अपेक्षा से लिख दी हो।

कुछ भी हो विषय गंभीरता से विचारणीय अवश्य है। आशाधरजी की ही कृतियों से ऊब कर पहिले ही नरेन्द्रसेन ने इनको अपने गच्छ से निकाल दिया था ऐसा उल्लेख मिलता है। 'देखो 'भट्टारक संप्रदाय, पृ० २५२, तथा प्रस्तावना पृष्ठ २१।

शब्द शास्त्र के अनुसार इन श्लोकों का जो अर्थ निकलता है वह यहाँ प्रकट किया गया है। यदि इनका अन्य गूढ अभिप्राय हो तो विद्वज्जन प्रकट करें।

●

श्रमण का भिक्षा-धर्म

गृहस्थ भोजन देकर साधु पर कोई एहसान नहीं करता। शरीर के लिए मधुकरी वृत्ति से साधु जितना भोजन लेता है उसके बदले मे अनेक गुना समाज को लौटा देता है। पैदल गांव-गांव मे विहार कर और सरदी, गरमी, भूख, प्यास आदि के कष्टों को उठाता हुआ जनता मे जिस लगन के साथ अहर्निश धर्म का प्रचार करता है और उपदेश देकर ज्ञानामृत पिलाता है वैसा अन्य कोई बडे से बडा वेतन लेकर भी नही कर सकता है। यह साधु का महान् उपकार है। ऐसे सद्गुरुओ के चरणारबिन्दो मे शतशः प्रणाम है।

मनुष्य का जन्म होते ही उसे जीवित रहने के लिए खुराक की आवश्यकता भी साथ ही पैदा हो जाती है। किंतु नवजात शिशु उस वक्त इतना असमर्थ और निर्बल होता है कि वह अपनी खुराक आप कही से प्राप्त नही कर सकता है। उस वक्त प्रकृति उसका साथ देकर उसकी माता के स्तनो मे दूध पैदा करती है उससे उसका पोषण होने लगता है। खुराक की यह आवश्यकता मानव के जीवन के प्रारम्भ मे ही नही अंत तक चलती है। इसे ही जैनधर्म मे आहार संज्ञा बताई है। यह इतनी अनिवार्य है कि मुनिदीक्षा लेते वक्त चाहे अन्य सबका परित्याग कर दे पर इसका त्याग नही किया जा सकता है। कहा भी है कि—"अन्नं वै प्राणा." अन्न ही मनुष्य के प्राण है। तथापि जैन साधु के लिए जैनधर्म मे इसके सबंध मे भी पूर्ण स्वतंत्रता नही दी है। किन्तु कई एक नियमों का प्रतिबन्ध रक्खा है। जिसका विशद वर्णन जैनो के आचार शास्त्रों मे लिखा मिलता है। उन नियमो का खास ध्येय यह है—

कायो न केवलमयं परितापनीयो,
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः ।
चित्तेन्द्रियाणि न चरंति यथोत्पथेन,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम् ॥

अर्थ—अनशनादि तपों से न तो शरीर को एक-मात्र इतना सुखा देना चाहिए कि जिस से वह इतना अशक्त और निकम्मा हो जाये कि ध्यान स्वाध्यायादि आवश्यक कार्य भी न कर सके। और न स्वादिष्ट भोजनों से इस शरीर को इतना परिपुष्ट और सुखिया ही बनाना चाहिए कि जिससे वह संयम के पालन मे अवहेलना करने लगे एवं परीषह सहने मे कातर बन जावे। जैनधर्म मे तो वही तप सराहनीय बताया है जिससे इंद्रियाँ और मन अपने काबू मे रहे।। वे उन्मार्ग में न जा सकें।

यह माना कि आहार का ग्रहण साधु के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह इस दिशा में बिल्कुल स्वच्छंद बन जावे। उसकी दृष्टि यह होनी चाहिये कि—वह संयम की साधना के उद्देश्य से इस काया को आहार देता है वह रसना इंद्रिय की तृप्ति व शरीर को पुष्ट कर उसकी सुन्दरता की कामना से आहार नहीं करता है। आहार का त्याग मानव के लिये अशक्य है, किन्तु उसकी लम्पटता का त्याग तो साधु के लिये अशक्य नही है। अगर लंपटता भी नहीं छूटी तो वह साधु ही क्या हुआ। वह तो स्वादु हुआ। ऐसो ही को लक्ष्य मे रखकर एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मूँड मुँडाये तीन गुण शिर की मिटती खाज।
खाने को लड्डू मिलै लोग कहे महाराज ॥

आहार की लम्पटता का त्याग ही तो तप है। और तप के अर्थ ही दीक्षा ग्रहण की जाती है। सूत्रकार ने "तपसा निर्जरा च" इस सूत्र में बताया है कि—तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा तथा संवर दोनों होते हैं।

और "इच्छानिरोधस्तप" इच्छाओका रोकना ऐसा तप का लक्षण कहा है। यह निर्विवाद है कि—तपस्वी जीवन मे सबमे पहिला काम है इच्छाओ का दमन करना। उनमें भी भोजन की लपटता पर दमन करना तो साधु के लिये एक मुख्य चीज है। अगर ऐसा भी न कर मका तो उसे नाम मात्र का साधु कहना चाहिये। वह अभी मुनि जीवन की प्रथम सीढी पर भी नही चढ पाया है। साधु के लिए भोजन की गृद्धता एक बडा दुर्गुण है और इसी से जैन शास्त्रो मे १२ प्रकार के तपो मे प्रथम नाम अनशन तप का गिनाया है। प्राचीन महर्षियो ने जिह्वा लपटता मे बहुत दोष बताये है। यथा—

होई णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदसणचरित्त।
अमिस कलिणा छइओ छाय मइलेइ य कुलस्स॥

अर्थ—आहार का लोलुपी पुरुष निर्लज्ज हो जाता है। वह यह भी नही देखता कि मेरा पदस्थ क्या है? वह तो तपश्चरण, ज्ञानाभ्यास, दर्शन चारित्र सबको छोड भोजन मे पडता है। यहाँ तक कि मास, उच्छिष्ट, अभक्ष्यभक्षण मे भी आसक्त हो उत्तम कुल की काति को मलिन करता है।

अवधिट्ठाण णिरय मच्छा आहारहेदु गच्छति।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसित्थोवि॥

अर्थ—स्वयभूरमण समुद्र का महामच्छ जीवो का भक्षण करने से सातवे नरक मे जाता है। किन्तु सालिसिक्थ नाम का एक बहुत छोटा सा मत्स्य जो उस महामच्छ के कान मे रहता है जिसमे किसी जीव के भक्षण करने की सामर्थ्य नही है वह वहाँ बैठा-बैठा ही खाली जीवो के खाने की लालसा किया करता है इसी से वह भी उसी सातवे नरक मे जाता है।

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वचिओ सतो।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो सो गओ णिरय॥

अर्थ—सुभौमचक्रवर्ती जिसकी कथा पुराणो मे आती है। उसका एक बैरी देव उसे मारने को भेष बदल कर आया और उसको स्वादिष्ट फल चखाये। उन फलो को खाने की लालसा से ठगाया जाकर वह सुभौम उस देव के साथ हो गया और समुद्र मार्ग से जाता हुआ वह सपरिवार उस देव के द्वारा मारा जाकर नरक म गया।

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरपि भुजतयस्स आहार।
तित्तीए विणा चित उच्छूर उद्बुद होइ ॥

अर्थ—अनादि काल से आहार करते रहने पर भी इस जीव के तृप्ति नही हुई है और तृप्ति के बिना चित्त मे उद्वेग ही रहा है। बल्कि क्षुधा वेदना से आहार की चाह बढती रही है। यह सुधा तो वेदनीय कर्म के नाश से मिटेगी, आहार से नही।

अच्छिणिमेसण मित्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो।
गिद्धीए गिलइ वेग गिद्धीए विणा ण होइ सुह ॥

अर्थ—आहार के आस्वादन से उत्पन्न होने वाले सुख का काल नत्र के टिमकारने मात्र है। ज्यो-ज्यो ग्रास से रस निकलता जाता है त्यो-त्यो यह गृद्धता से उसे जल्दी-जल्दी निगलने लगता है। गृद्धता के बिना स्वाद का सुख नही और यह गृद्धता ही सब अनर्थों की मूल है।

अत साधु के लिये आहार लेने म दोष नही है। किन्तु आहार की लोलुपता रखने मे दोष है। लेकिन कभी कुछ कारण ऐसे भी आ उपस्थित होते है जिनकी वजह से साधु को आहार मात्र ही का त्याग करना पडता है। शास्त्रो मे आहार त्यागने के निम्नलिखित छह कारण बताये है।

१ शरीर मे ऐसी व्याधि पैदा हो जाने पर कि जिससे सयम न पल सके।
२ प्राण घातक उपसर्ग आ जाने पर।

३. इंद्रियों का दर्प और काम वासना की उत्कटता को रोकने के लिए।

४. मार्ग में प्रचुर जीव जन्तुओं का संचार हो जाने से उनका बचाव न हो सकने पर।

५. तपश्चरण के अभ्यास के लिए।

६. संन्यास की सिद्धि के अर्थ।

साधु को अपने से ममता नही है। इसलिए वह शरीर को बनाये रखने के लिए आहार नही लेता है। किन्तु उसे संयम द्वारा अपनी आत्मा को इस दु:खमय संसार से निकालना है। उस संयम की साधना शरीर के बिना नही हो सकती है इसलिये वह इस जड़ शरीर की आहारादि से सँभाल करता है। किन्तु साधु अपने शरीर की परवाह तभी तक करता है जब तक कि शरीर से उसका संयम पलता रहता है। जब कभी ऐसा अवसर आ जाय कि शरीर जाता है पर संयम रहता है तब वह संयम को ही रखने का उद्यम करेगा, शरीर भले ही जावे तो जावो। साधु को तो संयम ही अधिक प्यारा है। शरीर से तो उसका इतना ही सरोकार है कि— जैसे रोगी घाव पर बाँधने की पट्टी से प्रीति न होते भी उसकी सँभाल करता है क्योंकि वह घाव को मेटने मे सहायक है। उसी तरह साधु की शरीर से प्रीति न होते हुए भी संयम मे सहायक होने के कारण वह उसकी सार-संभाल करता है। साधु को अपने शरीर की सुन्दरता-असुन्दरता से भी कोई प्रयोजन नहीं है। उसे तो संयम के साधनार्थ किसी तरह इस शरीर को टिकाये रखने के लिये आहार मात्र देना है। व आहार रूखा-सूखा नीरस कैसा भी हो। हाँ इस सम्बन्ध मे भी वह इतना विचार जरूर रखता है कि आहार शुद्ध और प्रासुक हो तथा देने वाले ने साधु के लिये न बनाया हो। किन्तु अपने ही वास्ते बनाया हो साथ ही वह साधु को आदर और मान के साथ भक्ति-पूर्वक देता हो एवं दाता को किसी तरह की बाधा न

पहुँचती हो ऐसा आहार साधु के लिये ग्रहणयोग्य माना है। जैनशास्त्रो में साधु की भिक्षावृत्ति के संबध मे पाच उदाहरण बताये है। वे ऐसे कि—

१—जैसे उद्यान में घास चरने वाली गाय का ध्यान घास पर रहता है। उद्यान की शोभा पर नहीं उसी तरह भिक्षार्थ दाता के घर पर जाने वाले साधु की दृष्टि केवल भिक्षाप्राप्ति की ओर रहती है। उसे दाता के घर, स्त्री, सामान आदि की मनोज्ञता अमनोज्ञता से कोई प्रयोजन नही है। इसे गोचरीवृत्ति कहते है।

२—जैसे व्यापारी मालको ढोने के लिए गाडी को घृतादि से वागता है। उसी तरह साधु गुणो की भरी आत्मा को मोक्षपुरी मे ले चलने के लिए गाडीरूप शरीर को वाग की माफिक आहार देता है। इसे अक्षम्रक्षण-वृत्ति कहते है।

३—जैसे भण्डार मे आग लग जाने पर उसे जैसे-तैसे बुझाकर भडार के माल की रक्षा की जाती है। उसी तरह उदर मे लगी क्षुधारूप आग को साधु रस नीरस रूखा-सूखा भोजन जैसा भी मिले उससे बुझाता है। इसे उदराग्नि प्रशमनवृत्ति कहते है।

४—जैसे घर मे गढ्ढा होने पर उसे कूडा कचरा मिट्टी आदि से किसी भी तरह भर कर बराबर कर दिया जाता है उसी तरह साधु उदररूप गड्ढे को रूखा-सूखा कैसे भी आहार से भरता है। इसे गर्तपूरण-वृत्ति कहते है।

५—जैसे भ्रमर बगीचे के अनेक सुगधित फूलों की गन्ध लेता हुआ फूलो को रचमात्र भी खराब नही करता है उसी तरह साधु भोजन ग्रहण करता हुआ दाता को किंचित्मात्र भी बाधा नही पहुँचाता है उसे भ्रामरीवृत्ति कहते है।

इस प्रकार प्रशसनीयवृत्ति से आहार ग्रहण करने वाला साधु उस आहार से भी अपना उदर इतना पूरा नही भरता है, जिससे आलस्य पैदा

होकर अपने ध्यान स्वाध्याय मे बाधा पैदा हो जावे। वह उदर के चार भागों में दो भाग तो भोजन से भरता है। एक भाग जल से भरता और एक भाग खाली रखता है। इस विधि से आहार करने वाले साधु के उदर सबन्धी व्याधि पैदा नही होती, शरीर मे भारीपन नही आता और अपने दैनिकधर्म कृत्यो मे जी लगा रहता है।

जैन के साधु महाव्रती होते हैं। भोजन के तैयार करने मे आरंभादि से षट्काय के जीवो की विराधना हुए बिना नही रह सकती। अतएव जैनसाधु कदाचित् भी अपने हाथ से भोजन नही बनाते हैं। वह भी गृहस्थी के यहाँ से पाते हैं। वह भी गृहस्थी खुद अपने वास्ते बनाकर उसमे से साधुओ को देता है तो साधु ग्रहण करते हैं। अगर साधुओं को यह मालूम हो जाये कि दाता ने यह आहार हमारे वास्ते बनाया है तो वे कदापि उस आहार को ग्रहण नही करते है। ऐसा करने से साधु के उद्दिष्ट-दोष नही लगता है।

आहार देने वाला श्रावक भी साधु को याचक समझ कर आहार नही देता है। किन्तु पूज्य गुरुदेव मानकर बडे ही सम्मान के साथ आहार देता है और आहार देकर अपना धन्यभाग समझता है। साधु भी ऐसी भावना श्रावक की नजर आने पर ही उसके यहाँ से आहार ग्रहण करते है। इस रवैये से साधु श्रावक के लिए भाररूप नही बनता है। श्रावक आहार देकर साधु पर कोई एहसान करता हो ऐसा भी नही कह सकते है। क्योकि साधु श्रावक से आहारादि रूप से जो कुछ पाता है उससे कई गुणा बदला वह वापस चुका देता है। आहारदान से दाता को विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है। उसके फल से जन्मान्तर मे वह भोगभूमि के उत्तम सुख भोगता है। यह तो परोक्ष फल की बात हुई इसे छोड़िये। प्रत्यक्ष में हम देखते है कि—साधु केवल आहार मात्र लेकर पैदल गाँव-गाँव मे घूम-फिर कर और सरदी-गरमी भूख-प्यास आदि अनेक कष्टों को उठाता

हुआ जनता मे जिस लगन के साथ अहर्निश धर्म का प्रचार करता है और उपदेश देकर ज्ञानामृत पिलाता है वैसा अन्य कोई बडा से बडा वेतन लेकर भी नही कर सकता है। क्या यह साधु का प्रत्यक्ष मे कोई महान् उपकार नही है। साथ ही अपनी वीतराग सयमपूर्ण चर्या से एक महान् आदर्श उपस्थित करके वे साधुगण लोगोको सयम की ओर आकर्षित भी करते है। ऐसे सद्गुरुओ के चरणारविंदो मे हमारा शतश प्रणाम है।

●

मंगलोत्तमशरण-पाठ

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥*

यह जैनसंस्कृति का अति प्रसिद्ध मूलमन्त्र है। यह नमस्कार महामंत्र, अपराजित मंत्र, ओंकार, प्रणव (प्रथम) मंत्र, पंचपरमेष्ठी मन्त्र—आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

यह एक ही मंत्र सब सम्पदाओ—अभ्युदय एवं निश्रेयस का दाता है। इसमे का एक प्रारम्भिक 'अर्हम्, पद ही ऐसा है कि उसमे अकार से लेकर हकार तक सब स्वर और व्यंजन आ जाते है। अनेक नवीन-नवीन मन्त्रो का जो निर्माण हुआ है, वे सब इसीके रूपान्तर है, अतः नवीन-नवीन मन्त्रो को सिद्ध करने के झमेले मे न पडकर एकाग्रमन से एक मात्र इसी का सदैव आराधन करना चाहिए। इस मन्त्र के विषय में बताया है कि—

†एसो पंचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥१३॥

—'मूलाचार, अधिकार ७'

---

* काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आइरियउवज्झाये लोगम्मि य सव्वसाहूणं ॥१॥

—'मूलाचार, अधिकार ७'

† अपराजितमंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥

अर्थ—यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में प्रथम मंगल है। श्वे० संप्रदाय में इस गाथा के पद और नमस्कार मन्त्र के ५ पदों को मिलाकर ९ पद वाला नवकारमंत्र भी माना है।

गुरुपंचनमस्कारलक्षणं मंत्रमूर्जितम्।
विचिन्तयेज्जगज्जंतुपवित्रीकरणक्षमम् ॥३८॥
श्रियमात्यंतिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन।
अमुमेव महामंत्रं ते समाराध्य केवलम् ॥४१॥
प्रभावमस्य निश्शेषं योगिनामप्यगोचरम्।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दितः ॥४२॥
अनेनैव विशुद्ध्यंति जन्तवः पापपंकिताः।
अनेनैव विमुच्यंते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥४३॥
असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनबाधवः।
अमुं विहाय सत्वानां नान्यः कश्चित्कृपाकरः ॥४४॥
—ज्ञानार्णव, (शुभचन्द्र कृत) अध्याय ३८।

अर्थ—यह पंचनमस्कार मंत्र सर्वोत्कृष्ट है और संसारके प्राणियों को पवित्र करने मे समर्थ है अतः इसका ध्यान करना चाहिए। ३८। जिन ऋषियों ने मोक्ष प्राप्त किया है वह सिर्फ इस मन्त्र का आराधन करके ही प्राप्त किया है। ४१। इसका प्रभाव योगियों के भी अगोचर है। अज्ञानीजन जो इसके विषय मे कुछ भी कहने का दावा करते है वह पागल का प्रलाप समझना चाहिए।४२। एकमात्र इसी के द्वारा पापी अपने पापों से शुद्ध होते है और इसी के द्वारा ज्ञानी संसार के दुःखों से विमुक्त होते हैं।४३। इस संसार मे भव्यजीवों का संकट मे यही एक बन्धु है इसको छोड़कर संसारी प्राणियों का और कोई सहायक नहीं है।४४।

इस पंचनमस्कार महामन्त्र के साथ—

चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगल, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।।

यह 'चत्तारिदंडक पाठ' भी बोला जाता है। इस मंगलोत्तम शरण पाठका सम्बन्ध नमस्कार मंत्र के साथ शुरू से ही बहुत प्राचीन समय से आज तक चला आ रहा हैं। नीचे एतद्‌विषयक कुछ प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं —

(१) सामायिक दंडक (गौतम महर्षिकृत) मे नमस्कार मंत्र मंगलोत्तमशरणपाठपूर्वक दिया हुआ हैं इस पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत प्राचीन संस्कृत टीका भी हैं। देखो "क्रियाकलाप" पृ० १४२ से १४५।

(२) पाक्षिकादिप्रतिक्रमण (गौतम कृत) देखो 'क्रियाकलाप पृ० १०५—इच्छामि भंते ! पडिक्कमणमिदं सुत्तस्स मूलपदाण उत्तरपदाणमच्चासणदाए त जहा—णमोक्कारपदे अरहंतपदे सिद्धपदे आइरियपदे उवज्झायपदे साहुपदे मंगलपदे, लोगोत्तमपदे सरणपदे ''अंगंगेसु पुव्वगेसु पाहुडेसु''''से अक्खरहीणं वा पदहीणं वा सरहीण वा वजणहीण वा अत्थहीणं वा '''तस्स मिच्छा मे दुक्कड ।

इसमे नमस्कार मन्त्र को मगलोत्तमशरणपाठ पूर्वक उल्लेखित किया है और अंग पूर्वांग पाहुडादि से पूर्व स्थान दिया है इससे इसकी महत्ता और अतिप्राचीनता का परिचय मिलता है।

(३) भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) (षट् पाहुड,—श्रुतसागरी टीकायुक्त पृ० २७३)

झायहि पंच वि गुरवे चउमंगलसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेचरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२२॥

टीका—ध्याय त्वं हे मुने ! पंचापि गुरून् पंचपरमेष्ठिनः चतु.मंगल-लोकोत्तमशरणभूतानित्यर्थः ।

(४) पउमचरिय (विमलसूरि कृत) पर्व ८६

इणमो अरहंताणं सिद्धाण णमो सिवं उवगयाणं ।
आयरियउवज्झायाणं णमो सया सव्वसाहूणं ॥६३॥
अरहंतो सिद्धो वि य साहू तह केवलीण धम्मो य ।
एए हवंति निययं, चत्तारि वि मंगलं मज्झं ॥६४॥
जावइया अरहंता माणुसखित्तादि होंति जयनाहा ।
तिविहेण पणमिऊणं ताण सरणं पवण्णोऽहं ॥६५॥

पर्व ४८—अरहंतसिद्धसाहूधम्मो तुह मंगलं होउ ॥१०७॥

(५) पद्मचरित (रविषेणाचार्य कृत) पर्व ८९

अर्हद्भ्योऽथ विमुक्तेभ्य आचार्येभ्यस्तथा त्रिधा ।
उपाध्यायगुरुभ्यश्च साधुभ्यश्च नमो नमः ॥१०४॥
अर्हन्तोऽथ विमुक्ताश्च साधवः केवलीरितः ।
धर्मश्च मंगलं शश्वदुत्तमं मे चतुष्टयम् ॥१०५॥

पर्व ४८—अर्हन्तो मंगल सतु तव सिद्धाश्च मंगलम् ।
मंगलं साधव. सर्वे मंगलं जिनशासनम् ॥२१२॥

(६) वरागचरित (जटासिंहनंदि कृत) सर्ग १५

शरणोत्तममागल्यं नमस्कारपुरस्सरम् ।
व्रतवृद्ध्यै हृदि ध्येयं संध्ययोरुभयोः सदा ॥१२१॥

(७) हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) सर्ग २२

पुण्यपंचनमस्कारपदपाठपवित्रितौ ।
चतुरुत्तममांगल्यशरणप्रतिपादिनौ ॥२६॥

(८) महापुराण (जिनसेनाचार्यकृत) पर्व २५

चतुःशरणमांगल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः ।
पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥७७॥

(९) अनेकार्थनाममाला (धनंजय कृत)

अर्हत्सिद्धमिति द्वावप्यर्हत्सिद्धाभिधायिनौ ।
अर्हदादीनपि प्राहुः शरणोत्तममंगलान् ॥४६॥

(१०) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य कृत) अध्याय ३८

गुरुपंचनमस्कारलक्षणं मंत्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥३८॥
मंगलशरणोत्तमपदनिकुरंबं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५७॥

(११) सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति कृत) अध्याय ३१

नमस्कारादिकं ध्येयं शरणोत्तममंगलम् ।
संध्यानत्रितये शश्वदेकाग्रकृतचेतसा ॥८०५॥

(१२) चारित्रसार (चामुंडराय कृत) के प्रारम्भ मे

अरिहननरजोहननरहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय,
लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजंतोः ।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं,
स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥

(१३) सागारधर्मामृत (आशाधर कृत) अध्याय २

जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून् धर्मं च नंदति ।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२॥

(१४) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय ५

ये मंगललोकोत्तमशरणात्मानः समृद्धमहिमानः ।
पांतु जगंत्यर्हत्सिद्धसाधुकेवल्युपज्ञधर्मास्ते ॥९॥

(१५) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय २

तेऽमी पंच जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्सिद्धांतदिक्साधवो
मांगल्यं भुवनोत्तमाश्च शरणं तद्वज्जिनोक्तो वृषः ।
अस्माभिः परिपूज्य भक्तिभरतः पूर्णार्घ्यमापादिताः
संघस्य क्षितिपस्य देशपुरयोरप्यासता शांतये ॥२१॥

इन सब प्रमाणों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि—नमस्कार-मन्त्र के साथ प्राचीन समय से ही चत्तारि मंगलोत्तम शरण पाठ प्रचलित रहा है। इस तथ्य को किस खूबी के साथ प्रत्येक प्रमाण में ग्रथित किया गया है यह इन प्रमाणों को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक पाठक को स्वयं अनुभव हो जायगा।

इस विषय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अभिमत भी दिगम्बरवत् ही है इसके लिए ग्रन्थाभाव से सिर्फ एक ही प्रमाण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

(१) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य कृत) प्रकाश ८

तथा पुण्यतमं मन्त्रं जगत्त्रितयपावनम् ।
योगी पंचपरमेष्ठिनमस्कारं विचिन्तयेत् ॥३२॥
मंगलोत्तमशरणपदान्यव्यग्रमानसः ।
चतुःसमाश्रयाण्येव स्मरन्मोक्षं प्रपद्यते ॥४२॥

नोट—श्लोक ४२ की स्वोपज्ञटीका में पूरा और शुद्ध चत्तारिदण्डक पाठ दिया हुआ है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं।

अब इस पाठ के कुछ पदों पर नीचे किंचित् ज्ञातव्य प्रस्तुत किया जाता है :—

१. आइरियाणं की जगह आयरियाणं, लोगुत्तमा की जगह लोगोत्तमा और पव्वज्जामि की जगह पवज्जामि पाठ भी पाया जाता है।

२. 'साहु, एकवचन है' और 'साहू' बहुवचन है (प्राकृत मे) ।

३ चत्तारि सरणं पवज्जामि' "मे पवज्जामि का सस्कृत रूपान्तर प्राय: विद्वान् 'प्रपद्ये' करते है★ और अर्थ इस प्रकार करते है.— मे चारो की शरण को प्राप्त होता हूँ—चारो की शरण अंगीकार करता हूँ किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपनी संस्कृत टीका मे इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—

अर्हदादीन् चतुर. शरणं प्रव्रजामि । इसमे 'पव्वज्जामि' का अर्थ 'प्रपद्ये' न करके 'प्रव्रजामि' किया है । गमनार्थक 'व्रज' धातु मे पहिले उत्कृष्टार्थक 'प्र' उपसर्ग लगाकर सम्भवतः यह द्योतित किया गया है कि—अन्य सबकी शरण मे जाना छोडकर इन चारो की ही शरण मे जाता हूँ । वैसे 'प्रव्रजन' का अर्थ संन्यास, दीक्षा होता है । किन्तु प्राकृत मे गमन और संन्यास दोनो होते है देखो 'प्राकृत शब्द महार्णव' और 'जैनागमशब्द-सग्रह' मे—पव्वज्जा (प्रव्रज्या) तथा पव्वय (प्रव्रज) शब्द।

★ (आदिपुराण पर्व ४० श्लोक २७ मे—
'शरणं प्रपद्यामि, प्रयोग है अत' पव्वज्जामि का 'प्रपद्यामि' सस्कृत रूप भी होता है ।)

समाधिमरण : जीवन सुधार की कुंजी

काय और कषायो को कृश करते हुए शात भावोसे शरीरके त्याग को समाधिमरण कहते है। सल्लेखना, सन्यास मरण, अन्त्यविधि, पण्डित मरण, अतक्रिया, मृत्यु-महोत्सव, आर्याणा महाक्रतु आदि सब इसी के नाम है। समाधिमरण धारण करनेवाले को—साधक, क्षपक, प्रेयार्थी आदि कहते है।

अनेको अपराध करने पर भी अत मे मनुष्य क्षमा मागने पर जैसे अपराधो से मुक्त हो जाता है, उसी तरह जीवन भर पापारभ करनेवाला भी अगर अन्त समय मे समाधि धारण कर लेता है तो अवश्य सुगति का पात्र होता है। 'अन्त भला सो भला' की इस बात को जैन ही नही जैनेतर सप्रदायो मे भी महत्त्व दिया गया है—वैदिक पुराणो मे अनेक ऐसे आख्यान आते है जिनमे अन्त समय में नारायण का नाम लेनेवाले पापी भी वैकुठगामी हुए है। अजामील ने सारी जिन्दगी पापकम मे बिताई परन्तु अन्त समय मे नारायण का नाम लेने से वह वैकुण्ठवासी हुआ। इसी बात को जैन कथाकारो ने भी दूसरे शब्दो मे चित्रित किया है। जीवन्धरकुमार ने मरणासन्न कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया तथा तीर्थंकर पार्श्वप्रभु ने अग्नि मे जलते हुए दो सर्पों को नमस्कार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से ये तिर्यंच जीव भी देवगति को प्राप्त हुए। महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद अपना कार्य पूरा हुआ जानकर सहर्ष मृत्यु का स्वागत करने वाले भीष्म पितामह की 'इच्छा मृत्यु' (इच्छा पूर्वक मरण) भी जैन सल्लेखना से मिलती हुई है।

सारी जिन्दगी जप तप करने पर भी अगर मृत्यु समय समाधि धारण न की जावे तो सारा जप तप उसी तरह वृथा होता है जिस तरह

विद्यार्थी पूरे वर्ष भर पाठ याद करे और परीक्षा के समय उसे भूल जाये या शस्त्राभ्यासी योद्धा रण क्षेत्र मे जाकर कायर बन जाये या कोई दूर देशान्तर से धनोपार्जन करके लाये और उसे गाँव के समीप आकर लुटा बैठे। बिना समाधिमरण के चारित्रवान् जीवन भी फलहीन वृक्षकी तरह निस्सार होता है। इसी को स्वामी समन्तभद्रने कितने सुन्दर शब्दो मे कहा है—अन्तक्रियाधिकरणं तप.फलं सकलदर्शिन. स्तुवते। तस्मात् यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥ (रत्नकरडश्रावकाचार) अर्थ—समस्त मतावलम्बी तपका फल अन्तक्रिया समाधिमरण पर ही आधारित बताते है अत. पुरुषार्थ भर समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भारतीय संस्कृति मे जो अन्तक्रिया पर इतना महत्त्व दिया गया है उसमे वैज्ञानिक रहस्य है, इससे भारतीय महर्षियो के आत्म-तत्त्व ज्ञान की पराकाष्ठा जानी जाती है। मृत्यु के समय अगर आत्मा कषायो से सचिक्कण (चीकनी) नही होती तो वह अनायास शरीर त्याग कर देती है और उसे मारणातिक संक्लेश भी विशेष नही होता, उसका मानसिक संतुलन ठीक रहता है जिससे स्वेच्छानुसार सद्गति प्राप्त करने मे वह समर्थ होती है, और जब सद्गति प्राप्त हो जाती है तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्म भी उसका कुछ नही बिगाड़ पाते, और अगर अन्त समय मे परिणाम कलुषित हो जाते है तो दुर्गति प्राप्त होती है जिसमे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों को भोगने का अवसर ही नही मिलता। इस तरह सारा काता पीदा कपास या गुड़ गोबर हो जाता है और दुर्गति की परम्परा बढ जाती है। इससे जाना जा सकता है कि समाधिमरण को जीवन मे कितनी महत्ता है।

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्यु. समाधिना ॥१६॥

—मृत्यु महोत्सव।

(तपे हुए तप, पालन किए हुए व्रत और पढे हुए शास्त्रों का फल समाधिमरण में ही है—बिना समाधिमरण के ये वृथा है ।)

यहाँ यह शंका नहीं करना चाहिए कि—"जब समाधिमरण से ही सब कुछ होता है तो क्यो जप-तप-चारित्र की आफत मोल ली जाय, मरण समय समाधि ग्रहण कर लेंगे ।" परन्तु ऐसा विचारना ठीक नहीं क्योंकि सारी जिन्दगी तप और चारित्र–काय तथा कषाय के कृश करने का अभ्यास इसी लिए किया जाता है कि अन्त समय मे भी परिणाम निर्मल रहे और समाधि ग्रहण करने मे सहूलियत रहे। संभवतः इसी लिए कुन्दकुन्द आचार्य ने सल्लेखना को शिक्षाव्रत मे स्थान देने की दूरदर्शिता की है। समाधिमरण और तपःचारित्र मे परस्पर कार्य-कारणरूपता है। जब उपसर्ग और अकाल मृत्यु का अवसर 'आ उपस्थित हो यथाः– सिंहादि क्रूर जन्तुओ का अचानक आक्रमण, सोते हुए घर मे भयंकर अग्नि लग जाना, महावन मे रास्ता भूल जाना, बीच समुद्र मे तूफान से नाव डूबना, विषधर सर्प का काट खाना, आदि, तब पूर्वकृत चारित्र का अभ्यास ही काम आता है। सारी जिन्दगी चारित्र मे बिताने वाला अगर अन्त समय मे असावधान होकर अपने आत्मधर्म से विमुख हो जाये तो उसका दोष तपः चारित्र पर नही है यह तो उसके पुरुषार्थ की हीनता और अभ्यास की कमी है या बुद्धि विकार है—इसे ही तो "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" कहते है।

समाधिमरण का इच्छुक मृत्यु से भयभीत नहीं होता। वह अच्छी तरह समझता है कि मरण आत्मा का नाश नहीं है, मरण तो दूसरा जन्म धारण करने को कहते है। वह मृत्यु को महोत्सव समझता है, इसे आत्मा का शरीर के साथ विवाह समझता है; शरीर का शरीर के साथ विवाह तो लौकिक है वह इसे अलौकिक विवाह समझता है और इस तरह मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करता है। तेल हीन दीप और दग्धरज्जु तथा वृक्षके सूखे हुए पत्ते की तरह जीर्ण और शिथिल शरीररूपी नौकर को जब वह

अपने चारित्र साधन के लिए अयोग्य समझता है तो उसे पेंशन देकर दूसरा योग्य नौकर (शरीर) का प्रबन्ध करता है। इतनी उदात्त भूमिका पर स्थित साधक कभी कायर नही हो सकता, वह तो परम शूर–आत्म विजयी मृत्युजयी है।

आत्मघात (विष खाकर, तालाब कुँए आदि मे डूबकर, स्वय फासी लगाकर या शस्त्रास्त्र से अपनी जीवन लीला समाप्त करना), सती प्रथा (मृत पति के साथ चिता मे जल जाना), आमरण अनशन (अपनी किसी माग की पूर्ति के लिए मरण पर्यन्त आहार त्याग करना), आदि समाधिमरण की कोटि मे नही आ सकते। समाधिमरण और इनमे आकाश-पाताल, काच-हीरा, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, और ३, ६ के अक की तरह महान् अन्तर है। ये कषायो की तीव्रता से, स्वार्थ की भावना से, और कलुषित हृदय स किए जाते है जब कि समाधिमरण शान्त परिणामो से विवेक पूर्वक बिना किसी वाञ्छा के किया जाता है।

दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरण च बोहिलाओ य।
मम होउ जगद् बन्धव तव जिणवर चरण सरणेण ॥

जंनसंघ और जैनसंदेश

जैनसंघ

श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैनसंघ, मथुरा को कौन नहीं जानता, यह जैन समाज और जैनधर्म की अनुपम सेवा करनेवाली एक पुरानी यशस्वी कार्यशील संस्था है। इसका उदय सन् १९३० में 'श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ' के नाम से हुआ था उस समय आर्यसमाज का बडा जोर था। आर्यसमाजी जैनो को हर कहीं शास्त्रार्थ का चैलेंज दे देते थे। आर्य-समाज के इन वितंडावादो का समुचित उत्तर देने के लिये शास्त्रार्थ संघ का उदय हुआ।

सन् १९३०-३१ मे केकडी (अजमेर) मे भी कुछ जैन युवको ने "श्री अनेकात प्रभाकर मडल" की स्थापना की और उन्ही दिनों वीरजयन्ती के अवसर पर इस आशय का एक पेम्पलेट छपवाकर वितरित किया —

"भव्या. ! भविष्यति महोत्सव एक एव
वीरस्य केकडि पुरे प्रथिता जयन्ती।
सगीत नृत्य गुण गीत्युपदेश वाद्यो-
त्थार्हन्मत प्रभवनादि विधिर्विधेय. ॥

—जिस महानुभाव को जैनधर्म के विषय मे किसी भी प्रकार की शका हो पूछने पर सबका यथोचित युक्तिशास्त्र द्वारा संतोषजनक उत्तर दिया जायगा।"

जयंती के रोज शहर मे विद्यार्थियो ने—मिथ्यामत विध्वंसक जैनधर्म और सर्वधर्म शिरोमणि जैनधर्म की जय के नारे भी लगाये। इस सब से

आर्यसमाजी चिढ उठे और स्वामी कर्मानन्द जी को शास्त्रार्थ के लिए अजमेर से ले आये। स्वामी जी ने समस्त जैन समाज को शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया।

शास्त्रार्थ के दो विषय चुने गए (१) क्या ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है ? (२) क्या जैनशास्त्र सवज्ञ कथित है ?

मडल के मत्री श्री सुवालालजी कटारिया थे और अध्यक्ष श्री कानमलजी कर्णावट (श्वे०)। मत्रीजी ने प० माणिकचन्द जी और प० मक्खनलाल जी मोरेना आदि दि० जैन विद्वानो को आने के लिए पत्र दिये, सबने आनाकानी और बहानेबाजी की ही बात की किन्तु कोई आने को तैयार नही हुआ। सेठ लोगो के पास गए तो उन्हा ने भी निष्ठुरता का ही जवाब दिया कि—आप लोगो को समस्त जैन समाज के नाम से चैलेंज लेने का क्या अधिकार था आदि। किसीने इस सकट के समय किसी प्रकार का कोई आश्वासन तक नही दिया।

उधर अध्यक्ष जी ने अनेक श्वेताबर श्रीमतो को तथा न्यायविजय जी, पुण्यविजय जी, विद्याविजय जी, इन्द्रविजय जी आदि विजयात नामधारी अनेक विद्वान् सवेगी साधुओ को एव पडितो को पत्र दिये किन्तु किसी की ओर से कुछ भी जवाब नही आया। इससे स्थानीय जैन समाज मे गहरी चिन्ता व्याप्त हो गई।

उस समय शास्त्रार्थ सघ अम्बाला नया ही प्रकट हुआ था। जैन पत्रो मे उसकी विज्ञप्ति देखकर उसे भी निराशभाव से यांही एक पत्र डाल दिया। पत्र का जवाब तत्काल आया— घबराने की कोई जरूरत नही, हम तैयार है, तिथि से सूचित करें ताकि २–३ दिन पहिले आ जायें"। उत्तर पढकर सब लोगा को बडी खुशी हुई। इधर कुछ लोग सेठ चम्पालाल जी रामस्वरूप जी के यहाँ ब्यावर गए तो उन्होने भी बडे प्रेम से मुलाकात की और बोले–जब चैलेंज ले ही लिया तो घबराने की कोई बात नही है। अपने को नीची नही खानी है। विद्वानो को बुलाने आदि मे जो

भी खर्चा हो वह हमारी केकड़ी दुकान से आप ले लें और उन्होंने दुकान के नाम चिट्ठी लिखकर दे दी।

शास्त्रार्थ संघ अम्बाला से सेठ शिब्बामल जी, पं० राजेन्द्रकुमार जी, वर्धमान जी शास्त्री, मंगलसेन जी, अजितकुमार जी आदि की मंडली आई, बैड बाजे से शानदार स्वागत किया गया। संघ के विद्वान्, स्वामी कर्मानन्द जी से मिले और उनसे कहा—पहिले आपके दर्शनानन्द जी अजमेर मे हमारे पंडित गोपालदास जी से परास्त हो चुके है फिर आप यह शास्त्रार्थ की बला मोल न लें। स्वामी जी बोले—उन्होंने विषय ही ऐसा ले लिया था मैंने जो विषय चुना है वह एकदम अनूठा है इसमे आप लोगों की कुछ नही चल सकेगी, मेरा विषय पुराणों का है दर्शनशास्त्रादि का नही। (सही बात यह थी कि—उन दिनो कर्मानन्द जी को बाबू सूरजभान जी जैन वकील कृत—आदिपुराण पद्मपुराण की समीक्षाएँ मिल गई थी, यह सधा-सधाया मसाला था उसी के आधार से उन्होने १–सीता किसकी पुत्री है, २–एक लाख योजन का हाथी, ३–दो कोस की जूं, ४–भोगभूमियो की विशाल शरीर-अवगाहना, ५–हनुमान जी का सूर्य मंडल को लात मारना, आदि प्रश्न तैयार कर लिए थे)

आखिर ६ दिन तक शास्त्रार्थ होना तय हुआ। शास्त्रार्थ के निम्न नियम निर्धारित किए गये :—

(१) कोई भी पक्ष आदर के शब्दों मे ही प्रतिपक्ष के मान्यपुरुष का नाम लेवे, (२) कोई भी पक्ष अपने महापुरुषों की जय, शास्त्रार्थ की सीमा मे नही बुलावे।

ज्येष्ठ मास में यह शास्त्रार्थ बड़ी ही शाति से हुआ। प्रतिदिन करीब ३–४ हजार के जनता इकट्ठी होती थी। लोग सांस खींचकर एकाग्रमन से कान लगाकर सुनने को बैठ जाते थे। सुई गिरने तक का शब्द मालूम पड़ जाये ऐसी निस्तब्धता रहती थी।

दोनो पक्षो के मंच कुछ दूरी पर अलग-अलग लगे हुए थे, दोनों के

सभापति अलग-अलग थे, दोनो के पास घडियाँ पडी थी। प्रत्येक को बोलने के लिए १० मिनट तक का समय था।

आर्यसमाज की तरफ से रामचन्द्र देहलवी, लक्ष्मणानन्द आदि २–३ लम्बे सोटे वाले सन्यासी एव कुछ अन्य विद्वान आये थे। आर्यसमाज की ओर से ४ दिन कर्मानन्द जी बोले और २ दिन रामचन्द्र देहलवी बोले। जैन समाज की तरफ से छहो दिन प० राजेन्द्रकुमार जी ही बोले। स्वामी कर्मानन्द जी बडे ही ओजस्वी और मधुर वक्ता थे। इधर प० राजेद्रकुमार जी भी कम नही थे। वे भी बडे ही आत्मविश्वासी, प्रत्युत्पन्नमति और निर्भीक युवक वक्ता थे। सेठ शिब्बामल जी वृद्ध होते हुए भी बडे उत्साही और फुर्तीबाज थे। शास्त्रार्थ के समय किसी ग्रथ की जरूरत होते ही झट भागकर लाते थे, और जैन विद्वानो की युक्तिया मे आर्य विद्वानो को निरुत्तर होते देखकर मारे खुशी के उनकी भुजाएँ फडक उठती थी। सघ के विद्वानो ने स्वामी कर्मानन्द जी को खूब छकाया और जैनधर्म की दुन्दुभि बजाई। अन्तिम उत्तर-पक्ष जैनो का था यह भी विजय मे सहायक रहा।

सघ के आने से जैन समाज का गौरव बढा और धर्म की काफी प्रभावना हुई। अगर सघ ऐन मौके पर न आता तो इधर के प्रात मे जैनधर्म की बहुत अवज्ञा होती। तभी से केकडी और आस-पास के ग्रामो मे सघ के प्रति काफी श्रद्धा है, जो अब तक उसी तरह कायम है।

सघ का पहला शास्त्रार्थ केकडी मे ही हुआ। उसके बाद तो अनेक मौखिक और लिखित शास्त्रार्थ हुए जिनकी सख्या करीब १५० होगी। ये सभी शास्त्रार्थ बडी शाति और सुव्यवस्था पूर्वक सपन्न हुए—यह कम महत्त्व की बात नही है। बहुत से लोगो को तो शास्त्रार्थ लडाई-झगडे का दूसरा नाम प्रतीत होता है किन्तु इन झगडा कहे जाने वाले शास्त्रार्थों ने उस समय बहुत ही शाति और प्रेम की परिस्थापना की थी। अगर ये

शास्त्रार्थ न होते तो उल्टे अनेक झगडे-टंटे बढ जाते और परस्पर हिंसा-द्वेष भभक उठता।

सघ ने, जैन समाज के दिल मे जो परवादियों से शास्त्रार्थ करने मे भय और संकोच घुस गया था उसे निकाल कर निर्भीकता प्रदान की और बहुत से जैन बन्धुओं की चलायमान धार्मिक आस्था का स्थितिकरण किया। जहाँ कही भी शास्त्रार्थ का मौका आया, संघ सदा तैयार रहा। दो-एक स्थानो पर आर्यसमाज ने केवल २४ घंटे का नोटिस देकर, शास्त्रार्थ के लिए जैन समाज को ललकारा। जैन समाज का तार आते ही शास्त्रार्थ-सघ २४ घटे के भीतर ही वहाँ जा पहुँचा।

केकडी शास्त्रार्थ के चार वर्ष वाद ही सन् १९३५ दिसम्बर मे स्वामी कर्मानिन्द जी जैन हो गए। यह सघ की एक महान् विजय थी। शास्त्रार्थ सघ की एक निष्ठा और करारी चोटो से प्रतिपक्षी तिलमिला उठे। आर्य-सभा ने हार-थककर जैनो से शास्त्रार्थ नही करने का निश्चय कर लिया। यहाँ तक कि आर्यसमाजी बन्धुओ के आग्रह प्रेरणा करनेपर भी फिर आर्य-सभा, शास्त्रार्थ के लिये कभी तैयार नही हुई।

यह तो हुई अन्य मतवादियो के साथ शास्त्रार्थ की बात, किन्तु घर मे भी शास्त्रार्थ सघ को पं० दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ से लोहा लेना पडा—उन दिनो पं० दरबारीलाल जी 'जैनजगत्' मे 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक लेखमाला बडे जोर-शोर मे निकाल रहे थे। 'मर्म' के नाम से वे जैन सिद्धान्तो और आचारों की कडी आलोचना कर रहे थे। उनके लेखन कौशल, युक्ति और तर्कवाद ने अनेक बुद्धिवादियो को प्रभावित करना शुरू कर दिया था, कोई जैन पंडित उनकी धारा प्रवाह लेखनी का जवाब देने की अपने मे हिम्मत नही पा रहा था—इसका कारण यह था कि पंडितो मे दरबारीलाल जी जैसी चतुर्मुखी प्रतिभा नही थी। ज्यादा से ज्यादा पंडितगण दि० ग्रथों के विशेषज्ञ थे, परन्तु दरबारीलाल जी का मुकाबिला करने के लिए इतना ही पर्याप्त नही था, प्रत्युत श्वेताम्बर एवं

जैनेतर साहित्य के विशाल अध्ययन के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पारायणता की भी जरूरत थी। श्री० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थपरीक्षादि समीक्षात्मक लेख लिखनेवाले प्रकांड विद्वान् को भी इस विकट समस्या पर 'एक अमोघ उपाय' शीर्षक विस्तृत लेख पत्रो मे लिखना पडा, जिसमे उन्होने बतलाया कि—पं० दरबारीलाल जी की लेखनीका उत्तर देना हँसी खेल नही है, वह एक दो विद्वानो के बल-बूते का काम नही। इसके लिए तो सारे जैन विद्यालयो को ६ महीने के लिए बन्द कर एक जगह सब विद्वान् इकट्ठे होकर फिर उत्तर लिखे तो सिद्धि मिल सकती है अन्यथा नहीं "आदि। मुख्तार साहब के इस कथन से प्रमाणित होता है कि—दरबारीलालजी का पाण्डित्य कितना बढा-चढा था। मुख्तार साहब के अमोघ उपाय को अव्यावहारिक होने से जैन समाज ने नही अपनाया किन्तु दूसरा भी कोई मार्ग किसी को नही सूझ रहा था। इस विषय मे जैन विद्वान् जितने ज्यादा अकर्मण्य और कायर बनते जा रहे थे उतने ही दरबारीलालजी के हौसले बढते जा रहे थे। शास्त्रार्थसंघ ने इस भीषण स्थिति को परिलक्षित किया और सन् ३४ मे 'जैनदर्शन' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। जिसमे प० राजेन्द्रकुमारजी ने दरबारीलाल-जी के 'मर्म' का धारावाहिक रूप से जवाब देना शुरू किया। प्रथम ही दरबारीलालजी के 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक पर आपत्ति उठाई गई, कुछ वाद-विवाद के बाद आखिर दरबारीलालजी को मानना पडा और अपने लेखो को पुस्तकाकार छपाते वक्त उसका नाम 'जैनधर्म मीमासा' रखना पडा। संघ ने भी जवाब में अपनी 'विरोध परिहार' लेखमाला को इसी नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया। पं० राजेन्द्रकुमारजी ने दरबारी-लालजी के साथ थूबौनजी क्षेत्र पर मौखिक शास्त्रार्थ भी किया। इस तरह समय पर बुद्धिवादियो की भ्राति का निराकरण और चलित श्रद्धा का स्थितिकरण किया गया।

'जैन दर्शन' पत्र ३ वर्ष तक पाक्षिक रूप मे और करीब ३ ही वर्ष

तक मासिक रूप मे कुल ६ वर्ष तक निकला। इसके सम्पादक पं० कैलाश-चन्द जी, अजितकुमार जी और चैनसुखदास जी थे। इसमें अनेक उत्तम लेख निकले।

इस तरह शास्त्रार्थों का युग समाप्त हो गया। इन शास्त्रार्थों में पं० राजेन्द्रकुमार जी ने ही प्रमुख भाग लिया। उनमे नेतृत्व का गुण गजब का था। लोगों का कहना है कि राजेन्द्रकुमारजी अगर इस क्षेत्र में न होकर राजनैतिक क्षेत्र मे होते तो अवश्य ही बहुत ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होते।

सन् ३७ मे संघ के नाम मे से 'शास्त्रार्थ' शब्द निकालकर उसका नाम 'भारतवर्षीय दि० जैन संघ' कर दिया गया।

सन् ४० मे श्रवणबेलगोला में गोम्मट स्वामी के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर संघ ने प्रचार की दृष्टि से एक स्पेशल ट्रेन यात्रा का प्रबन्ध किया और श्रवणबेलगोला मे जैन धर्म का खूब प्रचार किया, इससे संघ की चारों ओर धूम मच गई।

संघ ने सन् ४१, ५१, ६१ की सरकारी मनुष्य गणना मे 'जैन लिखाओ' आन्दोलन का अच्छा संचालन किया।

तथा—बयाना, कुड़ची, शिवहरा, खेखडा, जबलपुर, बिजौलिया आदि काण्डो, भिवानी मन्दिर के मामले मे और चन्देरी देवगढ मूर्ति बिध्वंस काण्ड मे जैनो की अनुपम सेवा-सहायता की तथा हिसार सरक्यूलर को खत्म करवाया और 'जैनीदडनम्' पुस्तक को जब्त करवाया।

संघ ने इतिहास संशोधन, विश्व विद्यालयो मे जैन कोर्स, मुनि उप-सर्ग निवारण, स्वाध्याय मंडल स्थापन, सर्व धर्म सम्मेलनो मे जैन प्रति-निधित्व, रेडियो पर जैन कार्य-क्रम, बन्द शास्त्र भण्डारो का खुलाना, पंचायती झगड़ों के फैसले आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये और कर रहा है।

सितम्बर सन् ५६ मे पं० सुमेरचन्द्र जी दिवाकर को 'विश्व धर्म परिषद्, मे जैन धर्म प्रचारार्थ जापान भेजा गया।

संघ का अपना एक अलग पुस्तक प्रकाशन विभाग है जिससे अब तक छोटे-बडे करीब ५० महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। इनमे सिद्धान्त ग्रन्थ 'जयधवला' के भाग और पडित प्रवर कैलाशचन्द जी लिखित महान् लोक प्रिय पुस्तक 'जैन-धर्म' अपना विशिष्ट स्थान रखते है।

सन् ४०-४१ मे अम्बाला से संघ मथुरा आ गया और मथुरा मे संघ का अपना विशाल भवन निर्माण हुआ।

सघ को शुरू से ही कर्मठ और सुयोग्य सेवाभावी सचालक मिले। आजकल प० जगन्मोहन लाल जी, प० कैलाशचन्द्र जी, प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावाला आदि महानुभाव बडे ही निस्वार्थ भाव से इस संस्था की सेवा कर रहे है।

सघ का एक प्रचार विभाग भी है जो संघ की जान है। करीब २८ वर्ष से यह जैन धर्म का अनुपम प्रचार और महान् धर्म प्रभावना कर रहा है। इसमे ५-७ वैतनिक सुयोग्य प्रचारक विद्वान् है जो दो श्रेणी मे विभक्त है। एक तत्त्वोपदेशक, दूसरे संगीतोपदेशक। ये विद्वान् ग्रामों-शहरो मे जाकर जैन मन्दिरों और पब्लिक स्थानो पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते है। हर एक प्रचारक अपनी कला मे काफी दक्ष होता है। अत. जनता अच्छी सख्या मे एकत्रित होती है और इनके रोचक उपदेश एवं मधुर संगीत को बडी तन्मयता से श्रवण करती है। संघ के पास कोई ध्रौव्य-फन्ड नही है उसके ये एक-एक प्रचारक ही उसकी एक-एक लाख की निधि है। ये प्रचारक दि० समाज मे ही अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करे ऐसी कोई बात नही है। निमत्रण पर श्वे० समाज मे भी जाकर अपना कार्य-क्रम प्रस्तुत करने मे इन्हे कोई हिचकिचाहट नही है। कोई भी जैन प्रतिष्ठा, उत्सव विधान आदि हो, लोग संघ के विद्वानो को धर्म प्रभावना और उत्सव की शान बढाने के लिए अवश्य बुलाते है।

वास्तव में इनके आने से उत्सवों की काफी रौनक बढ जाती है, लोग भी काफी इकट्ठे होते है। बिना इनके, उत्सव फीके-फीके से लगते है। इस विषय मे प्रमाण के लिए मै जैन कुबेर सर सेठ हुकुमचन्दजी का एक पत्र उद्धृत करता हूँ—"श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, समाज की एक मात्र कर्मठ और क्रिया-शील सस्था है। इसके यशस्वी विद्वान् प्रचारकों से मैं बड़ा प्रभावित हूँ। इन्दौर समाज के बडे-बडे उत्सव संघ के विद्वानों से सदा मुखरित रहे है। यही कारण है कि हमे अपने यहाँ कोई बड़ा आयोजन करने में धर्म प्रभावना के लिए कभी चिन्तित नही होना पडता। इस संस्था के विद्वानों मे लगन और काम करने का ढंग है। मेरी शुभ कामनाएँ और शुभाशीर्वाद सदा इस सस्था के साथ है। इसके प्रचारक, निष्ठा और विश्वास पूर्वक सदा धर्म-प्रचार करते रहे, यही भावना है।

—हुकुमचन्द सरूपचन्द जी।"

संघ ने अपनी कार्य कुशलता से लोगो के हृदय मे काफी स्थान वना लिया है। विद्वानों की मान्य संस्था 'विद्वद् परिषद्' का सघ को अच्छा सहयोग है। सघ का कोई विरोधी नही है। अपने गुणो और कार्यों से इसने अपने को सभी का प्रिय बना लिया है। संघ अपने "न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस सिद्धान्त का पूरा परिपालक है।

जैन समाज मे सघ ही एक जीती-जागती संस्था है। इतने महान् उपयोगी और सुव्यवस्थित कार्य करने वाली कोई दूसरी संस्था समाज मे नही है।

'अखिल भारतीय', नाम रखने वाली दि० जैनो की महासभा और परिषद् आदि संस्थाएँ अगर संघ मे मिल जाये और उसका महासंघ नाम रख दिया जाय तो यह जैन समाज के लिए बडे ही सौभाग्य की बात हो। फिर अलग-अलग परीक्षालयों, अलग-अलग जैन पत्रों और अलग-अलग नीतियों के रूप में जो हमारी बहुमूल्य शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही है

वह संगठित होकर, समाज का ठीक दिशानिर्देशादि के द्वारा वास्तविक हित संपादन कर सके।

यह जमाना संगठन का है—अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापने से कुछ नही होने वाला है। सभी को अपने 'स्व और अहं' का त्याग कर एक सूत्र मे बद्ध होना है। "संघे शक्तिः कलौ युगे" समाज के नेताओं को इस ओर ध्यान देने की खास जरूरत है।

जैन सन्देश

सन् ४०-४१ मे संघ मथुरा मे अपने निजी भवन मे रहने लगा। तभी बाबू कपूरचन्द जी आगरा के साप्ताहिक 'जैन सन्देश' को संघ ने चौथे वर्ष से अपना मुखपत्र बना लिया। वही टाइटिल पेज, आकार, पृष्ठ संख्या, शैली, टाइप, और प्रति बृहस्पतिवार को प्रकाशन शुरू से आज तक निर्वाध गति से चला आ रहा है।

प्रारम्भ मे करीब ४-५ वर्ष तक इसके संपादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, बनारस रहे बाद मे पं० बलभद्र जी जैन इसके संपादक और प्रकाशक दोनो हो गए, जो वर्ष १९ तक रहे। २० वे वर्ष से पं० जगन्-मोहनलाल जी शास्त्री कटनी इसके संपादक हुए और २१वें वर्ष से फिर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी भी सम्पादन मे सम्मिलित हो गए। अब तक दोनो माननीय शास्त्री जी इसका बहुत ही सुन्दर सम्पादन कर रहे हैं।

सन्देश की रीति-नीति युगानुरूप है। यह पत्र "यथा नाम तथा गुण." है। इसकी यह उद्घोषणा है :—

> अभिलाषा है सभी सुखी हो साहस धारी।
> पौरुष पुण्य विवेक बने उनके सहचारी॥

जग सेवा के हेतु चाहते हैं हम जीवन।
महावीर का लिए हुए संदेश पुरातन ॥

संदेश की खास विशेषताएँ हैं—

प्रति बृहस्पतिवार को नियमित प्रकाशित होना, शुद्ध कलात्मक छपाई, सफाई, सुन्दर संपादन, साधारण और विद्वान् दोनों की योग्य रोचक सामग्री का चयन, समाचारों और लेखों का अविकल व अविलम्ब प्रकाशन, निर्भीक-उद्‌बोधक-सामयिक-तात्त्विक-सपादकीय लेख, जैन तिथि दर्पण, प्राप्त ग्रन्थों की निष्पक्ष और वास्तविक समालोचना, सुन्दर और सरस कविताएँ आदि। संदेश के अब तक अहिंसा अंक, मूर्ति पूजा अंक, राष्ट्रीय अंक, आदि अनेक पठनीय एवं संग्रहणीय विशेषाक निकल चुके हैं। ग्राहकों को "दिगंबरत्व और दि० मुनि" तथा "विरोध परिहार" जैसे बृहद् ग्रन्थ उपहार मे दिये जा चुके है।

प्रतिवर्ष इसका एक पर्यूषण विशेषाक निकलता है जो बड़ा सुन्दर और सारगर्भित लेखो से पूर्ण होता है।

इसमे सन् ५४ (वर्ष १८) से सन् ५८ (वर्ष २२) तक कुल ५ वर्षों मे करीब ६०० महत्त्वपूर्ण शका-समाधान पं० रतनचन्दजी मुख्तार के संयोजकत्व मे प्रकट हुए है। अगर ये विषयवार परिमार्जित हो अलग पुस्तक रूप से प्रकाशित हो जायें तो श्रेष्ठ रहे। इसी तरह महत्त्वपूर्ण संपादकीय लेखों और सुन्दर कविताओ के भी अलग-अलग पुस्तकाकार संस्करण निकल जायें तो साहित्य जगत् को अनुपम लाभ हो।

जुलाई ५८ से जैन सन्देशका त्रैमासिक शोधांक भी अलग निकलने लगा है जिसमें इतिहास, पुरातत्त्व, सिद्धान्त, दर्शन आदि के खोजपूर्ण लेख रहते है। शोधाक के प्रमुख संपादक—डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ है। शोधाक समेत संदेश का वार्षिक मूल्य ७) मात्र है। पता है—

—"जैन संदेश, साप्ताहिक, चौरासी, मथुरा"—

इन सब विशेषताओ को देखते हुए 'जैन-संदेश' के सामने अन्य पत्र घासलेटी रद्दी सूचीपत्र से मालूम पड़ते है। 'सदेश' समाज का एक यशस्वी और उच्चकोटि का पत्र है। हर एक जैन परिवार, जैन सस्था और पुस्तकालय को 'सदेश' का ग्राहक होना चाहिए। नये-पुराने सभी ग्राहको को 'संदेश' के प्रत्येक वर्ष की पूरी फाइल बना लेनी चाहिए, यह अनेक दृष्टियो मे बहुत महत्त्वपूर्ण होगी। सघ का अपना निजी प्रेस नही है अगर यह हो जाये तो सघ को ग्रन्थ एव पत्र प्रकाशन मे अर्थ और समय की काफी बचत हो तथा अनेक सुविधाएं और दूसरे लाभ मिलने लगें। संघ के अधिवेशन पर जो अध्यक्ष बनते है उन्हे अपनी दानराशि को इस ओर लगाना चाहिए।

२५ वर्ष पूरे होने पर रजतजयंती, ५० पर स्वर्ण जयती, ६० पर हीरक जयंती मनाई जाती है और ७५ वर्ष पर अमृत महोत्सव मनाया जाता है। तदनुसार मार्च ६२ मे जैन संदेश, पत्र के भी २५ वर्ष पूरे हो गए इस उपलक्ष्य मे सदेश का रजत जयंती विशेषाक निकाला गया है। हम 'सदेश' का हृदय मे अभिनदन करते है एवं साथ मे यह भावना करते है कि—'जैन संदेश' इसी तरह समाज और धर्म की चिरकाल तक सेवा करता रहे।

●

तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण

चौबीस तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण–रंग शास्त्रों मे निम्न प्रकार बताया है.—

१—"तिलोय पण्णत्ती" अधिकार ४

चन्दपह पुप्फदन्त कुन्देन्दुतुसार हार संकासा ।
हरिदा सुपास पासा सुव्वय णेमी सणील वण्णाओ ॥५८८॥
विद्दुम समाणदेहा पउमप्पह वासुपुज्ज जिणणाहा ।
सेसाण जिणवराणं काया चामीयरायारा ॥५८९॥

२—'पउम चरिय' (विमल सूरि कृत) पर्व २०

चन्दाभो चन्द्र निभो बीओ पुण पुप्फदन्त जिणवसभो ।
कुसुम पियंगु सवण्णो हवइ सुपासो विगयमोहो ॥५४॥
वर तरुण सालि वण्णो पासो णागिंद संथुओ भयवं ।
पउमाभो पउमनिभो वसुपुज्जो किंसुय सवण्णो ॥५५॥
अंजन गिरि सरिस निभो हवइ य मुणि सुव्वओ तियस णाहो ।
बरहिण कंठावयवो नेमि जिणो जाय वा णंदो ॥५६॥
निद्धन्त कणय वण्णा सेसा तित्थंकरा समक्खाया ॥५७॥

३—'पद्म चरित' (रविषेणाचार्य कृत) सर्ग २०

चन्द्राभश्चन्द्रसंकाशः पुष्पन्दतश्च कीर्तितः ।
प्रियंगु मंजरी वर्णः सुपार्श्वो जिनसत्तमः ॥६३॥
अपक्वशालिसंकाशः पार्श्वो नागाधिपस्तुतः ।
पद्मगर्भसमच्छायः पद्मप्रभ जिनोत्तमः ॥६४॥
किंशुकोत्कर संकाशो वासुपूज्यः प्रकीर्तितः ।
नीलाजनगिरिच्छायो मुनिसुव्रत तीर्थकृत् ॥६५॥

मयूरकण्ठसकाशो जिनो यादवपुगव ।
सुतप्तकाचनच्छाया शेषा जिनवरा स्मृता ॥६६॥

४—"अकृत्रिम चैत्यालय पूजा"—
द्वौ कुन्देन्दुतुपारहारधवलौ, द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ, द्वौ च प्रियगुप्रभौ ॥
शेपा षोडश जन्ममृत्युरहिता सतप्तहेमप्रभा ।
ते सज्ज्ञानदिवाकरा सुरनुता , सिद्धि प्रयच्छन्तु न ॥

५—पूजासार (हस्त लिखित पत्र ५३)
पार्श्वसुपार्श्वौ हरितौ नीलाभौ नेमिसुव्रतौ ।
चन्द्रदतौ सितौ शोणौ पद्मपूज्यौ परे परे ।

इन सब ग्रन्थो मे—चन्द्रप्रभ और पुष्पदत को कुदपुष्प चन्द्र, बर्फ एव हीरा–मुक्ताहार की तरह 'श्वेत', सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को प्रियगु मजरी (मेहदी के पत्तो) की तरह अथवा बिना पके धान्य के पौधो की तरह 'हरित', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलाजन गिरि अथवा मयूरकठ की तरह 'नील', पद्मप्रभु और वासुपूज्य को कमल अथवा टेसू के फूल की तरह 'लाल' और शेष १६ तीर्थंकरो को तपाये सोने की तरह 'पीत' वर्ण वाले बताये है ।

६—वरांग चरित (जटासिहनदि) सर्ग २७
सुवर्णवर्णा खलु षोडशैव चन्द्रप्रभौ द्वौ च जिनौ सिताभौ ।
द्वौ द्वौ च सध्याजनतुल्यवर्णौ द्वावेव दूर्वाकुरकाडभासौ ॥८७॥

७—जिनयज्ञ कल्प (आशाधर कृत) अध्याय १
सितौ चन्द्राकसुविधी श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ।
पद्मप्रभ सुपूज्यौ च रक्तौ मरकतप्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्वपार्श्वौ स्वर्णाभान्शेपाश्चालेखयेत्स्मरेत् ॥८१॥

८—अनगारधर्मामृत अध्याय ८ श्लो. ४१ की टीका (पृष्ठ ५६९)

श्रीचंद्र प्रभनाथ पुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी
रक्ताभोजपलाश र्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ ॥
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै
शेषाः संतु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोड़शाघच्छिदे ॥

९—गौतम चरित (मंडलाचार्य धर्मचन्द्र कृत) अधिकार ५

चन्द्राभपुष्पदंतेशौ श्वेतवर्णौ प्रकीर्तितौ ।
पद्माभद्वादशौ रक्तौ श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ॥१२८॥
सुपार्श्वनाथ पार्श्वौं द्वौ हरिद्वर्णौ च षोडशः ।
तीर्थंकरा बुधैर्ज्ञेयाः संतप्तकनकप्रभा. ॥१२९॥

१०—चर्चाशतक (द्यानतरायजी कृत)

पहुपदंत प्रभुचंद चंदसम सेत विराजे ।
पारसनाथ सुपास हरित पन्नामय छाजे ॥
वासुपुज्य अरु पदम रक्त माणिक द्युति सोहे ।
मुनिसुव्रत अरु नेमि श्याम सुन्दर मन मोहे ॥
बाकी सोरै कंचन वरण यह विवहार शरीर थुत ।
निहचे अरूप चेतन विमल दरस ज्ञान चरित–जुत ॥४६॥

इन ग्रन्थो में भी उपर्युक्त ५ नबर तक के ग्रन्थो की तरह ही तीर्थंकरों का रंग बताया है सिर्फ मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को 'नील' वर्ण की बजाय 'कृष्ण' वर्ण बताया है

११—हरिवंश पुराण (जिनसेनाचार्य कृत) सर्ग ६०

चन्द्राभ एव चन्द्राभ' सुविधिः शंख सत्प्रभः ।
प्रियंगुमंजरी पुंजवर्ण· सुपार्श्व तीर्थकृत् ॥२१०॥
मेघश्यामवपु श्रीमान् पार्श्वस्तु धरणस्तुत. ।
पद्मगर्भनिभाभश्च पद्मप्रभ जिनाधिपः ॥२११॥

रक्तकिंशुकपुष्पाभो वासुपूज्यो जिनेश्वर. ।
नीलांजनचलच्छायो मुनीन्द्रो मुनिसुव्रतः ॥२१२॥
नीलकंठस्फुरत्कंठरुचिर्नेमि. समीक्षित. ।
सुतप्त कनकच्छाया शेषास्तु जिनपुंगवा ॥२१३॥

(इसमे और तो सब उपर्युक्त ग्रन्थो की तरह ही बताया है सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को कंगणी के फूल एवं बादलों की तरह श्याम-कृष्ण वर्ण बताये है। साथ ही मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलवर्ण बताये है)।

१२—तिलोयसार (नेमिचन्द्र कृत)

पउमप्पह वसु पुज्जा रत्ता धवला हु चन्दपहसुविही ।
णीला सुपास पासा णेमी मणि सुव्वया किण्हा ॥८४७॥

१३—संस्कृत चौबीसी पूजा-जयमाल (ज्ञानचन्द्र जैनी लाहौर द्वारा प्रकाशित)।

१४—चौबीस तीर्थकरो का ज्ञातव्य नकशा (जीयालालजी, जौहरी नगर-मैनपुरी)

(इन सबमे और कथन तो यथा पूर्व है सिर्फ सुपार्श्व पार्श्व को 'नील' वर्ण और नेमि मुनिसुव्रतको 'कृष्ण' वर्ण बताया है। भूधरदासजी कृत 'पार्श्व पुराण' मे भी पार्श्वनाथ प्रभु को नील वर्ण लिखा है। देखो—अधिकार ७ श्लोक ३०—नील वरण नौ हाथ उतंग।)

१५—गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण का एतत्सम्बन्धी कथन ठीक 'तिलोयपण्णत्ती' के समान है। *पुष्पदंत कृत अपभ्रंश उत्तर पुराण का

---

* देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन—पृष्ठ ४१ प्रियंगु प्रसवच्छविः (सुपार्श्व) पृष्ठ ४३५—बालशालितनुच्छायः (पार्श्व) पृ० २४६ सर्पाशन-गलच्छायः (मुनिसुव्रत)
पृष्ठ ३७७—नीलांभोजदलद्युति· (नेमिनाथ)

कथन गुणभद्रानुसार है सिर्फ नेमिनाथ को नील के बजाय कृष्ण बताया है।

१६—'एकसंधि जिन संहिता' (प्रतिमा लक्षण-परिच्छेद श्लोक नं० १४१) —हरिवंश पुराण की तरह कथन है (पार्श्व-सुपार्श्व = श्याम। मुनिसुव्रत-नेमि = नील बताये है।)

१७—कल्याण मन्दिर स्तोत्र श्लोक २३ मे पार्श्वनाथ को श्याम वर्ण बताया है। इसीलिए पाटण आदि में पार्श्व नाथ 'साँवलिया पारसनाथ' कहलाते है।

१८—पार्श्वनाथ चरित (वादिराज कृत सर्ग १ श्लोक ९, सर्ग १० श्लोक ६९ मे पार्श्व प्रभु को श्याम बताया है और सर्ग ११ श्लोक २३, ४५ एवं सर्ग १० श्लोक ६८ मे मरकत (पन्ना) की तरह हरित वर्ण बताया है।

१९—'स्वयंभू स्तोत्र' (२०-२) मे मुनिसुव्रत को मयूर कंठवत् नील वर्ण बताया है।

२०—मुनिसुव्रतकाव्य (अर्हदास कृत) सर्ग ७ श्लोक ४-६ मे मुनिसुव्रतनाथ को कृष्ण वर्ण और सर्ग ६ श्लोक ३३ में 'तमाल नीलाकृति' सर्ग ४ श्लोक २३ मे 'नीलांजन सन्निभ' बताया है।

२१—दौलतरामजी ने 'पद्म चरित' की वचनिका मे नेमिनाथ को मयूर कण्ठ समान श्याम बताया है (जबकि मयूर का कण्ठ नीला होता है) सर्ग २० श्लोक ६५।

२२—रामचन्द्र कृत 'चौबीसी पूज।'
सुपार्श्वनाथ को हरितवर्ण। पार्श्वनाथ को मेघ समान कृष्ण वर्ण। मुनिसुव्रत को श्याम वर्ण बताया है।

२३—वृन्दाबन कृत 'चौबीसी पूजा'। पार्श्वनाथ को हरित वर्ण। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को श्याम वर्ण बताया है।

२४—कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यपूजा

जंबू धातकि पुष्करार्द्ध वसुधा क्षेत्र त्रये ये भवा-
श्चन्द्राभोजशिखंडिकंठकनकप्रावृड्घनाभा जिना ॥
सम्यग्ज्ञान चरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धना
भूतानागतवर्त्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नम ॥★

(जम्बू द्वीप, धातकी द्वीप, आधा पुष्करद्वीप अर्थात् अढाई द्वीप (मनुष्य लोक) के भरत ऐरावत और विदेह इन तीन क्षेत्रो मे उत्पन्न, श्वेत-रक्त-नील-पीत और कृष्ण वर्ण वाले, रत्नत्रय के धारी, अष्ट कर्मो के हंता, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालीन तीर्थकरो के लिए नमस्कार हो।)

इन २४ प्रमाणो से स्पष्ट है कि १६ तीर्थकरो के पीत वर्ण, चन्द्रप्रभ-पुष्पदत के श्वेत वर्ण और पद्मप्रभ-वासुपूज्य के रक्त वर्ण होने मे सब ग्रन्थ एक मत है। सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्व तथा मुनिसुव्रत और नेमि इनके वर्ण के विषय मे परस्पर मतभेद है। कोई सुपार्श्व पार्श्व को हरित, कोई कृष्ण और कोई नील वर्ण बताते है। इसी तरह कोई मुनिसुव्रत और नेमि को नील और कृष्ण वर्ण बताते है जिसकी उपरोक्त २४ प्रमाणो के अनुसार निम्नाकित तफसील है —

१ से ५ और १५—सुपार्श्व पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = नील।
६ से १०—सुपार्श्व-पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = कृष्ण।
११ और १६—सुपार्श्व-पार्श्व = कृष्ण। सुव्रत-नेमि = नील।
—२४—
१२ से १४—सुपार्श्व-पार्श्व = नील। सुव्रत-नेमि = कृष्ण।
१७—पार्श्व = श्याम। १८—पार्श्व = श्याम और हरित। १९—सुव्रत = नील।

★ 'ज्ञानपीठ पूजाजलि', पृ० ६४ मे इसका अधूरा और गलत अर्थ किया है।

२०—सुव्रत = कृष्ण (नील)। २१—नेमि = श्याम। २२—सुपार्श्व = हरित। पार्श्व, सुव्रत = श्याम।

२३—पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = श्याम।

ऐसी हालत मे यह विचारणीय हो जाता है कि—ग्रन्थो में यह परस्पर विरुद्ध और भिन्न कथन क्यो है ? क्या इसका कोई समाधान या संगति भी है या नही ?

नीचे समाधान प्रस्तुत किया जाता है :—

काला, नीला और हरा ये तीनो रंग एक (कृष्ण) ही माने जाते है—ऐसा कवि संप्रदाय है। महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' सर्ग २ श्लोक १७ मे लिखा है :—

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥

नंदिनी गाय को चरा कर शाम के वक्त राजा दिलीप वापस घर को लौटने लगे तो इस प्रकार उन्होने वन की शोभा देखी—

"सरोवर से निकले (कीचड से लिप्त अत. श्याम वर्ण) शूकर समूह और अपने आवास की ओर जाते (नील वर्ण) मयूर तथा जिस पर मृग बैठे है ऐसी (हरी) दूब इन तीनो से मानो वन श्याम वर्ण हो रहा था।"

इस प्रकार कवि ने चमत्कारिक शैली से कृष्ण, नील और हरित इन तीनो को एक श्याम वर्ण द्योतित किया है।★

★ धनजय नाममाला के अमरकीर्ति भाष्य (ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ० ७२ मे भी कृष्ण रंग के पर्यायवाची नामों मे हरित और नील-मेचक (मेचक. शिखिकण्ठाय: इति दुर्ग:) शब्द दिये है इससे भी जाना जाता है कि हरे नीले को काले कहने की कवियों की मान्यता रही है।

यह कवि संप्रदाय कोरी कल्पना मात्र ही हो ऐसा नही है प्रत्युत प्रत्यक्ष अनुमानादि से भी इसकी पुष्टि होती है यथा—गहरे नीले रंग के पदार्थ जैसे नीलम का पत्थर, मोर तूते की डली सामान्य तौर से काली ही दिखाई देती है। रोशनी के सामने करने पर या टुकडे करने पर ही वह नीली दिखाई देती है। इसी तरह गहरे हरे रंग के पदार्थ भी काले ही दिखाई देते है जैसे पन्ने का पत्थर आदि।

संस्कृत शब्दकोशो मे भी नीला रंग अलग नही बताया गया है। वह कृष्ण रंग के पर्यायवाची रूप मे ही बताया गया है; देखो—"अमर कोष" काण्ड १ वर्ग ५ श्लोक २३ –कृष्णे नीलाऽसित श्याम काल श्यामल मेचकः, ये ७ नाम काले रंग के दिये हैं जिनमे १ नाम 'नील' भी है। और इसीलिए भौंरे को नीलक, नीलंगु। काले उड़द को नील माष। कीचड़ और अन्धकार को नील पंख। कृष्णाजनगिरि को नीलगिरि। अग्नि को नील पृष्ठ। काली मक्खी को नील मक्षिका। शनिश्चर को नीलवसन। काले सुरमे को नीलाजन। काले बादल को नीलाभ कहते है। इसी दृष्टि से प्रमाण नं० २० के 'तमालनील' और 'नीलाजन' शब्दों मे प्रयुक्त 'नील' शब्द का अर्थ नीला न होकर काला ही है क्योंकि तमाल वृक्ष काला ही होता है (देखो अमर कोष—"कालस्कधस्तमालः स्यात्") इसी तरह अंजन सुरमा भी काला ही होता है।

'जिन सहस्र नाम' की श्रुतसागरी टीका पृष्ठ २११ मे 'केशव' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा है—"प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णाः केशा मस्तके विद्यते यस्य स केशव" अर्थात् जिसके शिर पर भँवरे के समान काले केश हों उसे केशव कहते है। इसमे भी स्पष्टतया नील शब्द को कृष्ण वर्ण के ही रूप मे प्रयुक्त किया है। इन सब प्रमाणों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि—'नील' का अर्थ कृष्ण भी होता है। अब 'हरित' के विषय मे नीचे कुछ विवेचन किया जाता है :—

कवि लोग इस पृथ्वी को "शस्यश्यामला" अर्थात् हरे हरे पौधों से श्याम वर्ण वाली, इस विशेषण से व्यक्त करते है। इससे हरे को काला कहने की पद्धति का पता लगता है। इसी दृष्टि से वादिराज ने 'पार्श्वनाथ चरित' मे पार्श्वप्रभु को एक जगह हरा और एक जगह श्याम लिखा है। देखो प्रमाण नं० १८। तिलोयसार गाथा ७८४ मे तीसरे काल के मनुष्यों का शरीर 'प्रियंगु-श्याम = हरित-श्याम वर्ण वाला बताया है। इस तरह स्पष्ट है कि हरे को श्याम भी कहा जाता है।

इन सब विवेचन से जिन्होने नील अथवा हरित की जगह श्याम-कृष्ण वर्ण लिखा है वह तो समझ मे बैठ जाता है किन्तु जिन्होने हरित की जगह नीलवर्ण लिखा है उसका क्या समाधान है ?

लोक मे हरित शाक सब्जी को नीलोती कहते है। मालवा मे हरे चनो को लोलवा कहते है (नील और लील एक ही शब्द है यथा नीलगर, लीलगर)। हरी दूब को हिन्दी और संस्कृत मे 'नील दूर्वा' कहते है। कोकण मे 'नीली हरियाली,' गुजराती मे 'नीलोध्रा,' लीलीध्रो। मराठी मे 'नील दूर्वा' हरयाली, काली दूर्वा कहते हैं।

(प्राकृत शब्द महार्णव, मे भी 'णील' शब्द का अर्थ हरा और नीला दोनों बताया है और प्रमाण मे ठाणांग व पण्णवणा सुत्त १ का नाम दिया है। इसी तरह कोशों मे इन्द्रनीलमणि का अर्थ नीलम (नीले रंग की मणि) और मरकत (हरे रंग का पन्ना) दोनो दिया है।

गोम्मटसार जीव काण्ड गाथा ४९५ मे जघन्यभोगभूमि वालो का शरीर हरित वर्ण बताया है, इसे ही 'गौतम चरित्र, अ० ५ श्लोक ९२ मे 'नील' वर्ण से कहा है।

इस सबसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि—हरे रंग को नीला कहने की भी प्रणाली है। हरा रंग बनता भी नीले और पीले रंग के संयोग से है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकारों

ने जो हरित, कृष्ण, और नील इन तीनो को परस्पर उलट-पुलट अथवा एक श्याम वर्ण ही प्रयुक्त किया है, वह अयुक्त नही है।

फिर भी एक सवाल उत्पन्न होता है कि तब क्या हरे और नीले कोई अलग रग नही है ? अगर है तो पार्श्व-सुपार्श्व और मुनिसुव्रत-नेमी का वास्तविक रंग क्या है ? क्या ये चारो काले ही है ? अगर ये काले ही होते तो ग्रन्थकार इन को अलग अलग नही बताते, चारो को एक कृष्ण वर्ण का ही लिख देते। अलग अलग (युग्म) बताने से और साथ मे अलग अलग रग के वैसे ही उदाहरण देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि—इनका रग भिन्न रहा है।

वह भिन्न रंग काले हरे और नीले मे से कौन से तीर्थंकर का वास्तविक कौनसा है इसको निर्णय करने का हमारे पास कोई साधन नही है। जो भी मान्य ग्रन्थकारो ने लिखा है वह परस्पर विरुद्ध होने पर भी उसे सग्रह करके चलना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी युक्तिवाद का आश्रय ले तो निम्न तथ्य सामने आता है। काले रग के मनुष्य तो देखे जाते है किन्तु हरे और नीले रंग के मनुष्य कही देखने मे नही आते—हाँ नीली आखो के मनुष्य अवश्य देखे जाते है।

हरा रग कोई स्वतत्र रंग नही है वह पीले और नीले रग के सयोग से बनता है इसीलिए उसका एक नाम 'पीतनील' है। देखो—'अभिधान चिन्तामणि' कोश पृष्ठ ५५९—'पीतनील पुनर्हरित्'।

जैन शास्त्रकारो ने रंग के ५ भेद बताये है—ये ही चौबीस तीर्थंकरो के वर्ण के आधार रहे है। ये ५ भेद इस प्रकार है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनमे नीला रग तो है किन्तु हरा नही।

इसी तरह वर्ण नाम कर्म के उदय से जो कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म (लाल), शुक्ल ये ६ द्रव्यलेश्या—शरीर का रंग बताया है, उसमे भी नीला रग तो है किन्तु हरा नही।

इस दृष्टि से तिलोयसारादि (प्रमाण नं० ११–१२–१३–१४–१६–२४) क ाकथन जिनमें हरे रंग के तीर्थकर नही बताये है विशेष उचित प्रतीत होता है—बशर्ते कि 'नील' का अर्थ 'हरा' न लिया जाय। ('तिलोय सार' के कर्ता ने 'नील' के साथ कोई उदाहरण भी नही दिया है जिससे जाना जाता कि उन्हे नील से कौनसा वर्ण विशेष इष्ट था।

यह तो हुआ २४ तीर्थकरो का वर्ण विवेचन। अब प्रसंगोपात्त अन्य पौराणिक महापुरुषो का भी शरीर-वर्ण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

(१) तिलोयसार, गाथा ८१८
 १२ चक्रवर्तियो का शरीरवर्ण सुवर्ण सदृश (पीत) बताया है।

(२) जबूदीव पण्णत्ती—उद्देश्य २ गाथा १८२, १८३, १८४
 ९ बलदेवो का श्वेत तथा ९ नारायण-प्रतिनारायणो का नील कमल के समान (नीला) बताया है।

(३) तिलोय पण्णत्ती (भाग १ पृ० २०० से २०६)
 १४ कुलकरो का रग सुवर्ण सदृश (पीत) बताया है।

(४) हरिवश पुराण सर्ग ६० श्लोक ५६७
 नवनारायणो को अजनच्छाय (कृष्ण वर्ण) बताया है। श्लोक ५६९ मे नव बलदेवो को चन्द्रसम—श्वेत वर्ण बताया है।

(५) उत्तर पुराण (गुणभद्र कृत) मे ९ वासुदेवो का रंग नील-कृष्ण बताया है और ९ बलदेवो का श्वेत बताया है। देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० ३८३-(श्रीकृष्ण) लसन्नीलाब्जवर्णाभो। पृ० ८५, १२६, २४१, २५५ मे क्रमश. बलदेव नारायण का रग इस प्रकार द्योतित किया है—शंखेन्द्रनीलसकाशौ, शुक्ल-कृष्णत्विषौ, चन्द्रेन्द्रनीलसकाशौ, अमेयवीर्यौ हसाशनीलोत्पल-समत्विषौ।

इस विषय मे श्वेताम्बर-मान्यता क्या है वह नीचे प्रकट की जाती है :

१—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्राचार्य कृत) काण्ड १ श्लो० ४९—

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभपुष्पदंतौ ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ श्री मल्लि पार्श्वौ कनत्विषोऽन्ये ॥

अर्थ—पद्मप्रभ और वासुपूज्य 'लाल', चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत 'श्वेत', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ 'कृष्ण', मल्लि और पार्श्व 'नील' एवं शेष १६ तीर्थंकर सुवर्ण रंग के है ।

२-३—"त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित" (हेमचन्द्र) मे तथा "जैनरत्नसार" पृ० २८८ मे भी उपर्युक्त ही कथन है ।

४—विचार सार प्रकरण (प्रद्युम्नसूरि)

पउमाभ वासुपुज्जा रत्ता ससि पुप्फदंत ससि गोरा ।
सुव्वय नेमि काला पासो मल्ली पियगु निभा ॥११॥
वर कणय तविय गोरा सोलस तीत्थकरा मुणेयव्वा ।
एसो वण्ण विभागो चउवीसाय जिणवराणं ॥१११॥

अर्थः—इसमे पार्श्व-मल्लि को प्रियंगु सदृश (हरित) वर्ण वाले बताये है—शेष कथन उपर्युक्त ही की तरह है ।

५—"मंत्राधिराज चिन्तामणि" मे सागरचन्द्र सूरि रचित 'मंत्राधिराज कल्प' तृतीय पटल श्लोक ८८, ९० मे—मुनिसुव्रत और नेमि को "तैलाक्तकज्जलकलेवर—कृष्णाग (गहरे काले) लिखा है । श्लोक ८७, ९१ मे—मल्लि और पार्श्वनाथ को "कदलीदल नीलदेह" अर्थात् केले के पत्तों की तरह नील वर्ण वाले बताये है किन्तु केले के पत्तो का रंग हरा होता है नीला नही । अत यहाँ 'नील' का अर्थ उदाहरण के अनुसार 'हरा' ही लेना चाहिए । पूर्व मे हरे को नीला कहने की पद्धति का दिग्दर्शन करा ही आये है । ऊपर भी प्रमाण नं० ४ मे पार्श्व मल्लि

को प्रियंगु–हरित वर्ण ही लिखा है। ऐसी हालत में एक बात विचारणीय है कि—ऊपर प्रमाण नं० १–२–३ मे जो हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्व मल्लि को 'नील' बताया है सो उससे कौनसा रंग ग्रहण करना चाहिए ? नील का अर्थ आसमानी और हरा ही नही होता, काला भी होता है। अगर हरा ही ग्रहण करें तब तो श्वे० आम्नाय मे कोई मान्यता भेद नही होता और अगर आसमानी भी काला ग्रहण करें तो मान्यता भेद उत्पन्न होता है। हेमचन्द्राचार्य ने कही भी नील के साथ कोई उदाहरण नहीं दिया है इससे यह निर्णय करना कठिन है कि—'नील' से कौनसा वर्ण विशेष उन्हे इष्ट था।

"त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित" गुजराती अनुवाद पर्व ९ सर्ग ३ पृष्ठ ४७०–७१ मे पार्श्व प्रभु को नीलमणी और नीलकमल की सदृश्य काति वाले नीलवर्ण, लिखा है—यह ज्ञातव्य है।

६—ऋषि मण्डल स्तोत्र*

शिर. संलीन ईकारो विनीलो वर्णनः स्मृत.।
वर्णानुसारसंलीनं तीर्थकृन्मंडलं नमः ॥१३॥
शिरः ई स्थिति संलीनौ पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ ॥१५॥

अर्थ—'ह्रीं' इस बीज अक्षर को ईकार मात्रा का रंग विनील (विशेष नीला) किया जावे और उस पर उसी रंग के तीर्थकर–पार्श्व मल्ली के नाम लिखे जावें) इसका कथन ठीक हेमचन्द्राचार्य ही की तरह है।

श्वेताबर आम्नायानुसार यह २४ तीर्थंकरों का वर्ण विभाग है। इससे स्पष्ट है कि—दि० श्वे० आम्नाय मे खास अन्तर निम्न प्रकार है—

---

* यह कृति श्वेतांबरी ही है इस विषय में एक खोजपूर्ण लेख "क्या ऋषि मण्डल स्तोत्र दिं० परम्परा का है ?" इस शीर्षक से इसी ग्रंथ में देखिये।

मल्लिनाथ को श्वेताम्बर नील वर्ण और सुपार्श्वनाथ को कनकवर्ण मानते है जब कि दिगम्बर, मल्लिनाथ को सुवर्ण वर्ण और सुपार्श्वनाथ को हरित या नील वर्ण मानते है अर्थात् श्वेताम्बर सुपार्श्वनाथ की जगह मल्लिनाथ को विनील लिखते है। इस नाम-व्यत्यय के सिवा रंग के विषय मे श्वे० हेमचन्द्राचार्य का कथन दि० 'तिलोयसार' ग्रन्थ के कथन से मिलता है।

अब ६३ शलाका पुरुषों मे से शेष का शरीर वर्ण श्वेताम्बराम्नायानुसार क्या है यह नीचे बताया जाता है .

१—विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरि)

वन्नेण वासुदेवा नीला सब्बे बला च सुक्किलया ॥५७०॥
सच्चे विरागवण्णा निम्मल कणगप्पभा मुणेयव्वा ।
छह खंड भरह सामी तेंसि पमाणं अओ वुच्छे ॥५४३॥

(९ वासुदेव तथा ९ प्रति वासुदेव नीलवर्ण है और ९ बलदेव शुक्ल वर्ण है १२ चक्रवर्ती कनकवर्ण है) ।

२—'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' (हेमचन्द्र) पर्व १ सर्ग ६

वासुदेवाः नवाऽसिता. ॥३३८॥
बलदेवा. सिता नव ॥३३९॥
काश्यपश्च कृष्णः स्वर्ण वर्णा अष्टैषु मोक्षगा. ॥३२६॥

[इसमे वासुदेवो (प्रतिवासुदेवो) को कृष्ण वर्ण बताया है शेष पूर्ववत् है]

३—'अभिधानचिन्तामणि' (हेमचन्द्र) काण्ड ३

वासुदेवा अमी कृष्णा नव शुक्ला बलास्त्वमी ॥३६१॥
[इसमे भी प्रमाण नं० २ की तरह ही कथन है] ।

ऊपर के विषय मे दि० श्वे० आम्नाय मे परस्पर क्या अन्तर पडता है यह बताना अनावश्यक है। यह दोनो आम्नायों के दिये गये प्रमाणो से

विज्ञपाठक स्वयं निर्णय कर सकते है। निर्णय की विधि पूर्व में प्रदर्शित कर ही आये हैं।

अब नीचे कतिपय ऐसे ग्रन्थोल्लेख प्रस्तुत किये जाते है जो तीर्थंकरों के शरीर-वर्ण विषय मे कुछ विलक्षण ही प्रकाश डालते है—

१—अपराजित पृच्छा (भुवनदेवाचार्य कृत)

चन्द्रप्रभ. पुष्पदंत: श्वेतौ वै क्रौंचसंभवौ ।
पद्मप्रभो धर्मनाथो रक्तोत्पलनिभौ मतौ ॥
सुपार्श्व· पार्श्वनाथश्च हरिद्वर्णौ· प्रकीर्तितौ ।
नेमिश्च श्यामवर्ण· स्यान्नीलो मल्लि. प्रकीर्तित· ॥
शेषा: षोडशसंप्रोक्तास्तप्तकांचनसप्रभा ।
वर्णानि कथितान्यग्रे लाछनानि तत श्रृणु ॥

—प्रतिमालक्षण (सं० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल पृ० २७१

इसमे सुपार्श्वनाथ को जो हरिद्वर्ण बताया है वह दि० संप्रदायानुसार है और मल्लिनाथ को जो नील वर्ण बताया है वह श्वे० संप्रदायानुसार है इस तरह इसमे दोनो आम्नाओ को ग्रथित किया है किन्तु धर्मनाथ को रक्त वर्ण और मुनिसुव्रतनाथ को कांचन वर्ण बताया है वह दोनो आम्नायो से विरुद्ध है। इस तरह इस ग्रन्थ का कथन बडा ही विलक्षण मालूम पडता है।

यह 'अपराजित पृच्छा' ग्रन्थ जैनेतर है। इसके कथन से सिद्ध है कि इसके कर्ता को जैन (दि० श्वे०) ग्रन्थो का प्रामाणिक ज्ञान नही था। आजकल जिस तरह अनेक जैनेतर विद्वान् जैन मान्यताओ के विषय मे अन्यथा प्रतिपादन करते देखे जाते है उसी तरह पूर्वकाल मे भी ऐसा होता रहा है—यह इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है।

२—"मूर्तिविज्ञानम्" (जी० एच० खरे कृत) पृ० २०२–२०५ में दिगम्बर मतानुसार तीर्थंकरों का वर्ण निम्न प्रकार बताया है। (देखो— पुष्पदंत कृत महापुराण भाग २ पृ० ५५८)

सुमति, पद्म = कुंकुम। वासुपूज्य = रक्त। पार्श्व, मल्लि = नील। मुनिसुव्रत, नेमि = कृष्ण। सुपार्श्व = काचन।

इसमे मल्लिनाथ को नील और सुपार्श्व को काचन वर्णी बताया है। वह श्वे० संप्रदायानुसार है जबकि ग्रंथकार ने यह वर्ण विवेचन दि० मतानुसार होने की बात कही है जो गलत ठहरती है। इसके सिवा सुमतिनाथ को जो कुंकुम (रोली केशर) के समान लाल वर्ण के बताये है वह दोनों संप्रदायो की दृष्टि से विरुद्ध है इस तरह इस ग्रथ का कथन भी विलक्षण ही ज्ञात होता है। अगर 'सुमति' विषयक कथन को मुद्रण की गलती मान ली जाय तो समग्र कथन श्वे० आम्नायानुसार हो जाता है किन्तु ग्रथकार ने समग्र कथन को दिगम्बर मत का बताया है यह विलक्षणता फिर भी रहती है*

इस सब विवेचन से तीर्थकरो के शरीर-वर्ण विषय मे ग्रंथकारो के परस्पर भिन्न–विरुद्ध कथनो के तथ्य को पाठकों ने अच्छी तरह हृदयंगम

---

* वसुनंदिकृत—प्रतिष्ठार सग्रह अ० ५—

चन्द्रप्रभजिन. श्वेतः पुष्पदंत जिनस्था
पद्मप्रभ. सुपद्माभ. सुपूज्यो विद्रुमप्रभः ॥६९॥
सुपार्श्व पार्श्वनाथौ च द्वौ जिनेन्द्रौ हरित्प्रभौ।
मुनिसुव्रतनेमी च जिनौ मरकतप्रभौ ॥७०॥
ये षोडशजिना शेषा ज्ञेयाश्चामीकरप्रभाः।
विज्ञाय वर्णकानेनं भोजयेच्चित्रकर्मसु ॥७१॥

(इसमे पार्श्व सुपार्श्व सुव्रत नेमि चारो को ही एक हरे रंग के बताया है)

कर लिया होगा। अंत में यह और बताना चाहता हूँ कि—ग्रंथो मे अन्यत्र भी जहाँ रंगो को लेकर परस्पर भिन्नता विरुद्धता पाई जाती हो वहीं उपर्युक्त विवेचन को लगा लिया जाना चाहिये। चन्देरी के भोयरों मे चौबीसी की मूर्त्तियाँ हैं जो रंग के अनुसार पत्थरो की बनी हुई हैं।

जिस तरह हरित, नील आदि मे विविधार्थकता पाई जाती है उसी तरह 'गौर' शब्द मे भी। देखो हेमचन्द्र कृत अनेकार्थ संग्रह, द्वितीय कांड श्लोक–४२५" गौर श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि"। अर्थात् "गौर" शब्द सफेद, लाल और पीले तीनो रंगो मे प्रयुक्त होता है।

संस्कृत भाषा मे एक शब्द के अनेक अर्थ और आशय होते है, यह इसकी खासियत है। इस खासियत को अव्यवस्था, जटिलता या विरुद्धता का जनक नही समझना चाहिए किन्तु यह अनेकान्तता का द्योतक हैं, अतः समीचीन है।

परस्पर भिन्नता मे जो यथोचित समन्वय नहीं कर सकते उन्हे ही विरुद्धता मालूम पडती है।

●

कर्मग्रन्थ त्रय

चूर्णी सहित कम्मपयडी, सतक और सित्तरी ग्रन्थ त्रय के विषय में क्षु० श्री सिद्धसागरजी ने 'जैनसंदेश' के शोधाक नं० २ मे एक लेख लिखा है। समीक्षात्मक रूप से नीचे उस पर कुछ विचार किया जाता है—

लेख के आदि मे क्षुल्लक जी ने 'कम्मपयडी संगहणी' की मंगल गाथा देते हुए उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"सिद्धं सिद्धत्थ सुयं वंदिय णिद्धोय सव्वकम्ममलं ।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदय अंताणि वोच्छामि ।

इसमे सिद्ध, सिद्धार्थ, श्रुतगणधर तथा श्रुत को वंदन कर आठ कर्मों के आठ और दो दस करणो का विस्तार पूर्वक वर्णन है।"

समीक्षा—क्षुल्लकजी ने जो अर्थ दिया है वह बिल्कुल गलत है ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये —"जिन्होने सर्व कर्ममलो को नि:शेष रूप से धो दिया हैं और सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लिया हैं ऐसे सिद्धार्थ सुत–भगवान् महावीर को नगस्कार कर आठ कर्मों के आठ करण और उदय व सत्त्व का वर्णन करता हूँ।"

मूल गाथा मे "अताणि' की जगह 'संताणि' होना चाहिये। 'संत' का अर्थ 'सत्त्व' होता है। क्षुल्लकजो को शायद यह मालूम नही प्रतीत होता। इसी लिए २०-५-५८ के जैन-दर्शन मे आपने एक लेख मे 'संत सूत्र' लिख दिया है, जो गलत हैं सित्तरी चूर्णि मे वहाँ 'सत्त्व सूत्र' (कर्मों के सत्त्व विषयक सूत्र) अभिप्रेत है।

क्षुल्लक जी—"निद्रादय समधिगताया एव दर्शलब्धेरुपघाते वर्त्तते दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात्समूलघातं हंति दर्शनलब्धिमिति

गंधहस्ती।" उपाध्याय यशोविजय ने उक्त उद्धरण गंधहस्ती के नाम से उद्धृत किया है। इसी आशय वाला वर्णन शतक व्याख्या में प्रकृति समुत्कीर्तन के समय यतिवृषभ ने किया है अतः गंधहस्ती या गंधहस्ती-महाभाष्य व्याख्या चूर्णिकार से पहिले अवश्य रहा होगा। चूर्णिकार ने गंधहस्ती महाभाष्य का उपयोग भी सिद्धसेन, अकलंक और पूज्यपाद की तरह अवश्य किया है।

समीक्षा—उपाध्याय यशोविजय १८वी शताब्दी के श्वे० आचार्य हैं उन्होंने जो गंधहस्ती के नाम से उल्लेख दिया है वह सिद्धसेन गणी (९वी शताब्दी) की तत्त्वार्थवृत्ति का उल्लेख है। अध्याय ८ सूत्र ८ की वृत्ति मे पृ० १३५ पर वह इस प्रकार पाया जाता है—"निद्रादयो यतः समधिगताया एव दर्शनलब्धेः उपयोगघाते प्रवर्त्तंते, चक्षुर्दर्शनावरणादि-चतुष्टयं तद्गमोच्छेदित्वान्मूलं निहंति दर्शनलब्धि" यह उल्लेख क्षुल्लकजी के द्वारा उद्धृत उल्लेख से प्रायः अक्षरशः मिलता हैं। श्वे० संप्रदाय में सिद्धसेन 'गंधहस्ति' के नाम से भी प्रसिद्ध रहे है। उपाध्याय यशोविजय आदि बहुत से श्वे० आचार्यों ने जो अनेक जगह गंधहस्ती के नाम से उल्लेख दिये हैं वे सब प्रायः सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थवृत्ति में पाये जाते है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोविजयजी द्वारा गंधहस्ती के नाम से दिया हुआ उपर्युक्त उद्धरण सिद्धसेन की वृत्ति का ही है—यह उद्धरण और भी अनेक श्वे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थ में 'गंधहस्ती' ही के नाम से दिया है (देखो प्रवचनसारोद्धार टीका पत्र ३५८ तथा देवेन्द्र-सूरि कृत प्रथम कर्मग्रन्थ (गाथा १२) की टीका)। यहाँ एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि इन सभी श्वे० उद्धरण कर्ताओं ने 'गंधहस्ती' व्यक्ति नाम ही दिया है कही भी 'गंधहस्ति महाभाष्य' ऐसा ग्रन्थ नाम नहीं दिया है अतः यशोविजयजी के उद्धरण से न तो किसी गंधहस्ति महाभाष्य का समर्थन होता है और न उसका दिगंबरीय होना ही सिद्ध होता है—आज तक किसी भी दि० ग्रंथकारके द्वारा गंधहस्ति महाभाष्य

का कोई भी वाक्य उद्धृत हुआ नही पाया जाता है। ऐसी हालत मे यह कैसे हो सकता है कि १८वी शती के श्वे० यशोविजयोपाध्याय को तो दिगम्बर सम्मत गधहस्ति महाभाष्य उपलब्ध हो और दिगम्बर आचार्यों को वह उपलब्ध हो न हो।

इस तरह जब यशोविजय का उद्धरण हो दिगम्बर सम्मत गधहस्ति महाभाष्य का सिद्ध नही होता तब उसके बल पर शतक चूर्णि के वाक्यो का बादरायण सम्बन्ध जोडना और उन्हे दिगम्बरीय गधहस्ति महाभाष्य का बताना कितना निराधार और भूलभरा है, यह साधारण पाठक भी सहज समझ सकता है।

शतक चूर्णिकार के वे वाक्य यशोविजय के उद्धरण से शब्दश बिल्कुल भी नही मिलते अर्थश कुछ कुछ मिल सकते है। सभव है शतक व्याख्याकार ने वे वाक्य सिद्धसेन की तत्त्वार्थवृत्ति पर से गढे हो अथवा दोनो ने ही किसी प्राचीन स्रोत से स्वतन्त्र रीत्या निर्मित किये हो, इसके सिवा व्याख्या चूर्णिकार ने वहाँ कही भी गधहस्ति महाभाष्यका कोई भी नामोल्लेख नही किया है। ऐसी हालत मे उन वाक्यों को दि० गधहस्ति महाभाष्य के बताना किसी भी तरह समुचित नही कहा जा सकता। और शतक चूर्णि को बिना किसी प्रमाण के यतिवृषभ की कृति बताना भी निराधार है। इसी तरह बिना किसी प्रमाण के पूज्यपाद सिद्धसेन और अकलक तक को गधहस्ति महाभाष्य का उपयोगकर्त्ता लिखना भी बडा साहसपूर्ण प्रतीत होता है, जब कि इन आचार्यो के किसी भी ग्रन्थ मे कही भी गधहस्ती महाभाष्य का कोई भी उल्लेख नही पाया जाता है।

क्षुल्लकजी—मूलाचार की "पच नव दोन्नि अट्ठावीसा" यह गाथा कम्पपयडी, शतक तथा सत्तरि चूर्णि मे उद्धृत पाई जाती है। तथा दि० 'पचसग्रह' मे पाई जाने वाली "निद्दापयलाय तहाँ" गाथा सत्तरी चूर्णि मे उक्तच रूप से पाई जाती है।

समीक्षा—ऊपरके कथन से क्षुल्लकजी का यह आशय प्रतीत होता है कि दि० ग्रन्थो मे पाई जाने वाली उक्त गाथाएँ ही इन चूर्णि ग्रन्थों मे पाई जाती हैं इससे ये दि० ग्रन्थ है तो यह नतीजा ठीक नही है—यह कोई दिगम्बरत्व का नियामक नही माना जा सकता, अगर ऐसा हो माना जायगा तो फिर मूलाचार की अनेक गाथाये श्वे० आवश्यक निर्युक्ति मे भी पाई जाती हैं तो क्या श्वे० निर्युक्ति भी दि० ग्रन्थ है ? पर ऐसा नहीं है, सही बात यह है कि दि० श्वे० दोनो को विरासत में मूल सामग्री एक ही जगह से मिली है अतः दोनों के किसी अंश में साम्य पाये जाने से ही सारा ग्रंथ किसी एक आम्नाय का नहीं हो सकता उसमें पाई जाने वाली दूसरी विरुद्ध बातो का भी ख्याल करना होगा। शोधाक १ मे पं०कैलाशचंद्रजी ने चूर्णि ग्रंथो का अंतःपरीक्षण करके कुछ प्रमाण देते हुए यह बताया था कि ये यतिवृषभ कृत और दिगम्बर नही हैं क्योकि इनमें यतिवृषभ के मंतव्यो से विरुद्ध मंतव्य पाये जाते है पर क्षुल्लकजी ने उनपर कोई ध्यान नही दिया प्रतीत होता है। उन्होने पं० हीरालालजी सिद्धातशास्त्री की ही तरह बिना विशिष्ट मनन किये इन चूर्णि ग्रन्थों को यतिवृषभकृत लिख दिया है। इन चूर्णियो मे श्वेताम्बर ग्रन्थो की गाथाएँ भी पाई जाती है तथा इनमे दि० ग्रन्थकारो को 'अन्य' शब्द से भी उल्लेखित किया है। ऐसी स्थिति मे ये चूर्णियाँ दिगम्बर ग्रन्थ सिद्ध नहीं होती। जो विद्वान् इन ग्रंथो को दि० मानने का आग्रह रखते हो उनका कर्त्तव्य हो जाता कि—वे सबसे पहिले उन बातोका समाधान करें जो इनमे श्वे० आम्नाय को समर्थन करने वाली है और फिर साथ मे ऐसे स्थल भी खोजकर बतावे जो स्पष्टतः श्वेताम्बर विरुद्ध हो और दिगम्बर सम्मत हो। बिना इस प्रकार का परिश्रम किये केवल यह लिख देना कि—"ये चूर्णिया यतिवृषभ की चूर्णियो से मेल खाती है अत दिगम्बर है, कोई वकत नही रखता।

मूलग्रंथ और उनकी चूर्णियो पर विशिष्ट अध्ययन होने की सख्त

जरूरत है। (प्राकृत) पंचसंग्रह को छोड़कर किसी भी दि० ग्रंथ में इन ग्रंथों का उल्लेख तक नहीं पाया जाता जब कि इन ग्रंथों पर श्वेताम्बरों की विस्तृत टीकायें पाई जाती हैं। (श्वे०) सिद्धसेन गणि ने भी तत्त्वार्थ-वृत्ति (अध्याय ८ का अन्तिम सूत्र) मे 'कर्मप्रकृति' का उल्लेख किया है। ऐसी हालत में इन ग्रन्थो के श्वेताम्बर होने का ही समर्थन होता है।

क्षुल्लकजी—"व्याख्या चूर्णि के रचयिता यतिवृषभ माने जाते हैं, लगभग ५वी सदी मे यह व्याख्या चूर्णिया बनी है यही शिवशर्म का वास्तव मे काल है।"

समीक्षा—क्षुल्लकजी एक जगह तो यतिवृषभ और शिवशर्म का काल २री से ५वी सदी लिखते हैं और एक जगह स्पष्टत ५वी सदी लिखते हैं जब कि एक दफा इन्होने ही जैन-सन्देश मे यतिवृषभ का काल प्रथम द्वितीय सदी बताया था। इसके सिवा २०-५-५८ के जैन-दर्शन मे इन्होने आचार्य शिवशर्म को भगवंत भूतबलि के समकालीन या उनसे भी कुछ पहिले रहा बताया है। इस तरहके परस्पर- विरुद्ध कथन अनिश्चयात्मक होने से भ्रांति जनक हैं।

●

काव्यों के अंक

सुगमता से अपनी वस्तु अलग पहचान ली जाय इसके लिये मानव समाज उनमें अपने अलग-अलग चिन्ह कायम कर देता है जैसे साबुन के व्यापारी अपने-अपने साबुन के अलग-अलग चिन्ह 'सनलाइट', 'लक्ष', 'वतनी', 'रेक्सोना', पामोलिव' आदि रखते हैं। अलग-अलग देशों की सरकारें अपने राष्ट्रध्वजों और मुद्रादि पर अलग-अलग चिह्न रखती है। उसी तरह कवि भी अपनी अपनी कृतियों मे अपना इच्छित शब्दचिह्न रख देते है उसे ही काव्यो का अंक यानी चिह्न कहते हैं। ये 'अंक' (संकेताक्षर) काव्यों के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में प्रयुक्त होते हैं—माघकविकृत माघमहाकाव्य का अंक 'श्री' है। भारवी ने 'लक्ष्मी', प्रवरसेन ने 'अनुराग', पंचशिख ने 'आनन्द' शब्दांक का प्रयोग किया है।

नीचे कुछ जैन काव्यो के अंक खोजकर बताये जाते हैं—

१—पार्श्वनाथ चरित (वादिराज सूरिकृत) इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त मे 'श्री' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् यह काव्य 'श्र्यंक' है।

२—यशोधर चरित (वादिराज सूरिकृत) यह काव्य भी श्र्यंक है।

३—चन्द्रप्रभ चरित (वीरनंदिकृत) इस काव्य का अंक 'उदय' है। इसके १२वें सर्ग के अन्तिम श्लोक में—'गुरुवचनं हृदयैषिणामलंघ्यं' ऐसा बंबई से प्रकाशित प्रति में छपा है। इसमें 'हृदय' पाठ अशुद्ध है। ह्युदय' पाठ चाहिए तभी अर्थ-संगति होगी और सर्गान्त में 'उदयांक' की सिद्धि होगी।

४—महावीर चरित (अशगकृत) इस काव्य का अङ्क 'सम्पद' है।

५—गौतम चरित (मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रकृत) इसका अङ्क 'सदा' या नित्य है।

६—'भरतेश्वराभ्युदय' अनुपलब्ध (आशाधरकृत) इसका अङ्क 'सिद्धि' है। देखो आशाधरप्रशस्ति,—सिद्ध्यंकं भरतेश्वराभ्युदय सत्काव्यं निबंधोज्ज्वलं।

७—'श्रावक धर्मविधि प्रकरण' (प्राकृत) सिर्फ अन्तिम गाथा १२० मे 'विरह' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिकृत है। इनके और भी ग्रन्थों के अन्त मे 'विरह' शब्दाङ्क पाया जाता है। हरिभद्रसूरि नाम के अनेक विद्वान् हुए है किंतु इस विरहाक से यह अलग पहिचाने जा सकते है।

८—शासन चतुस्त्रिंशिका (मदनकीर्तिकृत) प्रत्येक श्लोक के अन्त मे 'दिग्वाससा शासनं' पदका प्रयोग है।

कुछ काव्य ऐसे है जिनमे कवियो ने अपने नाम का पूर्व भाग या पूरा नाम अंकित किया है वे इस प्रकार है—

१—पउम चरिय-प्राकृत (विमलसूरिकृत) इस काव्य के प्रत्येक उद्देश के अन्त मे 'विमल' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

२—पद्मचरित (रविषेणकृत) 'रवि' अङ्क का प्रयोग है। किन्तु पर्व ८० के अन्त मे 'रवि' शब्द का प्रयोग नही पाया जाता है। कवि ने वहाँ 'रवि' के पर्यायवाची 'प्राशुविहारी' शब्द का प्रयोग किया है—खास शब्द के बजाय पर्यायवाची शब्दो के प्रयोग की भी प्रणाली रही है।

३—आदिपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) यह जिनाक है। किंतु पर्व ३१, ३५, ३९ के अन्त मे 'जिन' अङ्क नही पाया जाता है। कवि ने वहाँ 'जिन' के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है।

ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित संस्करण के पर्व १५ के अन्त मे 'जनश्रीः' छपा है वह गलत है। वहाँ 'जिनश्री' शुद्ध पाठ होना चाहिए तभी अर्थ-सगति और अङ्क की निष्पत्ति होगी।

४—हरिवंशपुराण जिनसेन (द्वितीयकृत) यह भी जिनांक है। किन्तु सर्ग ५ और ५६ के अन्त मे 'जिन' अङ्क का प्रयोग नही पाया जाता है।

कवि ने वहाँ 'जिन' के पर्यायवाची 'मुनि' और 'तीर्थकृत्' शब्दों का प्रयोग किया है। माणिकचंद ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित संस्करण के सर्ग ६२ के अन्त मे 'जनतया' छपा है जो अशुद्ध है उसकी जगह 'जिनतया' शुद्ध पाठ होना चाहिए तभी अर्थसंगति और जिनाक की निष्पत्ति होगी।

५—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधरकृत) आशाधराक है।

६—महापुराण (अपभ्रंश)—पुष्पदंतकृत। इसमे 'पुप्फयंत—पुप्फदंत' शब्द का प्रयोग है। कही-कही पर्यायवाची 'कुसुमयंत' शब्द का भी प्रयोग है। देखो सधि १०, ६ आदि मे।

७—यशोधर चरित (अपभ्रंश)—पुष्पदंतकृत। इसमे भी 'पुप्फदंत' प्रयुक्त है।

८—नागकुमार चरित (अपभ्रंश)—पुष्पदंतकृत। इसमे भी 'पुप्फयंत' प्रयुक्त है।

९—करकंडु चरित (अपभ्रंश) मुनि कनकामर रचित। इसमे 'कणयामर' प्रयुक्त है।

१०—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पद्मनंदिकृत) प्राकृत। इसमे 'वरपउमणंदि' प्रयुक्त है।

११—श्रावकाचार (अमितगतिकृत) यह अमितगत्यंक है।

१२—त्रैर्वणिकाचार—धर्मरसिक (सोमसेन भट्टारककृत) सब अध्यायों के अन्त मे सोमसेन नामांक है। १०वें अध्याय के अन्त मे 'सोमदेव' नाम है। 'सोम' का अर्थ चंद्र होता है। अत. ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ मे चन्द्रप्रभदेव की स्तुति की है।

१३-१४—पउम चरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (अपभ्रंश)—स्वयंभूकृत। प्रत्येक सन्धि (सर्ग) के अन्त मे 'सयंभु' 'सइंभु' स्वनामांक का प्रयोग है।

१५—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (सकलकीर्तिकृत) सर्गों के अन्त मे 'सकल' या उसके पर्यायवाची सर्व, समस्त आदि शब्दो का प्रयोग है। इस

ग्रन्थ के कुल २४ सर्ग हैं। प्रत्येक की आदि में क्रमशः ऋषभादि २४ तीर्थंकरों का मङ्गलाचरण है।

१६—यशस्तिलकचंपू (सोमदेवकृत) प्रत्येक आश्वास के अन्त में अपना नाम दिया है। आश्वास १ के अन्त मे लिखा है —

सोऽयमाशार्पितयशा, **म**हेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते संततानंदं **व**स्त्वभीष्टं जिनाधिपः॥

इस श्लोक के चारो चरणों का आदि अक्षर लेने से 'सोमदेव' ग्रन्थकार का नाम निकल आता है। चौथे आश्वास के अन्त मे 'सोमदेव' नाम नहीं है। किन्तु 'मया' शब्द से अपनी सूचना की है:—

मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यंति नूनमुच्छिष्टभोजना॥

प्रत्येक आश्वास के आदि में मङ्गलाचरण किया है और मङ्गल श्लोको का प्रारम्भ 'श्री' शब्द से किया है। प्रत्येक आश्वास के अन्त मे भी मङ्गल श्लोक दिया है। किन्तु आश्वास ६-७ के अन्त मे न तो मङ्गलश्लोक पाया जाता है और न कवि का नाम ही। इसी प्रकार आश्वास ६, ७ और ८के आदि मे भी मङ्गलश्लोक नही पाये जाते हैं। जब हम इसके कारण पर विचार करते है तो प्रतीत होता है कि ५वें आश्वास के बाद जो ३ आश्वास मुद्रित मे प्रकट किये गये हैं उन ३ आश्वासों की जगह एक आश्वास होना चाहिए क्योकि ग्रथकार ने ५वें आश्वास के अन्त मे यशोधर चरित की समाप्ति की सूचना की है और आगे श्रुत पठित उपासकाध्ययन वर्णन करने की बात कही है। जैसा कि उनके निम्नाकित शब्दो से प्रकट है:—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥

यह उपासकाध्ययन चूलिका रूप है और इसके अलग ४६ कल्प—विभाग किये गए है। फिर अलग आश्वास करना संगत प्रतीत नही होता

यह ६–७–८ आश्वास–विभाग बाद में किन्हीं लेखकों के द्वारा किया गया सम्भव मालूम होता है, यह कविकृत नहीं है। और इसीलिए इनमें मङ्गलश्लोक नही है और ६–७ के अंत मे कविनाम भी नहीं है।

१७—द्विसंधान (धनंजयकृत) यह महाकाव्य धनंजयांक है।

१८—तत्त्वज्ञान तरंगिणी (ज्ञानभूषणकृत) यह चिदंक है। इसके अध्याय १८, श्लोक २१ मे कर्त्ता ने अपना नाम 'चिद्भूषण' सूचित किया है—'तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेता हि चिद्भूषण·।' 'चिद्' का अर्थ 'ज्ञान' भी होता है। अतः ग्रन्थकार का नाम 'ज्ञानभूषण' प्रसिद्ध है।

१९—तिलोय पण्णत्ति (प्राकृत) इसके प्रत्येक अधिकार के अंत में जो शब्द चिह्न दिया है वह ग्रंथकार के नाम पर न होकर ग्रन्थ के नाम पर है। ग्रंथनाम के पूर्वभाग 'तिलोय' शब्द का पर्यायवाची 'तिभवण' या 'लोक' अङ्क का इस ग्रन्थ के प्रत्येक अधिकार की अन्तिम गाथा मे प्रयोग किया गया है।

नीचे कुछ ऐसे ग्रन्थों के नाम दिये जाते है जिनमें ग्रन्थकार ने अपने नामाक का प्रयोग प्रत्येक सर्ग के अन्त मे न करके सिर्फ ग्रन्थ के अन्तिम भाग में ही किया है :—

१—अनगार धर्मामृत (आशाधर कृत)

२—विषापहार स्तोत्र (धनंजय कृत)

३—भव्यजन कंठाभरण (अर्हद्दास कृत)

४—भक्तामर स्तोत्र (मानतुङ्ग कृत)

५—कल्याण मंदिर (कुमुदचंद्र कृत)

६—स्वयंभू स्तोत्र (समंतभद्र कृत)

७—युक्त्यनुशासन (समंतभद्र कृत) ६२वीं कारिका मे 'समंत-भद्र' शब्द है।

८—अध्यात्मतरंगिणी (सोमदेव कृत)

९—रत्नमाला (शिवकोटि कृत)

१०—भावसंग्रह (देवसेन कृत)

११—आराधनासार (देवसेन कृत)

ग्रंथ के प्रारंभ मे भी अपना पर्यायवाची 'सुरसेन' नाम श्लेष रूप से दिया है।

१२—क्षत्रचूडामणी (वादीभसिह कृत) ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक मे ग्रंथकार ने अपने नाम के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है जो शब्द-कुशलता को लिये हुए है—

सोऽयं दुर्मतकुजरप्रहरणे पंचाननं पावन ।

(दुर्मत = वादी, कुंजर = इभ, पंचानन = सिह ।)

इस प्रकार के और भी बहुत से ग्रन्थ है स्थानाभाव और लेखवृद्धि के कारण उनके नाम छोडे जाते है।

कुछ कृतियाँ ऐसी है जिनमे कवि ने अपना नाम ग्रन्थ के प्रारंभ मे श्लेष रूप से सन्निविष्ट किया है—

१—नीति वाक्यामृत (सोमदेव कृत) सोमदेव मुनि नत्वा नीति वाक्यामृत ब्रुवे ।

२—नीतिसार (इन्द्रनंदि कृत) इन्द्रनंदित संपद (अत मे—शक्रनंदित सपद) ।

३—दर्शनसार (देवमेन कृत) 'सुरसेण' आद्यगाथा मे ।

४—आराधनासार (देवसेन कृत) 'सुरसेण' आद्यगाथा मे ।

५—मन्मति सूत्र (सिद्धसेन कृत) नामैकदेश 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग ।

इस प्रकार यह जैन काव्यो के अंको का संक्षिप्त इतिहास है।

टोडरमल श्रावकाचार

'मनोमति खंडन्' जिसे बम्बई के श्रीधर शिवलाल के छापे खाने मे सं० १९४२ मे पं० मन्नालाल जी मानपुर बालो ने छपाया था उसके पत्र तीन मे लिखा है।

"बहुरि टोडरमल्ल कृत श्रावकाचार विषै तो जिन बिम्ब के केसर चंदनादि का लगवाना निषेध्या है।" इन वाक्यो पर से बहुत से भाइयो की सम्मति बन गई है कि—पूज्यवर पडित टोडरमल जी का एक श्रावकाचार ग्रन्थ भी रहा है। इस विषय मे अजमेर, जयपुर के कुछ स्वाध्याय शील व्यक्तियो ने भी मुझसे कई बार पूछा कि—'क्या आपको कही 'टोडरमल श्रावकाचार' देखने मे आया है? आज उक्त जिज्ञासा के समाधान रूप मे नीचे प्रकाश डाला जाता है —

१—अनेकान्त वर्ष ४ किरण ८ पृ० ४७३ पर देहली के जैन मन्दिर की शास्त्र-सूची देखते हुए ज्ञानानन्द श्रावकाचार पत्र संख्या २२५ की १ प्रति को पं० टोडरमल्ल कृत बताया है।

२—राजस्थान जैन शास्त्रभंडार, जयपुर की ग्रन्थ सूची भाग २ पृष्ठ १५५ पर ज्ञानानन्द श्रावकाचार पत्र सं० १४४ लिपिकाल १९९० की १ प्रति को पं० टोडरमल्ल जी कृत बताया है।

३—दि० जैन संघ मथुरा से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाश की प्रस्तावना पृ० ४८-४९ पर पं० लालबहादुर शास्त्री ने लिखा है :—

"भाई रायमल्लजी की केवल दो ही रचनायें उपलब्ध हैं एक तो श्रावकाचार है और दूसरी कोई चर्चा सम्बंधी रचना है। बाबा दुलीचंदजी की सूची मे इस श्रावकाचार का पूरा नाम ज्ञानानंद निजरस निरभर

श्रावकाचार लिखा है। लेकिन हमारे सामने जो लिखित प्रति मौजूद है उस पर केवल श्रावकाचार लिखा है साथ ही मुख पृष्ठ पर टोडरमल्लजी कृत लिखा है जो लेखक के प्रमाद से ही हुआ जान पड़ता है। इसमे २२७ पृष्ठ हैं और श्रावकाचार की करीब-करीब सभी बातो का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। कुछ बातों का विशेष वर्णन भी है।

आपका दूसरा ग्रंथ चर्चा ग्रंथ है। रायमल्लजी को टोडरमल्ल जी के साथ जो धार्मिक चर्चायें होती थी उन्ही का इसमे संग्रह है। इस तरह हम पं० टोडरमल्लजी की तरह ही भाई रायमल्लजी को सरल स्वभावी समाजसेवी और महा परोपकारी पाते हैं। सच पूछा जाय तो उस समय के ये दो ही महानुभाव युग प्रवर्तक थे। एक ने अपने ज्ञान से जनता का स्तर ऊँचा उठाया तो दूसरे ने अपनी सेवाओ से लोगो को नैतिक बल दिया। एक ने अपने प्राणों का बलिदान कर धर्म और समाज की शान कायम रखी तो दूसरे ने अपने सुखो का बलिदान कर धर्म और समाज की सेवा मे अपने को खपा दिया। वे दो आत्माएँ थी जिन्होने ज्ञान और त्याग के क्षेत्र को अमर बना दिया।"

इन तीनों उद्धरणो से स्पष्ट है कि—'मनोमतिखंडन्' के कर्त्ता को भी कोई ऐसी ही प्रति मिली जिसमे ज्ञानानद श्रावकाचार को पं० टोडरमलजी कृत लिखा था, उसी के आधार से उन्होने भी रायमल्लजी कृत श्रावकाचार को टोडरमल्ल श्रावकाचार लिख दिया। जो उद्धरण 'मनोमतिखंडन्' कार ने दिया है वह (सद्बोध रत्नाकर कार्यालय सागर से वीर नि० सं० २४४५ मे मुद्रित) ज्ञानानंद श्रावकाचार के पृष्ठ ९६ पर इस प्रकार पाया जाता है।

"प्रतिमाजी का अंग कै केसर चंदन आदि का चरचन करै नाही·······। मुन महाराज कै भी तिल्तुसमात्र ग्रहन न कहा तो भगवान कै केसर आदि का सयोग कैसे चाहिये।" इससे दोनो का एकत्व सिद्ध हो जाता है।

१—मुद्रित ज्ञानानंद श्रावकाचार के अंत मे पृ० २९२ पर लिखा है:—इति श्री पं० रायमल जी कृत श्री ज्ञानानंद श्रावकाचार ग्रंथ संपूर्ण। शुभं मंगलं।

२—जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे ज्ञानानंद श्रावकाचार की २ प्रतियाँ है जिनकी पत्र संख्या १३६, तथा २१९ है और जिनका लिपिकाल क्रमशः संवत् १८५८ और १८८८ है। इन दोनों का कर्ता रायमल्लजी को लिखा है।

३—राजस्थान जैन शास्त्रभंडार ग्रन्थ सूची भाग ३ पृ० २८ पर ज्ञानानंद श्रावकाचार की १ प्रति का परिचय इस प्रकार दिया है—कर्त्ता-रायमल्ल, पत्र सं० १११ लिपिकाल १९२६।

४—अनेकांत वर्ष ४ किरण ६–७ पृ० ४२२ पर ज्ञानानंद श्रावकाचार की १ प्रति का परिचय इस प्रकार दिया है, कर्ता–पं० रायमल्ल, पत्र सं० १३१ लिपिकाल १९२९।

५—"दि० जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रंथ" (नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२ पर ज्ञानानंद श्रावकाचार को रायमल्लजी कृत बताया है।

इन सब उल्लेखो से जाना जाता है कि—ज्ञानानंद श्रावाकाचार के कर्त्ता पं० रायमल्ल जी ही है। कुछ प्रतियाँ ऐसी भी हैं जिनमे कर्त्ता का कही नाम नहीं दिया है, हो सकता है इसी से आनुमानिक तौर पर कुछ लिपिकारो ने कर्त्ता के रूप मे पं० टोडरमलजी का नाम लिख दिया है किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ के कर्त्ता टोडरमलजी नहीं है क्योंकि उनके अन्य ग्रन्थों की शब्द-शैली इससे नही मिलती।

इस ग्रन्थ का पूरा नाम—"ज्ञानानंद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार" है जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है (देखो मुद्रित ग्रन्थका पृ० २६) "अपने इष्ट देव तांकू विनय पूर्वक नमस्कार करि आगे ज्ञानानंद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार नाम शास्त्र ताका प्रारम्भ करिये हैं।"

इस नाम के आदि पद ज्ञानानंद को लेकर लोक मे ग्रन्थ का नाम "ज्ञानानंद श्रावकाचार" प्रसिद्ध हो गया है। ज्ञानानद कोई कर्त्ता का नाम नही है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि—प० टोडरमलजी कृत कोई श्रावकाचार नही है। फिर भी यह जरूर है कि—ज्ञानानंद श्रावकाचार शब्दश. टोडरमल जी कृत न होने पर भी अर्थश: उनका माना जा सकता है क्यो कि प० रायमल्ल जी और प० टोडरमल जी दोनो धार्मिक और साहित्यिक कार्यों मे परस्पर एक दूसरे के साथी थे।

प० रायमल्ल जी का एक और ग्रथ है — "चर्चा (सार) संग्रह"। यह भी पं० टोडरमलजी के नाम पर चढ गया है।

अहिंसावाणी (हिन्दी मासिक) जनवरी सन् ५८ के अक मे पृ० ४०५ पर घाटोल वासगज मे 'चरचासार सग्रह' का होना सूचित किया है और उसे टोडरमल्जी कृत बताया है।

इस पर हमने श्री कामताप्रसाद जी को लिखकर पूछा तो २८-२-५८ को उनका पत्र आया जिसमे लिखा था—"अहिसा वाणी" मे सूचना प्रचारक जी के विवरण पर प्रगट की थी। उसके पश्चात् हमने वह (चर्चा संग्रह) ग्रन्थ मंगा कर देखा वह पूज्य प० टोडरमल जी की रचना नही है जैसे आप लिखते है वह रायमल्लजी का ही हो सकता है, आप चाहे तो घाटोल वालों से मंगवाले हम उनको वापिस भेज रहे है।"

पं० रायमल्लजी सा० को हुए मात्र २५० वर्ष हुए है फिर भी उनके ग्रन्थो के कर्तृत्व विषय मे इस प्रकार के भ्रम प्रचलित हो गए है—यह आश्चर्य की बात है।

●

तेष्यगिरि नहीं, तक्षकपुर

जैनसदेश के शोधाक ९ में एक शिलालेख को उद्धृत करते हुए उसके आधार से श्री क्षु० सिद्धसागर जी ने टोडारायसिंह का प्राचीन नाम 'तेष्य गिरि' प्रकट किया है, किन्तु यह गलत है। उद्धृत शिलालेख में 'तेष्यक महादुर्गे' वाक्य दिये हैं कही भी 'तेष्य गिरि' नाम नही दिया है। अर्ध विदग्ध लेखक ने 'तक्षक' की बजाय 'तेष्यक' लिख दिया है अथवा क्षु० जी ने पढने मे गलती की है। 'तेष्य' का सस्कृत मे कोई अर्थ भी नहीं होता और न इस नाम की अन्यत्र से कोई उपलब्धि ही होती है। सही पाठ 'तक्षक महादुर्गे' है।[1] अबतक टोडा नगर के विषयमें जितने भी उल्लेख प्राप्त हुए है उन सब मे टोडा का नाम 'तक्षकपुर, तक्षकनगर, तक्षक गढ महादुर्ग' ही दिया है देखो—

१—जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह प्रथम भाग पृष्ठ २०६, प्रस्तावना पृष्ठ १०२ और ३९। (तक्षक नगर)

२—भट्टारक सप्रदाय, पृष्ठ १०५, १५१ और ९८ (तक्षकपुर, टोडागढ महादुर्ग = विक्रम सं० १४९० से १७६२)

३—प्रशस्ति सग्रह (आमेर भडार) पृ० ८९, ११३, १६२, १६३ (तक्षक गढ महादुर्ग = विक्रम स० १६१० से १६६४)।

---

१ हस्त लिखित ग्रथो मे 'अतरीक्ष, को अतरीष (अतरीष्य) तथा मनुष्यणी को मनुक्षणी लिखा मिलता है। इससे सिद्ध है कि क्ष को ष-ष्य और ष्य को क्ष भी लेखक लिख देते है। अत यहाँ भी तक्षक को 'तेष्यक, लिख दिया गया है।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट जाना जा सकता है कि-टोडारायसिंह का प्राचीन संस्कृत नाम 'तक्षकपुर' ही रहा है 'तेष्यगिरि' नहीं।

तक्षक का अर्थ होता है शिल्पकार = कारीगर–जो लकडी पत्थर को छीलने काटने का काम करते है। टोडा नगर इस काम के लिये प्राचीन समय से काफी प्रसिद्ध रहा है। अब भी वहाँ इमारती पत्थर का कार्य काफी होता है।

इस प्रकार 'तेष्य गिरि' नाम सर्वथा अशुद्ध और भ्रामक सिद्ध होता है। उद्धृत उक्त सं० १६८७ के शिलालेख के अन्त मे लिखा है :—

"समस्त महाजन टोडा का निसिही प्रणमंति"

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि तक्षकपुर का आम बोलचाल मे टोडा यह नाम भी प्रचलित था।

'भट्टारक संप्रदाय पृष्ठ ९८ मे वि सं० १४९७ का एक उल्लेख है उसमे भी 'श्री टोडा महादुर्गे' लिखा है इसी तरह पृष्ठ १०५ मे सं० १६१५ का उल्लेख है उसमे भी 'टोडागढ महादुर्गे' लिखा है।

अतः यह टोडा नाम भी काफी प्राचीन है। यह टोडा नाम कैसे प्रचलित हुआ इस पर जब हम विचार करते है तो ऐसा ज्ञात होता है कि—टोडियो को सस्कृत मे 'मत्त वारण' कहते है। इस नगर मे टोडियाँ–इमारती कार्य मे उपयोग आने वाले पत्थर प्राचीन समय से ही बहुत बनते आ रहे है इसी पर से इसका नाम टोडा प्रसिद्ध हो गया है।[1]

---

१. इसे टोडारायसिंह भी कहते है इसका कारण यह है कि एक दूसरा टोडा नगर भी है जो 'भीम का टोडा' कहलाता है उससे अलग पहचान के लिए इसे टोडारायसिंह कहते है। भीम और रायसिंह ये दो राजा हुए है।

यहाँ के एक मन्दिर मे जो रैण का मन्दिर नाम से प्रसिद्ध है उसमें सैकडो की सख्या मे हस्तलिखित प्राचीन जैन शास्त्र थे जिन्हे धीरे-धीरे बाहर के लोग ले गये अब तो थोडे से शास्त्र बचे है।

इस मन्दिर को रैण का मन्दिर इसलिए कहते है कि पहले इसमे खिरणी जिसे इधर राणी बोलते है[१] उसका वृक्ष लगा हुआ था।

इस प्रकार यह टोडा नगर का सक्षिप्ततम प्रासगिक परिचय है।

●

१ राजादन फलाध्यक्ष क्षीरिकायामथ द्वयो (अमरकोष, १, ४, ४५)

नेमिप्रभु की बारात

वीरवाणी वर्ष ३ पृष्ठ २५ पर क्षुल्लक श्री सिद्धसागर जी ने पंडित कैलाशचन्द्र जी कृत 'जैनधर्म' पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखा है :—

'नेमिनाथ की बारात का जो वर्णन है वह जूनागढ़ की ओर जाने के साथ दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार सम्बन्ध नही रखता। जो वैराग्य उत्पन्न करने का छल रचा गया था उसका सम्बन्ध द्वारिका के उद्यान आदि के साथ है इसे पद्मपुराण से जान लेना चाहिए। बरात सजकर जूनागढ नही गई किन्तु द्वारिका से ही नेमिनाथ दीक्षा के लिए पालकी मे बैठकर निकले, बारात जाने की जो कविता या कथा है वह दंतकथा है उसका आधार चित्र है, ।

समीक्षा .—'जैनधर्म' (प्रथम संस्करण) पृ० १८ मे लिखा है :— 'जूनागढ के राजा की पुत्री राजमती से नेमिनाथ का विवाह निश्चित हुआ, बडी धूमधाम के साथ बारात जूनागढ पहुँची, इसपर आपत्ति करते हुए क्षुल्लक जी ने नेमिप्रभु की बारात की बात को गलत बताया है। ऐसा ही कुछ अन्य विद्वानो का भी ख्याल है परन्तु यह सब ठीक नही है। मन्दिरादि मे जो नेमिप्रभु की बारात के चित्र पाये जाते है वे शास्त्र संमत ही है। उन्हे जो शास्त्राधार से रहित, दन्तकथामात्र या श्वेताबरो की नकल बताते है उन्होने इस विषय मे दि० शास्त्रो का ठीक से अध्ययन नही किया है। देखिये—

उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) पर्व ७१ मे लिखा है—

पंचरत्नमयं रम्यं समानयदनुत्तरम्।
विवाहमंडपं तस्य मध्यस्थे जगतीतले ॥१४६॥

विस्तृताभिनवानर्घ्यवस्त्रे सौवर्णपट्टके ।
वध्वा सह समापार्द्रतंडुलारोपणं वरः ॥१५१॥
परेद्युः समये पाणिजलसेकस्य माधव. ॥
यियासुर्दुर्गतिं लोभसुतीव्रानुभवोदयात् ॥१५२॥

अर्थ—पंचरत्नो का सुन्दर विवाह-मंडप बनवाया उसके बीच मे वेदी बनवाई जिसके ऊपर विस्तृत बहुमूल्य वस्त्र तना हुआ था वहाँ सुवर्ण की चौकी पर नेमिकुमार ने वधू राजमती के साथ—चावलो के पौधे रोपने (अंकुरारोपण) की विधि सम्पन्न की। दूसरे दिन हाथ मे जलधारा देने के समय [illegible] श्रीकृष्ण के विचार लोभ कषाय से अभिभूत हो गये।

इससे साफ सिद्ध है कि नेमिप्रभु राजमती से विवाह के लिए उग्रसेन के यहाँ (जूनागढ) गये थे अतः उनकी बारात की बात भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

नेमिनिर्वाण (वाग्भट कृत) पर्व १२ मे लिखा है—

विवाहार्थं प्रतिष्ठासुरुग्रसेनपुरी प्रति ।
अगीचकार नेपथ्यं नेमिनाथो यथा विधि ॥१॥
समेत बंधुवर्गस्य वरस्यास्य प्रसर्पत. ।
संबंधित पुरे वार्ता सह तूर्यरवैरगात् ॥२६॥

जगत्त्रय वरस्यास्य वरस्यालोकहेतवे ।
जवान्नगरनारीभिरध्यासे सौधमूर्धसु ॥४६॥
इत्थं पुरपुरध्रीणा शृण्वन्नन्योन्यसंकथाः ।
नेमि समासदत्तत्र द्वारं संबंधिन. शनै' ॥६९॥

दूर्वाक्षतैर्मलयजेन घनेन दध्ना,
विभ्राजितं कनकभाजनमाददाना ।
तत्रोग्रसेननृपतेर्दयिता वरस्य,
कर्तुं विवाहमहमंगलमग्रतोऽभूत् ॥७०॥

अर्थ--विवाह के लिए उग्रसेन की नगरी को प्रयाण करने के इच्छुक नेमिप्रभुने अलंकार धारण किये। बंधु बाधवों के साथ वर के प्रस्थान करने की सूचना तुरही के शब्दो के साथ समधी के नगर मे पहुँची, तीन लोक के वर ऐसे नेमिनाथ वरको देखनेके लिए भगकर नगरकी स्त्रियाँ मकानों के ऊपरी खंड पर जा बैठी और परस्पर नेमिनाथ के रूप की चर्चा करने लगी जिसे सुनते हुए नेमिप्रभु धीरे-धीरे समधी के गृह द्वार पर पहुँचे। वहाँ मागलिक द्रव्यो के साथ सुवर्ण पात्र को हाथ मे लिये उग्रसेन की रानी ने वर की अगवानी की।

पाडव पुराण (शुभचन्द्र कृत) पर्व २२ मे लिखा है—

विवाहार्थ जिनो गच्छन्वीक्ष्य बद्धान् बहून्पशून् ।
पृष्ट्वा तद्रक्षकानाप वैराग्यं रागदूरगः ॥४३॥

अर्थ--नेमिकुमार ने विवाह के लिए प्रस्थान किया और बँधे हुए पशुओको देखा तथा इसका कारण जानकर उन्हे वैराग्य हो गया।

इन्ही संस्कृत ग्रन्थो के आधार पर प्राचीन हिन्दी कवियो ने भी नेमिप्रभु के विवाह-बारात का हृदयग्राही वर्णन किया है। देखिए—

१—विनोदीलाल जी कृत 'बारहमासा' (राजुल नेमिका)

तुम आगे आषाढ मे क्यों न लियो
व्रत काहे को एती बारात बुलाई ॥
अरु छप्पन कोड जुडे यदुवंशी
ब्याहन आय निशान बजाई ॥
सग समुद्र विजय बलभद्र मुरारि हु
की तुम्हे लाज न आई ॥
नेमि पिया उठ आवो घरे
इन बातन मे कहो कौन बड़ाई ॥

१—खेमचन्द्रजी कृत 'नेमिब्याह'

समुद्र विजय यादव नृपति तिन सुत नेमकुमार।
जूनागढ़ ब्याहन चले उग्रसेन दरबार॥

३—विनोदीलालजी कृत 'नेमिव्याह'

मौर धरो शिर दूलह के
कर कंकण बाँध दई कस डोरी।
कुण्डल कानन मे झलके अति,
भाल मे लाल बिराजत रोरी।
मोतिन की लड शोभित है छवि
देखि लजे बनिता सब गोरी।
लाल विनोदि के साहिब को मुख
देखन को दुनिया उठ दौरी।

'गिरिनार गौरव' (पृ० २६) मे इतिहासज्ञ विद्वान् बाबू कामताप्रसादजी ने भी लिखा है—

'जब नेमिकुमार का विवाह होने लगा और बारात जूनागढ गई तब एक करुणाजनक दृश्य ने उन्हे ससार से विरक्त कर दिया, तोरण द्वार से वह लौट गये।

इन सब उल्लेखो से स्पष्ट है कि—नेमिकुमार विवाह के लिए बारात सजाकर गये थे। पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने जो इस विषय मे लिखा है वह गलत नही है बल्कि शास्त्राधार से युक्त है।

क्षुल्लक जी ने अपने कथन के समर्थन मे यह लिखा है कि 'इसे पद्मपुराण से जान लेना चाहिए, सो बिलकुल भ्रान्त है क्योकि पद्मपुराण मे एतद्विषयक कही कोई कथन नहीं है।

हरिवंश पुराण (सर्ग ५५ श्लोक ७१ से २०८) मे जरूर क्षुल्लकजी

का कथन पाया जाता है यानी उसमें नेमिकुमार का विवाहार्थ प्रस्थान करने का वर्णन नहीं है किन्तु मात्र हरिवंशपुराण के आधार से नेमिनाथ की बारात के वर्णन को दन्तकथा कहना, किसी लेखक के ऐसे कथन पर आपत्ति करना, ऐसे चित्रादि को गलत और दिगम्बर विरुद्ध बताना, तो उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थों में स्पष्टतया नेमिप्रभु की बारात का वर्णन है अतः उत्तरपुराण, नेमिनिर्वाणादि प्राचीन मान्य ग्रन्थों के आधार से नेमिप्रभु की बारात की बात को सही ही समझना चाहिये।

●

यह अष्टमूल गुण-प्रतिपादक श्लोक किसका है ?

गवेषक विद्वान् अनुसंधान करें

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्म परिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मासान्मद्याद् विरतिर्गृहिणोऽष्ट (सन्त्यमी) मूलगुणा ॥

इस श्लोक को विद्वान् अष्ट मूलगुणो के विवेचन मे जिनसेन और उनके आदिपुराण के नाम से देते हुए देखे जाते है पर खोज करने पर भी यह श्लोक समग्र महापुराण मे कही नही मिला, समझ मे नही आता यह श्लोक जिनसेन के नाम पर कैसे चढा दिया गया ? जहाँ तक मेरा खयाल है सर्वप्रथम पण्डितवर्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने करीब तीस वर्ष पहिले "जैनाचार्यों का शासनभेद" नाम के अपने ट्रेक्ट मे इस श्लोक को आदिपुराण के प्रणेता श्री जिनसेनाचार्य के नाम से उद्धृत किया था फिर तो इसकी परम्परा चल पडी और विद्वानो ने बिना इस बात की स्वय जाँच किये कि—यह आदिपुराण के किस पर्व का कौन से नम्बर का श्लोक है, योही जिनसेन के नाम से इस श्लोक को देना शुरू कर दिया, यथा पण्डित हीरालाल जी ने वसुनन्दि श्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना पृष्ठ ३५ पर, पण्डित दरबारीलाल जी सत्यभक्त ने "जैनधर्म मीमासा" भाग ३ पृष्ठ ३२२ पर, स्व० मास्टर बिहारीलालजी ने "बृहज्जैन शब्दार्णव" भाग २ पर, श्री भँवरलालजी पोल्याका शास्त्री ने "वीरवाणी" वर्ष ९ अंक १९-२० पृष्ठ २३० पर इसका उल्लेख किया है ।

इसके लिए मैंने दो-तीन विद्वानो से पत्र-व्यवहार भी किया पर किसी ने कोई समुचित उत्तर नही दिया ।

अब मै यह बताना चाहता हूँ कि—जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण

पर्व ३८ श्लोक १२२ में कुछ जुदे ही आठ मूलगुण बताये हैं यथा—मधु-मांसपरित्यागः पंचौदुंबरवर्जनम्। हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम्॥ (मधुत्याग, मांसत्याग, पंचौदुम्बर त्याग, हिंसादि पाँच पापों का त्याग इस प्रकार आठ सार्वकालिक व्रत—मूलगुण होते हैं)। ऐसी हालत में यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि—फिर विद्वान् इन मूलगुणों का जिनसेन के नाम से उल्लेख न कर उस अनुपलब्ध श्लोक का क्यों उल्लेख करते हैं ? प्रतीत होता है कि—पर्व ३८ का यह उपलब्ध श्लोक सम्भवतः विद्वानों के ध्यान में ही नहीं है, वे तो एक दफे जो परम्परा चल पड़ी उसी का अनुसरण करते हैं। इस विषय में एक बात और जानने योग्य है वह यह कि—

चारित्रसार (शास्त्राकार पृष्ठ ३०) में चामुण्डराय जी ने 'तथा चोक्तं महापुराणे' लिखकर यह "हिंसाऽसत्यस्तेय" नाम का श्लोक उद्धृत किया है सम्भवतः इसी का अनुसरण कर सागारधर्मामृत अध्याय २ श्लोक ३ के स्वोपज्ञ भाष्य में पण्डित आशाधर जी ने भी 'महापुराण मते तु स्मरेत्', लिखकर पंजिका में इस श्लोक को उद्धृत किया है। पर इन दोनों विद्वानों ने आचार्य जिनसेन का और पर्व श्लोक संख्यादि का कोई उल्लेख नहीं किया है अतः इस बात की सख्त जरूरत है कि—यह श्लोक किस ग्रन्थ का है और उसका कर्त्ता कौन है तथा पर्व और श्लोक संख्या उसकी क्या है, इसका पूरा पता लगाया जाय।

अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार से सम्पादित महापुराण के ज्ञानपीठ प्रकाशन की श्लोक सूची बड़ी सावधानी के साथ देखी गयी पर वहाँ हमें इस श्लोक का कोई पता नहीं लगा, हो सकता है चारित्रसार और सागारधर्मामृत में उल्लिखित 'महापुराण' जिनसेन कृत न होकर किसी अन्य कवि कृत हो और अगर जिनसेन कृत ही हो तो फिर ऐसी हस्तलिखित प्रति की खोज होनी चाहिये जिसमें यह श्लोक पाया जाता हो।

आशाधर जी ने जहाँ भी जिनसेन के महापुराण से कुछ उद्धृत किया है वही महापुराण या जिनसेन का नामोल्लेख न करके सिर्फ 'इत्यार्षे' लिखा हैं और साथ मे पर्व संख्या दी है। अगर यह श्लोक जिनसेन गुणभद्र के महापुराण का होता तो वे अवश्य इत्यार्षे लिखकर पर्व संख्या भी देते अतः यह श्लोक किसी अन्य महापुराण का ज्ञात होता है, सम्भव है मल्लिषेण कृत महापुराण का हो।

जिनसेन के महापुराण का इस श्लोक को मानने मे सबसे बडी बाधा यह भी आती है कि पर्व ३८ के श्लोक १२२ के कथन के साथ इसमे भिन्नता पाई जाती है। अत. अन्वेषक विद्वानो का कर्तव्य हो जाता है कि वे इस श्लोक के ठीक उद्गम स्थान का पता लगाये। तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे भी यह श्लोक कही उद्धृत हुआ हो तो उससे सूचित करें।

●

नौ बलदेवों के नाम और पद्मचरित

निम्नाकित दिगम्बर ग्रन्थो मे ९ बलदेवो के नाम इस प्रकार दिये है –

१—'तिलोयपण्णत्ती' अधिकार ४ गाथा १४११ ।

विजयो अचलो धम्मो सुप्पह णामो सुदसणो णदी ।
णदिमित्तो य रामो पउमो णव होंति बलदेवा ॥

१ विजय, २ अचल, ३ धर्म, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ नन्दी, ७ नन्दिमित्र, ८ राम, ९ पद्म ये नव बलदेव होते है ।

२—ऐसा ही 'तिलोयसार' गाथा ८२७ मे है ।

३—'वराग चरित, सर्ग २७ मे भी ऐसा ही लिखा है—

गुणैरुपेतो विजयोऽचलश्च धर्मस्ततोऽभूदथ सुप्रभश्च ।
तत सुदृष्टोऽपि च नदिनामा स्यान्नदिमित्रश्च हि रामपद्मौ ॥४३॥

४—यही 'हरिवश पुराण' पर्व ६० मे लिखा है —

विजयोऽचल सुधर्माख्य सुप्रभश्च सुदर्शन ।
नदी च नदिमित्रश्च राम पद्मो बला नव ॥२९०॥

५—'गौतम चरित' (मडलाचार्य धर्मचन्द्रकृत) अधि० ५ श्लोक १५८-१५९ —

प्रथमो विजयाभिख्योऽचल सुधर्मसुप्रभौ ।
स्वयप्रभस्तथा नदी नदिमित्राभिध क्रमात् ॥
राम. पद्मो बला प्रोक्ता जिनदीक्षाप्रधारका· ।
मोहमदनजेतारो निर्निदानास्तथोर्ध्वगा ॥

इसमे और नाम तो पूर्ववत् दिये है किन्तु ५वा नाम 'सुदर्शन' की जगह 'स्वयप्रभ' दिया है यह अतर है ।

६—एक 'जिनवाणी संग्रह' में पृष्ठ ६२२ पर इस प्रकार नाम दिये हैं–

१ विजय, २ अवध, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नंदननंद, ८ पद्म-रामचंद्र, ९ बलभद्र। (ये नाम और भी विशेष अन्तर को लिए हुए है न जाने कहाँ से संग्रह किये हैं)।

७—उत्तरपुराण (गुणभद्र कृत) त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र (आशाधर कृत) अपभ्रंश महापुराण (पुष्पदन्त कृत) में भी 'तिलोयपण्णत्ती' के समान नाम दिये हैं किन्तु छठा नाम पूरा 'नंदिषेण' दिया है।

अब श्वेताम्बर आम्नाय में ये नाम किस प्रकार दिये हैं यह बताया जाता है :—

१—'अभिधान चिन्तामणी' शब्दकोश (हेमचन्द्र कृत) काण्ड ३

अचलो विजयो भद्रः सुप्रभश्च सुदर्शनः।
आनंदो नंदन पद्मो रामः शुक्ला बलास्त्वमी ॥३६२॥

१ अचल, २ विजय, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नंदन, ८ पद्म, ९ राम। ये ९ बलदेव हैं जिनका वर्ण श्वेत है।

२—'विचारसार प्रकरण' (प्रद्युम्न सूरि कृत) गाथा ५६७ में भी इसी प्रकार लिखा है—

अयले विजये भद्दे सुप्पभे य सुदंसणे।
आणंदे नंदणे पउमे रामे आवि अपच्छिमे ॥

३—विमल सूरि कृत 'पउमचरिय' पर्व ५ गाथा १५४ में भी ऐसा ही लिखा है—

अयलो विजओ भद्दो सुप्पभ सुदंसणो य नायव्वो।
आणंदो नंदणो पउमो नवमो रामो य बलदेवो ॥

ऐसा ही पर्व ७ गाथा ३५ में लिखा है।

४—प्रवचनसारोद्धार और समवायांग सूत्र में भी ये ही नाम दिये हैं।

इन उल्लेखो के आधार पर दिगम्बर श्वेताम्बर आम्नाय के नामो मे परस्पर क्या अन्तर है यह नीचे बताया जाता है —

दिगम्बर आम्नाय मे पहिला दूसरा नाम विजय अचल है श्वेताम्बर में अचल विजय है इस तरह परस्पर उलटे नाम हैं। दिगम्बर मे तीसरा नाम 'धर्म' है श्वेताम्बर मे 'भद्र' है। दिगम्बर मे छठा सातवां नाम नदि, नदिमित्र है, श्वेताम्बर मे 'आनन्द, नदन, है तथा दिगम्बर मे ८वें ९वें नाम क्रम से 'राम' 'पद्म है जब कि श्वेताम्बर मे 'पद्म' 'राम' है दोनो सप्रदायो के नामो मे इस प्रकार काफी अन्तर है।

दिगम्बर आम्नाय मे रविषेणाचार्य कृत एक 'पद्मचरित' ग्रन्थ है उसमे कही भी बलदेवो के ९ नाम नही पाये जाते है, उसके पर्व २० मे ६३ शलाका पुरुषो का विस्तृत वर्णन है पर वहाँ भी बलदेवो के ९ नाम उपलब्ध नही होते है। इसका क्या कारण है यह कुछ समझ मे नही आता।

पद्मपुराण-वचनिका पर्व २० मे प० दौलतरामजी ने ९ बलदेवो के नाम इस प्रकार दिये है—

१ अचल, २ विजय, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ नदिमित्र, ७ नदिषेण, ८ रामचद्र, ९ पद्म। मूल मे ये नाम नही है फिर पडितजी ने कहाँ से दिये हैं यह कुछ पता नही लगता।

ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित सस्करण भाग १ पृ० ४४२ मे सपादक जी ने भी प० दौलतरामजी की तरह बलदेवो के ९ नाम दिये है किन्तु ८वा और ९वा नाम इस क्रम से दिया है—रामचद्र (पद्म) और बल। सपादकजी ने भाग ३ पृष्ठ ४६ के पाद टिप्पण मे भी बलदेवो के ९ नाम दिये है जो बिल्कुल श्वे० आम्नाय अनुसार है ऐसा किस आधार से किया गया है वहाँ यह कुछ सूचित नही किया है सभवत विमलसूरि के 'पउमचरिउ' से ये नाम दिये हो, अस्तु। मूल 'पद्मचरित' पर्व २५ श्लो० ३४

मे प्रथम बलभद्र का नाम 'विजय' दिया है और पर्व ७३ श्लोक ९९ मे 'विजय और अचल सिर्फ ये २ नाम दिये हैं इनसे साफ मालूम होता हैं कि रविषेण ने ये नाम दि० आम्नाय के क्रम से दिये है किन्तु पं० दौलत-राम जी ने और संपादक पं० पन्नालाल जी ने 'अचल विजय' इस श्वे० क्रम से अपने अनुवादों मे नाम दिये है। (रविषेण ने पर्व २० श्लो० २४४-२४५ मे प्रतिनारायणो के नाम दि० क्रम से दिये हैं किन्तु पं० पन्नालालजी सा० ने भाग ३ पृष्ठ ४६ के पाद टिप्पण मे ये नाम श्वे० क्रमानुसार दिये है शायद यह भी विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के अनुसार किया गया है)।

यहाँ मै पाठकों को यह बताना आवश्यक समझता हूँ कि—श्वेताम्बर आम्नाय मे ८वें बलदेव का नाम 'पद्म' माना गया है जब कि दि० आम्नाय मे 'पद्म' नाम ९वें बलदेव का माना है यह दिगम्बर, श्वेताम्बर मे खास अन्तर है। किसी भी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ मे ८वे बलदेव 'राम' का नाम 'पद्म नही दिया गया है किन्तु रविषेण ने 'पद्म' नाम दिया हैं देखो पर्व २५, श्लोक २२ आदि, और उसी के अनुसार ग्रन्थ का नाम 'पद्मचरित' रखा है। दिगम्बर रविषेण ने इस श्वेताम्बर आम्नाय को क्यो अपनाया ? इसका कारण विमलसूरि का 'पउमचरिउ' है। अगर रविषेण पद्म नाम मे परिवर्तन करते तो उन्हे सारे ग्रन्थ मे काफी (आमूल-चूल) परिवर्तन करना पडता अतः विवश हो उन्हे श्वेताम्बर परम्परा को अपनाना पड़ा—ऐसा प्रतीत होता है और शायद इसी से उन्होने बलदेवो के ९ नाम दिये हैं।

इसी प्रसग मे मै पाठको को एक-दो बाते और बताना चाहता हूँ—

१—वैदिक संप्रदाय मे वाल्मीकि कृत एक प्राचीन रामायण ग्रन्थ है जिसको लेकर विमलसूरि ने अपना 'पउमचरिउ' बनाया है उस वाल्मीकि रामायण मे भी कही राम का नाम 'पद्म' नही पाया जाता, तुलसीदासजी

कृत रामचरितमानस मे भी राम का 'पद्म' नाम नही दिया है। वैदिक संप्रदाय मे व्यासमुनि कृत 'पद्मपुराण' नाम का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है उसमें भी 'पद्म' नाम राम का नही दिया है किन्तु उत्थानिका मे पद्म-योनि = ब्रह्मा और पद्मनाभ = विष्णु के नाम पर उसका नाम 'पद्मपुराण' रखा प्रतीत होता है।

इस तरह वैदिकों मे भी 'राम' का 'पद्म' नाम नही पाया जाता। जहाँ तक मेरा अनुमान है यह 'पद्म' नाम विमलसूरि के पउमचरिउ से प्रचलित हुआ है और श्वेताम्बर सम्मत है।

२—ज्ञानपीठ से प्रकाशित रविषेणाचार्य कृत 'पद्मचरित' भाग १ मे ग्रन्थमाला के संपादको ने अपने 'संपादकीय' मे लिखा है—

"जैन परम्परा मे राम को त्रेसठशलाका पुरुषो मे वासुदेव के रूप मे गिना गया है।"

विद्वान् संपादको ने जो राम को जैन परम्परा मे वासुदेव (नारायण) बताया है वह गलत है, जैन परम्परा मे राम को ८वां बलदेव माना है वासुदेव (नारायण) नही, उन्हे वासुदेव तो वैदिक संप्रदाय मे माना है।

●

'पद्मचरित' में गंधर्व देवादि का मद्य पान

वि० सं० २०१६ भाद्रपद के 'जैन-महिलादर्श' मे भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पद्मपुराण प्रथम खण्ड की समालोचना करते हुए लिखा है कि—"इसके पर्व १७ श्लोक २६८ मे सम्पादक महोदय ने 'मद्यं पीतवान्, पाठ रखकर गंधर्व देव को मद्यपायी बताया है—यह देवावर्णवाद है, इस कथन से जैन लोग भी जैनेतरों की तरह देवताओ को मद्य चढाने लगेगे। जब कि जैन शास्त्रो मे बताया है कि—देवता मद्य-पान नही करते। माणिक-चन्द्र ग्रन्थमाला के संस्करण मे 'मद्यं पीतवान्' की जगह 'सद्यः प्रीतवान्' ठीक पाठ है वही होना चाहिए।"

जब हमने ग्रन्थ उठाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि--सम्पादक महोदय पर लगाया गया उक्त आरोप बिल्कुल मिथ्या है, नीचे उसीका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

सम्पादकजी ने 'मद्यं पीतवान्' पाठ अपना मनःकल्पित नही रखा है, ऐसा पाठ प्रतियो मे मिलने से तथा यही पाठ प्रकरण सगत और शुद्ध होने से रखा है[1]। आगे के सम्बद्ध श्लोक नं० २७० मे साफ तौर से 'कादम्बरी[2]' (मदिरा) का उल्लेख किया गया है। इसीको दृष्टि मे रखकर सम्पादकजी ने संदर्भानुकूल उक्त पाठ चुना है।

'सद्य प्रीतवान्' पाठ तो असंगत ही नही निरर्थक भी है तथा संस्कृत रचना की दृष्टि से भी गलत है फिर भी सम्पादकजी ने उसे पाद टिप्पण मे प्रदर्शित कर दिया है। इस तरह सम्पादक महोदय का कार्य तो

---

१. प्रमोदवानसौ मद्यं पीतवान् सुमहागुणम्।

२. उपदेशो (उपदंशो) हि गातव्यं कादम्बर्यामनुत्तमम्।

सावधानता पूर्ण और साधार है, ऐसी हालत में वे तो आरोप से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं और उक्त सिद्धान्त-विरुद्धता का आरोप स्वयं ग्रन्थकार रविषेण आचार्य पर आ पडता है।

इस विषय मे पाठकों की जानकारी के लिए थोड़ा सा प्रकाश और डाला जाता हैं। पं० दौलतराम जी ने अपनी हिन्दी वचनिका मे गंधर्व देव के मद्य पान के इस कथन को साफ छोड दिया है। पण्डित जी सा० ने मूल ग्रन्थ की और भी बहुत सी आपत्तिजनक बातो को इसी तरह छोड़ा है।

यह कथन क्षेपक भी नहीं है प्रकरण को देखने से मूलग्रंथकार कृत ही ज्ञात होता है, किसी भी प्रति मे इसका अभाव भी नहीं पाया जाता है।

'पद्मचरित' मे मद्य पान का एक और कथन पाया जाता है। देखो पर्व ११८ वहाँ बताया है कि—"शोकाकुल राम मृत लक्ष्मण को चषक (मदिरा पात्र) से उत्तम मदिरा पीने के लिए अनुरोध करने लगे[1]।" ऐसा ही विमलसूरि के प्राकृत 'पउम चरिय' पर्व ११३ गाथा १० मे बताया है[2]। इस कथन को आपत्ति जनक समझ कर पं० दौलतराम जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार कर डाला कि—"हे लक्ष्मीधर यह नाना प्रकार की दुग्धादि पीवने योग्य वस्तु सो पीवो, ऐसा कह करि भाई कूं दुग्धादि प्याया चाहे सो कहा पीवे।"

मूल मे कही भी दुग्धवाची शब्द नही है फिर भी पण्डित जी ने ग्रंथ पर कोई आपत्ति न आवे इसलिए ऐसा अर्थ कर दिया है।

---

१. इयं श्रीधर ते नित्यं दयिता मदिरोत्तमा।
इमां तावत्पिब न्यस्तां चषके विकचोत्पले ॥१५॥

२. एसा य उत्तमरसा णिययं कादम्बरी तुमं इट्ठा।
पियमु चसएसु लक्खण उप्पल सुरहिगंधड्ढा।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि—जैसे पर्व ११८ में 'मदिरा' का 'दुग्ध' अर्थ किया है वैसा ही पर्व १७ मे क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि सभी जाति के देव मद्य पान करना तो दूर रहा किसो प्रकार का भी कवलाहार नहीं करते, ऐसी जैनमान्यता है[1]। इसलिए पण्डित जी ने पर्व १७ से 'मद्य' का अर्थ 'दुग्ध' न करके उस कथन को ही छोड़ दिया है। इस सबसे स्पष्ट है कि पं० दौलतराम जी को भी ये कथन सिद्धांत-विरुद्ध प्रतीत हुए हैं।

"जो सुरा (मदिरा) पीते हैं उन्हे सुर (देव) कहते है[2]" ऐसी किसी लौकिक व्युत्पत्ति को लक्ष्य मे रख कर संभवतः रविषेण आचार्य ने गंधर्व देव को मद्यपायी बताया है। खैर, कुछ भी हो, है यह जैन सिद्धातविरुद्ध, देखो—तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सूत्र १३।[3]

इस पर विचार करते हुए २८ जनवरी ६० के जैन गजट मे 'प्रथमानुयोग' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है नीचे उस पर समीक्षात्मक रूपसे कुछ विचार किया जाता है।

जैन गजट के उक्त अंक मे लिखा है—

'दर्शन' और 'समय' शब्द के अनेको अर्थ होते है किन्तु जहाँ जैसा प्रकरण हो वहाँ वैसा अर्थ जानना, इसी प्रकार 'मद्य' शब्द का यद्यपि रूढि अर्थ मदिरा (शराब) है किन्तु यौगिक अर्थ आनन्द व हर्ष भी है क्योकि 'मद्य' शब्द 'मद्' (मदि) धातु से बना है। 'मद्' का अर्थ आनन्द मनाना, या आनन्दित होना, भी है।

---

१. भाव संग्रह प्राकृत गाथा। ११२—
"देवेसु मणाहारो" (देवताओ के मानसिक अमृताहार होता है)

२. सुरा एषामस्तीति वा यतोऽब्धिजा सुरा तैः पीता इति सुराः— अमरकोष की क्षीरस्वामी कृत टीका।

३. सुरा मासोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः।

श्री रविषेण कृत संस्कृत पद्मपुराण पर्व १७ श्लोक २६८ मे 'मद्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ पर प्रकरणानुसार मद्य का अर्थ शराब नहीं जानना चाहिये किन्तु 'आनन्द, ग्रहण करना चाहिये। गुफा मे स्थित अञ्जना पर आये हुए सिंह के उपद्रव को दूर कर गंधर्व देव बडा हर्षित हुआ और महागुणकारी मद्य (आनन्द) का पान किया। यह मद्य (आनन्द) परोपकार से उत्पन्न हुआ था अतः इसका विशेषण 'महागुणकारी' दिया गया है। प्रकरण अनुसार 'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' न कर किन्तु 'शराब' अर्थ करके आचार्यों की भूल दृष्टिगत होने लगती है क्योकि देव मदिरा—शराब का पान नही करते। अपनी भूल को आचार्यों के सिर पर थोपना अनुचित है।'

समीक्षा—एक शब्द के अनेक अर्थ होने का यह तात्पर्य नही है कि मनमाने अर्थ भी हो जाते हो। 'मद्य' का अर्थ किसी भी कोश मे 'आनन्द' नहीं दिया है—न किसी साहित्यिक ग्रन्थ मे 'मद्य' शब्द 'आनन्द' अर्थ मे प्रयुक्त पाया जाता है क्योकि ऐसा अर्थ व्याकरण से निष्पन्न नही होता। ऐसा अर्थ 'मद' शब्द का जरूर हो सकता है किन्तु 'मद' और 'मद्य' मे बहुत अन्तर है; 'मद्य' शब्द 'मद्' धातु से करण कारक अर्थ मे 'यत्' प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है—'जिससे मस्ती हो ऐसा पदार्थ यानि शराब'।

थोड़ी देर के लिए किसी तरह 'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' मान भी लिया जाय तो निम्नाकित आपत्तियाँ खडी होती है—

(१) ऐसा अर्थ मानने पर अर्थ संगति नही बैठती क्योकि ग्रन्थकार ने गंधर्वदेव के हर्षित होने के अर्थ मे तो पहले से ही 'प्रमोदवान्' पद का प्रयोग किया फिर आनन्द को पान करने की बेतुकी सी और पुनरुक्त बात वे कैसे लिख सकते है यह सोचने की बात है।

(२) ऐसा अर्थ संभव ही होता तो पं० दौलतराम जी को इसका

अनुवाद नहीं छोड़ना पड़ता और न 'मद्यं पीतवान्' की जगह 'सद्यः प्रीतवान्' पाठ भेद होने का ही अवसर आता।

(३) 'आनन्द' वाची अनेको शब्द है उनका कोई अकाल नही पड़ गया था जो कवि महोदय उस अर्थ मे बेतुके और विचित्र इस 'मद्य' शब्द का प्रयोग करते।

इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि—'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' नहीं होता। इसके सिवा एक बात और है—श्लोक २६८ में ही शराबवाची 'मद्य' शब्द नही पाया जाता है बल्कि उसी प्रसंग में आगे ही श्लोक २७० मे शराबवाची 'कादम्बरी' शब्द का और प्रयोग पाया जाता है। 'जैन गजट' के लेखक जी ने अपने लेख मे यह कही नही बताया है कि 'कादम्बरी' का आनन्द अर्थ कैसे होगा?

इस तरह साफ मदिरा पान की बात के रहते हुए भी उससे किनारा-कसी करके समाधान का प्रपंच करना ठीक नही।

'पद्मचरित' मे एक और प्रकरण है जिससे भी यक्ष राक्षसादिकों के कवलाहार की अभिव्यक्ति होती है देखो पर्व १४ श्लो० २७१—

डाकिनी प्रेत भूतादि कुत्सित प्राणिभिः समं। भुक्तं तेन भवेद्येन न क्रियते रात्रिभोजनम्॥ (जो रात्रि में भोजन करता है वह डाकिनी प्रेत भूतादि नीच प्राणियो के साथ भोजन करता है)

इन्ही के अनुसर्त्ता मेधावी ने अपने 'धर्म संग्रह श्रावकाचार' अध्याय ६ श्लोक २१ मे और यशःकीर्ति ने 'प्रबोधसार' अ० २ श्लोक ५१ में ऐसा ही लिखा है।

स्वयंभूने अपने 'पउम चरिउ' (ज्ञानपीठ से प्रकाशित हिन्दी अनुवा-दात्मक भाग २ पृष्ठ २२८-२२९) मे रात्रि भोजन[१] त्याग का वर्णन करते हुए लिखा है:—

१. हिन्दी अनुवादक ने पृ० २२१, २२९ में अणत्थमिए (अनस्तमित)

"गंधर्वदेव दिन के पूर्व मे" सभी देव दिन के मध्य मे, पिता पितामह दिन के अंत मे तथा राक्षस भूत पिशाच और ग्रह रात्रिमे खाते है।"

ऐसा ही मेधावी कृत धर्म संग्रह श्रावकाचार अ० ६ श्लोक ३१-३२ मे लिखा है।

'पद्मचरित' मे कुछ और सिद्धान्त व दि० आम्नाय विरुद्ध कथन पाये जाते है.—

(१) देखो पर्व १२३, इसमे बताया है कि—१६वें स्वर्ग का प्रतीन्द्र (सीता का जीव) रावणादि को सबोधने के लिए तीसरे नरक मे गया। जब कि धवला पुस्तक ४ पृष्ठ २३८-२३९ मे बताया है कि—१२ वें से १६ वे स्वर्ग के देव नीचे प्रथम नरक के चित्रा भाग से आगे नही जाते। राजवार्तिक अ० सूत्र २२ मे भी उक्त देवो का इतना ही क्षेत्रस्पर्श बताया है—इससे 'पद्मचरित' का कथन धवलादि से विरुद्ध परिलक्षित होता है।

(२) 'पद्मचरित' मे ८ वे बलभद्र रामचन्द्रजी का नाम 'पद्म' दिया है किन्तु प्राचीन समस्त दि० ग्रन्थो मे 'पद्म' नाम ९ वें बलभद्र का दिया है ८ वें का 'राम' दिया है। देखो तिलोयपण्णत्ती, तिलोयसार, हरिवंश-पुराण, वरागचरित, उत्तरपुराण आदि ग्रथो मे नव बलदेवो के नाम। अत. रविषेण ने 'पद्म' नाम पर से ही जो ग्रन्थ का नाम 'पद्म-चरित' दिया है वह सब दि० आम्नाय विरुद्ध प्रतीत होता है।—राम का 'पद्म' नाम श्वेताम्बरो मे ही माना गया है दिगम्बरो मे नही। इस प्रकार पद्म-चरित मे जो ये दो विपरीत कथन पाये जाते है इनका कारण विमल-सूरि कृत 'पउम-चरिय' (श्वे०) ग्रथ का अनुकरण है।

'पद्मचरित' मे मद्यपान का वर्णन अनेक स्थलो पर पाया जाता है

शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात न होने से उसे 'अनर्थदंडव्रत' का कथन बता दिया है जो गलत है वहाँ 'अनस्तमित' का अर्थ 'रात्रि भोजन त्याग' है।

जो पण्डित दौलतरामजी को बहुत खटका है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि—सुरा, सुन्दरी और संगीत इन ३ सकारों का परस्पर संबन्ध है किन्तु सुन्दरी और संगीत तो अति होने पर ही दोषास्पद होते हैं जबकि सुरा तो एक बार भी अंशमात्र सेव्य नही है। अतः पण्डितजी ने अपनी वचनिका मे ऐसे प्रकरणों का या तो अर्थ ही नही किया है या कही अर्थ किया है तो बदलकर मूल से विपरीत कर दिया है। देखियेः—

(१) पर्व २, श्लोक ३८ मदिरामत्तवनिताभूपणस्वानसंभृतं (वह राजगृह नगर शराब के नशे से मस्त स्त्रियो के नूपुरो से सदा झंकृत रहता था)—वचनिका मे इसे छोड़ दिया गया है।

(२) पर्व १०२, श्लोक १०५ मधु शीधु घृतं वारि नानान्नं रस-वत्परम्। परमादरसंपन्नं प्रयच्छति समन्ततः॥ इसमे के मदिरावाची 'मधु' 'शीधु' शब्दो को छोडकर वचनिका मे इस प्रकार अर्थ किया गया हैः—नाना प्रकार के अन्न, जल, मिष्टान्न, लवण, घृत, दुग्ध, दही अनेक रस भाति-भाति खाने की वस्तु आदर से देवे है।

(३) पर्व ७३, श्लोक १३५ से १४५ :—

पिबन्तो मदिरामन्ये, रमंते दयितान्विताः ॥१३६॥
काचित्स्ववदनं दृष्ट्वा चषके प्रतिबिंबितम्।
ईर्ष्ययेन्दीवरेणेशं प्राप्ता मदमताडयत् ॥१३७॥
लोचनेषु निजो रागस्तासां मदिरया कृतः ॥१३८॥
मदिरापतिता कांचिदात्मीयां लोचनद्युतिम्।
गृह्णन्तीन्दीवरप्रीत्या, कान्तेन हसिता चिरम् ॥१४०॥
लज्जासखीमपाकृत्य तासामत्यन्तमीक्षितम्।
कृतं कादम्बरीसख्याप्रियेषु क्रीडितं परम् ॥१४२॥

(कोई अपनी स्त्रियों के साथ शराब पीकर रमण करने लगे और कोई स्त्री मदोन्मत्त हुई मदिरा मे अपने प्रतिबिम्ब को देख (दूसरी स्त्री

का अनुमान कर) ईर्ष्या से अपने पति को कमल के द्वारा ताड़ने लगी। शराब ने अपना लाल रंग उन स्त्रियो की आँखो मे उतार दिया। कोई स्त्री मदिरा में प्रतिबिंबित अपने नेत्रों को कमल समझ कर ग्रहण करने लगी, इस पर उसके पति उसकी हँसी उड़ाने लगे। लज्जा रूपी सखी को दूर हटा कर और मदिरा रूपी सखी से संबंध जोड कर उन स्त्रियो ने अपने पतियो के साथ इच्छित क्रीडा की)

वचनिका मे इसकी जगह इस प्रकार लिखा है:—

अर कैयक नारी अपने बदन की प्रतिबिंब रत्नानि की भीति विषै देख कर जानती भई कि कोई दूजी स्त्री मन्दिर मे आई है सो ईर्ष्या कर नीलकमल से पति कूँ ताडना करती भई। अर बर्फ के योग कर नारिनि के नेत्र लाल होय गए। अर कोई नवोढा हुती, प्रीतम ने अमल खवाय उन्मत्त करी सो मन्मथ कर्म विषे प्रवीण प्रोढा के भाव कूँ प्राप्त भई। ....ऐसा ही तो इनका योवन ऐसे ही सुन्दर मन्दिर अर ऐसे ही अमल का जोर सूँ सब ही उन्मत्त चेष्टा का कारण आय प्राप्त भया।

मूल मे साफ 'शराबबाची मदिरा, चषक, सुरा, कादम्बरी और मधु शब्दो के रहते हुए भी वचनिका मे उनका अमल (अफीम) और बर्फ अर्थ किया गया है, किन्तु श्लोक १३७ और १४० मे जो मदिरा की तरलता मे प्रतिबिंब दिखाई देने का वर्णन है वह अमल (अफीम) मे घटित नहीं हो सकता इस बाधा को देख कर वचनिका मे 'रत्ननी की भीति' लिख दिया है जब कि मूल मे इसका वाचक कोई शब्द नही है।

इस तरह वचनिकाकार ने पाठको को मूल की कई बातो से अपरिचित रखा है।

कोशो मे—शराब के नामो मे एक नाम हलिप्रिय (सुरा हलिप्रिया हाला इत्यमरः) दिया है जिसका अर्थ होता है 'बलदेव की प्यारी। इसी तरह बलदेव के नामो मे एक नाम 'प्रियमधु' दिया है जिसका अर्थ

है जिनको शराब प्रिय है देखो हेमचन्द्राचार्यकृत अभिधानचिंतामणि कोष।

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीन काल मे शराब का बहुत दौर-दौरा था। और इसलिए काव्यो मे मद्यपानादि का वर्णन करना कवि-परंपरा थी। जब तक काव्य में सुरा सुन्दरी और संगीत का वर्णन न हो तब तक वह काव्य ही नही, बिना इनके कोई सरसता ही नही ऐसा कवि सम्प्रदाय था इसलिए रविषेण ने भी पद्मचरित मे इन सबका उपयोग किया प्रतीत होता है अब इसमे कोई जैनाचार ढूँढे तो वह कहाँ से मिले। फिर भी पद्मचरित मे जो गंधर्व देव के मद्यपान का कथन है वह जैन सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक प्रतीत नही होता विद्वान् विचार करें।

'तिलोयपरणत्ति और दिगम्बर पुराण' पर विचार

दिनाक ५-४-५६ के 'जैन-सन्देश' मे श्री ब्रह्मचारी चुन्नीलालजी देशाई, राजकोट वालो का—"तिलोयपण्णत्ति और दिगम्बर जैन पुराण" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिस मुख्य विषय को लेकर वह लिखा गया है नीचे उसकी समीक्षा की जाती है

श्री ब्रह्मचारी जी लिखते हैं —दिगम्बर ग्रन्थो मे जो यह वर्णन आता है कि—"नेमिकुमार के विवाह मे आये म्लेच्छ राजाओ के भोजन के लिए श्री कृष्ण द्वारा पशुसमूह इकट्ठा किया गया , सो निरामिषभोजी महान् पवित्र कुल म जन्म लेनेवाले श्रीकृष्ण की ऐसी भावना वैसे हुई ? यह बात खटकने योग्य है, इस वणन को कोई भी समझदार दिगम्बर जैन भाई मानने को तैयार नही हो सकता ।"

समीक्षा—इसमे खटकने जैसी कोई बात नही है, श्रीकृष्णजीने राज्यकी आशकासे यह सोचकर कि इससे भ० नेमिनाथजीको तत्काल वैराग्य हो जायगा पशुबधनका प्रबन्ध करवाया था और कोई हेतु नही था देखो भगवद् गुणभद्र कृत उत्तरपुराण पव ७१ श्लोक १५२ से १५४ ।

आगे आप लिखते है—पुराणो के रचयिता आचार्यो ने लिखा है कि 'मै पूर्वाचार्यो के अनुसार अथवा जैसा सुना है वैसा ही अपनी अल्पबुद्धि के माफिक लिखूँगा, अत. यही मानना पडेगा कि यह कथन श्वेताम्बराम्नायानुसार ही दिगम्बर आचार्यो ने अपनाया है ।"

समीक्षा—यह लिखना भी आपका अति साहसपूर्ण प्रतीत होता है क्या दिगम्बराचार्य हिसा व अहिसा के भेद व मर्म को नही समझते थे ? एक नही समझे, दो नही समझे, क्या सब ही एक साथ इतने नासमझ थे, जो आपके लिखे अनुसार उन्होने इस तरह की भद्दी भूल कर डाली ?

क्या उनके पास अपना निजी परम्परागत प्रथमानुयोग साहित्य नहीं था ? या उनमे रचना की योग्यता नही थी ? जो उन्हे इस तरह श्वेताम्बर शास्त्रों की आपके लिखे अनुसार नकल करने के लिए बाध्य होना पडा, अगर ऐसा कुछ नही है तो आपने जो फलितार्थ निकाला है उसमे क्या अद्‌भुत रहस्य है, उसे आप ही जानें। हमने तो उपर्युक्त का सीधासाधा यह अर्थ समझा है कि—पूर्वाचार्योके अनुसार अर्थात् अपनी आम्नाय व गुरु परम्परा के अनुसार न कि श्वेताम्बर या अन्य सम्प्रदायानुसार। जैसा सुना है वैसा ही अर्थात् साक्षात् अपने गुरुओं के मुख से सुनकर न कि किंवदन्तियो, जनश्रुतियो के आधार से, इधर-उधर से लेकर। इसी तरह अल्प बुद्धि के मुआफिक = अर्थात्—जैसा कुछ समझा है अनुभव किया है, ठीक उसी तरह बिना किसी छल कपट के। (वास्तव मे वे अल्प बुद्धि और श्वेताम्बरोपजीवी न होकर महान् ज्ञानवान् थे, उनका ऐसा लिखना तो उनकी शिष्टता-गुरुता और ज्ञानमदविहोनता का परिचायक है)।

अन्त में ब्रह्मचारीजी लिखते है कि—"आगम इस बारेमे क्या कहता है, तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४ गाथा ६०७ मे बाताया गया है कि—'दस तीर्थंकर (शान्ति, कुन्थु, वासुपूज्य, सुमति, पद्म, सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर) अपने पिछले जन्मोके स्मरण मे वैराग्य को प्राप्त हुए, इन आगम वाक्यों से मेरी शंका दूर हुई व मुझे बडी शान्ति मिली है।" विद्वान् इस लेख को पढकर विचार करें और हमारी सम्प्रदाय मे से ऐसी अनुचित बात को दूर करने का प्रयत्न करें, क्योकि उनके दिल मे भी यह बात अवश्य खटकती होगी (लकीर के फकीर जीवो के लिए नही)।

समीक्षा—जहाँ तक आपको शान्ति मिलने का प्रश्न है, वहाँ तक तो हमारी भी आपके साथ पूर्ण सहानुभूति है, पर जहाँ आर्ष वाक्यों की संगति न बैठाकर जो एकांगी शंका का एकांगी समाधान समझा गया है उसकी हाँ में हाँ मिलाने को हम तैयार नही और न 'पशु-बन्धन' वाले कथन को ही अनुचित मानकर आपके लिखे अनुसार दूर करने के प्रयत्न

में हम योग देने वाले हैं। गम्भीरता और दूरदर्शिता से विचार करने पर इसमे दिल को खटकने जैसी कोई बात नही है। फिर चाहे इसे आप लकीर का फकीर होना समझें या और कुछ। हमारी तो नीति यह है कि—"आर्ष संदधीत न तु विघटयेत्" अर्थात्—'आर्ष वाक्यो की संगति बिठाना चाहिए न कि उनके खंडन मे प्रवृत्त होना चाहिए' इसीको लक्ष्य मे रखकर अब आपकी उक्त समस्या का समाधान करने की चेष्टा करता हूँ:—

ब्रह्मचारी जी ने 'तिलोयपण्णत्ति' का उल्लेख करते हुए ऊपर जो यह बताया है कि नेमिनाथ स्वामी के वैराग्य का कारण जाति स्मरण है सो यह जाति स्मरण की बात तो 'तिलोयपण्णत्ति' मे ही नही, प्रत्युत उत्तरपुराण और हरिवंशपुराणादि मे भी पाई जाती है, देखिए भदन्त गुणभद्र कृत उत्तरपुराण पर्व ७१ श्लोक १६६ से १६८।

इस वर्णन से सहज ही जाना जा सकता है कि भगवान् प्रथम पशु-बन्धन की घटना से उद्बुद्ध हुए फिर लौकान्तिक देवों ने, जिनका सभी तीर्थंकरो को प्रतिबुद्ध करने का नियोग होता है, नेमिनाथ को भी प्रतिबुद्ध किया फिर भगवान् ने अपने पूर्वभवो का स्मरण कर संसार से भयभीत हो दीक्षा धारण की, इस तरह यहाँ वैराग्य मे ३ कारण बताये गये हैं.—१ भूमिका स्वरूप बाह्य घटना के रूप मे, २ नियमित रूप मे, ३ अन्तरंग घटना के रूप मे। जिस तरह किसी एक कार्य को उत्पत्ति मे अनेक कारण कलापों को जरूरत होती है उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। किसी एक ही कारण को कार्योत्पत्ति मे साधक नही कहा जा सकता, यह अपनी-अपनी इच्छा है कि सहूलियत की दृष्टि से कोई किसी एक ही कारण का प्रमुख रूप से उल्लेख करे। इससे अन्य कारणो का निषेध नही होता है। तिलोयपण्णत्तिकार ने जो तीसरे कारण 'जातिस्मरण' को ही ग्रहण किया है उसका प्रधान हेतु यह है कि अन्य दो कारणो मे एक तो नियमित ही है और बाह्य घटना के रूप मे है जो दसो तीर्थंकरों मे

अलग-अलग रूप से पाया जाता है जब कि 'जातिस्मरण' की बात दसों तीर्थंकरो मे समान रूप से पाई जाती है। अतः सहूलियत की दृष्टि से तिलोयपण्णत्तिकार ने इस संक्षिप्त कथन को ही अपनाया है। तिलोयपण्णत्ति की यह अपनी विशेषता है कि—उसमे इतिहास का सूत्र बीजात्मक रूप से संक्षिप्त स्थूल कथन है बाह्य घटना कथानकादि का वहाँ कोई विशेष उल्लेख नही है। पुराणादि ग्रन्थों मे अगर कही नेमिनाथ का 'जातिस्मरण' नही बताया जाता तो फिर श्री ब्रह्मचारी जी की बात किसी हद तक मानी जा सकती थी, पर हम देखते है कि—उत्तरपुराण मे ही नही, हरिवंशपुराण मे भी इसका स्पष्ट संकेत पाया जाता है। देखो सर्ग ५५; श्लोक ९८।

ब्रह्मचारी जी सा० ने तिलोयपण्णत्ति के कथन से जो एक मात्र जातिस्मरण को ही नेमिनाथ का वैराग्य कारण समझा है और 'पशु-बंधन' की घटना पर मास भक्षण का दोषारोप करते हुए उसे जो श्वेताम्बरो की नकल बताया है, इस पर उनसे हमारा सीधा-सा यह प्रश्न है कि—जब पुराणकारों ने 'जातिस्मरण' वाले अन्य ९ तीर्थंकरो के साथ भी विविध बाह्य घटनाओ का जो प्रतिपादन किया है क्या वह भी श्वेताम्बरो की नकल है ? और उसमें भी मास भक्षण जैसी कोई आपत्तिजनक बात है ? अगर ऐसा कुछ भी नही है और जब एक नहीं सभी पुराणकारो ने 'पशु-बन्धन' वाली घटना का उल्लेख किया है तो उसे प्रामाणिक और निर्दोष मानना होगा तथा साथ मे 'तिलोयपण्णत्ति' के स्थूल संक्षिप्त और अपेक्षा प्रधान कथन को भी पुराणों का अविरोधक मानना होगा।

अब मै पाठकों की सुविधा के लिए उपरोक्त १० तीर्थंकरों के वैराग्य कारण का उत्तरपुराण (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) के अनुसार संक्षेप मे उल्लेख करता हूँ:—

पृष्ठ ३५ पद्मप्रभु=द्वार पर बंधे हाथी की दशा सुन उद्‌बुद्ध हो अपने पूर्वभवो का स्मरण कर वैराग्य को प्राप्त होना।

पृष्ठ २०८ शांतिनाथ=शृंगार करते समय दर्पण मे अपने दो प्रतिबिंब देख कर उद्‌बुद्ध हो जातिस्मरण से वैराग्योत्पादन।

पृष्ठ २१५ कुन्थुनाथ=घोर तप करते एक मुनि को वन में देख अपने मन्त्री को इसका कारण बताते हुए उद्‌बुद्ध हो पूर्व भव स्मरण से वैराग्य होना।

पृष्ठ २४६ मुनिसुव्रत=अपने यागहस्ति को उसके पूर्व भव बताते हुए उद्‌बुद्ध हो जातिस्मरण से वैराग्य।

पृष्ठ ३३४ नमिनाथ=दो देवताओं द्वारा अपराजित केवली के समाचार सुन उनके साथ अपने बीते भवों का स्मरण करके वैराग्य को प्राप्त होना।

पृष्ठ ३८६ नेमिनाथ=पशु-बन्धन से विरक्त हो जातिस्मरण पूर्वक वैराग्य होना।

पृष्ठ ४३७ पार्श्वनाथ=अयोध्या के दूत द्वारा वृत्तान्त सुन ऋषभदेव के साथ बीते अपने पूर्व भवो का स्मरण होना जिससे वैराग्य होना।

पृष्ठ ४६३ महावीर=मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से पूर्व भव स्मरण फिर वैराग्य।

सुमतिनाथ और वासुपूज्य=राज्य से अनिच्छा हो पूर्व भव स्मरण से वैराग्य।

इस तरह हम देखते है कि—उपर्युक्त वैराग्य कारणो मे जातिस्मरण के साथ-साथ किसी घटना का पूर्व रूप में होना भी प्रायः उल्लिखित है। तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं। अतः उन्हें अपने पूर्व

भवों का ज्ञान तो पहले से रहता है, पर किसी बाह्य घटना के संयोग के बिना वैराग्योत्पादन में कारण नही होता। अतः पुराणकारों ने जो साथ में बाह्य घटना रूप कथन किया है वह वास्तविक और अकल्पित ज्ञात होता है।

ब्रह्मचारी जी अगर एक उत्तरपुराण को ही ध्यान से पढ़ लेते तो उनकी सारी शंकाओं का स्वतः ही समाधान हो जाता पर उन्होने उत्तर-पुराण को ध्यान से अध्ययन करने का कष्ट नही किया, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि—अपने इसी लेख के प्रारम्भ में एक जगह वे लिखते है कि—'तिलोयपण्णत्ति' मे जो अनेक महत्त्व की बातें पाई जाती हैं वे अन्य ग्रन्थो मे आज तक देखने मे नही आयी। "यथा—(६) आठवें नारायण लक्ष्मण का चौथे नरक में वास बताना। पर यह बात तो उत्तर-पुराण मे भी पाई जाती है। देखो पर्व ६८, श्लोक ७०१–७०९। उत्तर-पुराण मे ही क्या पुष्पदन्त के महापुराण और त्रिलोकसार गाथा ८३२ मे भी यह कथन पाया जाता है।

ब्रह्मचारी जी प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती विशेष ज्ञान रहित के उपदेश देने के अर्थ जो प्रवृत्त हुआ अधिकार अर्थात् अनुयोग है उसे प्रथमानुयोग कहते है (गो० जी० ३६१–३६२ टीका) तुच्छ बुद्धि जीवो को समझाने के लिए व पाप-पुण्य के फल का ज्ञान कराने के लिए यह अनुयोग है।

समीक्षा—अगर इससे आपने प्रथमानुयोग को एकान्ततः 'मिथ्यादृष्टि के अर्थ ही प्रवृत्त हुआ' समझा है तो गलत है, क्योंकि प्रायः सारे प्रथमा-नुयोग के ग्रन्थो की उत्थानिका में श्रेणिक (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप मे ग्रन्थ का प्रवर्तन बताया है तब उसे केवल मिथ्यादृष्टि तुच्छ बुद्धि व अव्रती के लिए ही समझना स्पष्ट स्खलित

है। प्रथमानुयोग तुच्छ बुद्धि जीवों का ही उपकारक नहीं है बल्कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी भी इससे उद्‌बुद्ध होते है। प्रथमानुयोग मे केवल साधारण बातें ही नही है अनेक सैद्धान्तिक गम्भीर तत्त्व व आचार विधियाँ भी गर्भित है। स्वामी समन्तभद्र ने इसीलिए प्रथमानुयोग को "बोधिसमाधि निधानं" (ज्ञान और योग का कोष) कहा है तथा साथ ही "अर्थाख्यानं" (निरर्थक न होकर सोद्देश्य कथानक से पूर्ण) भी प्रकट किया है। यह जिन-प्रासाद (मोक्ष महल) का प्रवेशद्वार है। दूध की तरह यह शिशु (अज्ञानी) से लेकर वृद्ध (महाज्ञानी) तक के लिए समान रूप से पाचक-उपयोगी है। यह वह लोक-संगीत है जो सभी का मनोरंजन करता है; शास्त्रीय संगीत (क्लासिकल म्यूजिक) नही जो कुछ सगीत विशारदो के ही उपयोग की चीज हो, इसीलिए इसे अनुयोगो मे प्रथम स्थान दिया है। इसमे प्राय: थोडा-बहुत अन्य अनुयोगो का भी समावेश रहता है अत. इसे हम चारो अनुयोगो की 'ज्ञानपूर्णा' कहे तो कोई अत्युक्ति नही जहाँ हर श्रेणी का बुद्धिधारी मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी ज्ञानबुभुक्षा शान्त कर सकता है। कुछ लोगो का जिसमे आप भी है शायद यह खयाल हो कि—प्रथमानुयोग आधुनिक है पर तथ्य इससे विपरीत है; द्वादशाग का छठा अंग ज्ञातृधर्मकथाग और चौदह पूर्वाङ्ग का ग्यारहवाँ कल्याणवाद प्रथमानुयोग का मूल है। भगवती आराधना और रत्नकरण्डश्रावकाचार मे जो कथाओ के उदाहरण पाये जाते है उनसे भी प्रथमानुयोग की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'पुराण' शब्द से भी यह जाहिर होता है कि इनकी परम्परा बहुत प्राचीन रही है।

मेरे इस समीक्षात्मक लेख के उत्तर मे ब्रह्मचारी जी सा० ने एक लेख 'अंधेरे मे उजाला' दिनाक १८-१२-५६ के 'वीर वाणी' पाक्षिक पत्र में प्रकाशित कराया है नीचे उसका प्रत्युत्तर और नई शंकाओ का समाधान किया जाता है :—

१. ब्रह्मचारी जी—"श्री नेमिनाथ जैसे महापुरुष डर के मारे भयभीत होकर शौरीपुर छोड़कर भाग गए" ऐसा तो मात्र पं० रतनलाल जी ही लिख सकते है, मै तो ऐसा लिखने मे असमर्थ हूँ। हरिवंशपुराण पृ० ४१६ मे निम्न प्रकार लिखा है—यद्यपि बलदेव वासुदेव के मन में यह विचार आया जो जरासंध से अब ही लड़ लें किन्तु बड़ो की आज्ञा से प्रयाण ही करते भए। उन्होंने (बड़ो ने) कही, इस समय तुम्हारी अवस्था नहीं, ये बड़ो के आज्ञाकारी सो उनके कहने से प्रयाण ही किया।

प्रत्युत्तर—मैने अपने लेख मे कहीं भी ऐसे वाक्य नहीं लिखे हैं, फिर भी दूसरो के नाम से गलत और असत्य उद्धरण प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित है? पाठक सोचें। मेरे असली वाक्य तो ये है—"यदुवंशी जरासंध के भय से शौरीपुर को छोड कर भाग खडे हुए और द्वारका मे आकर बसे।" पाठक इससे निश्चय कर सकते है कि—ब्रह्मचारी जी का लिखना सत्य है क्या?

भगवान् नेमिनाथ तो उस समय बहुत छोटे शिशु थे अतः उनका जरासंध से डरना और शौरीपुर छोड कर भागना किसी तरह संभव नही, यदुवंशियो ने भी युद्ध के विषय मे जो मंत्रणा की थी वह बलदेव वासुदेव से ही की थी, नेमिनाथ से नही, जैसा कि आपके ऊपर उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है। उनसे यह भी स्पष्ट है कि—बलदेव-श्रीकृष्ण, जरासंध से उस समय लडने मे समर्थ नही थे। उत्तरपुराणादि के अनुसार तो भगवान् का जन्म ही द्वारका मे हुआ था अतः उनके डर कर भागने की कोई बात ही नही उठती। रही यदुवंशियो के भयभीत होने की बात सो इसमे कर्मसिद्धांतादि किसी से कोई बाधा नही आती। अब मै कुछ ग्रन्थों से ऐसे उद्धरण पेश करता हूँ जिनमे ठीक मेरे जैसे ही वाक्यों का प्रयोग किया गया है—

१—पाडवपुराण पृ० २०४ (सम्पादक श्रीनिवासजी शास्त्री) :— जरासध स्वयं युद्ध करने गया, यादव यह समाचार पाकर बहुत भयभीत हुए और अपने नगर को छोडकर भाग गए ।

२—"जैनधर्म" पृ० १८ प० कैलाशचन्द्रजी—जरासध के भय से यादवगण शौरीपुर छोडकर द्वारका नगरी मे जाकर रहने लगे ।

३—पाडवपुराण भाषा छदोबद्ध बुलाकीदास जी कृत (स० १७५४) पृ० १७७ ।

तब चक्री अति रोषित होय, काल जवन सुत भेजो सोय ।
ताके डरते पुर को छोड, भागे यादव पश्चिम ओड ॥५०॥

४—"हरिवश पुराण" अनुवादक प० गजाधरलाल जी सर्ग ४०

आत्मापराधबाहुल्यात्सशल्यहृदयास्तत ।
यादवा क्वापि सत्रस्ता प्रयान्ता प्रियजीविता ॥३७॥

(अनुवाद—यादवो से जरासध का कुछ अपराध बन गया जिससे कि उन्हे परम दु ख हुआ और जरासध के कोप से त्रस्त हो ये अपने जीवन की आशा से नगर से निकल भागे),

५—पाडवपुराण पृ० १७५, सम्पादक नदलालजो जैन—जरासध के बल को यादव लोग जानते थे । इसलिए उसके आने का समाचार सुनकर सब भयभीत हुए और युद्धस्थल छोड भाग गए ।

इस पर कोई कहे कि—'यदुवंशी तो वीरता के साथ नगर छोडकर गए थे' यह कहना उसी तरह हास्यास्पद है जिस तरह युद्ध काल मे अंग्रेज कहते थे कि—"हमारी सेना बडी बहादुरी से पीछे हटी" (जैसे कि पीछे हटने मे भी कोई बहादुरी हो !)

इसके सिवा ब्रह्मचारी जी ने मेरे नाम से जो गलत उद्धरण पेश किया है उसमे एक भद्दी भाषात्मक गलती भी है--"डर के मारे भयभीत होकर" डर और भय शब्द एकार्थवाची है, दोनों मे से किसी एक से ही बखूबी काम निकल सकता था फिर पुनरुक्ति करने से क्या फायदा ?

२—ब्रह्मचारीजी—पं० रतनलाल जी ने लिखा है कि—"इतने दिन जिन्होंने पशुओं के बारे मे माना और अब भी मान रहे हैं क्या वे सब नासमझदार है ?" इसका तो केवल इतना ही जवाब हो सकता है कि जब तक हमे अन्य कोई प्राचीन प्रबल प्रमाण न मिले तब तक ऐसा मानना दोषयुक्त नही है, किन्तु अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक बैठनेवाला प्रबल ठोस प्रमाण मिल जाये तो पहिले की धारणा को छोड देना चाहिए हठ न करना चाहिए, इसी मे स्वकल्याण है।

प्रत्युत्तर—जो मान्यता आज तक दोषयुक्त न थी वह अब ही अब दोषयुक्त कैसे हो सकती है ? आपको जो प्रमाण मिला है क्या वह अज्ञात पूर्व है ? क्या इसका पूर्वाचार्यो को ज्ञान तक न था; आज तक वे सब अंधकार मे थे, आपने ही यह नई खोज की है ?

आपकी इस नवीन खोज की क्या गारंटी है कि—वह ही प्राचीन और प्रबल है एवं अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक बैठनेवाली है, अन्य सब अर्वाचीन और निर्बल है एवं अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक बैठनेवाली नही है। जिसे आप प्राचीन और प्रबल समझ रहे है क्या यह सभव नही कि—वह विवक्षाभेद और दृष्टिकोण का अन्तर ही हो, वस्तुतः उसमे कोई विरुद्धता न हो, जैसा कि मैने अपने पूर्व लेख मे स्पष्टतया सिद्ध किया है।

बिना इन सब बातो का ठीक उत्तर दिए किसी पर दुराग्रह का आरोप लगाना और उससे आर्षमान्यताओ के छोड़ने का एवं स्वकल्याण का अनुरोध करना "परोपदेशे पाडित्यं" ही है, इसके सिवा उसमे और कोई तथ्य नही।

आपने जो प्राचीनता की दुहाई दी है सिर्फ वह भी कार्यकारी नही है। प्राचीन तो मिथ्यात्व भी है पर क्या कोई उसे ग्रहण करेगा ? और आपकी इस प्राचीनता की भी कोई स्थिरता नही, तिलोयपण्णत्ति से प्राचीन किसी अन्य ग्रन्थ मे कोई दूसरा ही कथन निकल आमे (जो हो तो वास्तव मे विवक्षाभेद) तो आप उसे भी धता बता दे क्योकि जिनको प्राचीनता से ही विचित्र मोह होता है वे समीचीनता को ग्रहण क्यो करने लगे। प्राचीनतावादियो की आचार्य सिद्धसेन ने अपनी प्रसिद्ध द्वात्रिंशतिका मे तीक्ष्ण भर्त्सना की है जरा उसे पढने का कष्ट कीजिए, सारा भ्रम विलीन हो जायगा। और भी देखिए कवि कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्र' मे क्या कहते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि नून नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजंते, मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

(प्राचीन है इस लिए सब निर्दोष नही है और नवीन है इसलिए सब सदोष नही है, समझदार तो परीक्षा करके समीचीन को ही ग्रहण करते है, मूढ है जो अपनी अक्ल से काम नही लेकर दूसरो के हाथ की कठ-पुतली बनते है।

स्वामी समन्तभद्र ने भी प्राचीन और नवीन की बजाय समीचीन को ही महत्त्व दिया हैं, देखिये –देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्— (रत्नकरण्ड)। इसके सिवा उन्होने शास्त्र के लक्षण मे भी कही प्राचीन विशेषण नही दिया है, यह भी ध्यान देने योग्य है।

३—ब्रह्मचारी जी—"उत्तरपुराण पर्व ७१, श्लोक नं० १६६–१६८ मे एवं 'हरिवंशपुराण' सर्ग ५५ श्लो० नं० ६८ मे स्पष्ट लिखा है कि—श्री नेमिनाथ के वैराग्य का कारण जातिस्मरण ही है।" ऐसा पं० रतन-लाल जी ने लिखा है किन्तु हमारे देखने मे उस गाथा मे ऐसा कोई कथन नही पाया जाता और न भाषाकार ने भी ऐसी व्याख्या की है व संस्कृत श्लोक मे भी ऐसा नही लिखा है।

प्रत्युत्तर—आपने जो मेरे नाम से वाक्य उद्धृत किए हैं वे ठीक उसी रूप में मेरे नहीं है, उनमे के "स्पष्ट लिखा है" एवं "जातिस्मरण ही है" ये दो वाक्य तो मेरे लेख मे कही नही है। मेरे वाक्य ठीक इस प्रकार हैः—"पुराणादि ग्रन्थो मे अगर कहीं नेमिनाथ का 'जातिस्मरण' नही बताया जाता तो फिर भी श्री ब्रह्मचारी जी की बात किसी हद तक मानी जा सकती थी, पर हम देखते हैं कि उत्तरपुराण मे ही नही हरिवंश-पुराण मे भी इसका स्पष्ट संकेत मिलता है, देखो सर्ग ५५. श्लोक ९८। इससे पाठक सोच सकते है कि ब्रह्मचारी जी ने तथ्यो को तोडमरोडकर पेश किया है। आपने लिखा कि—"संस्कृत श्लोक मे ऐसा नही लिखा है, भाषाकार ने भी ऐसी व्याख्या नही की है" आपका यह सब लिखना मिथ्या है। शायद आपका यह खयाल हो कि—'जातिस्मरण के लिए 'वैराग्य कारण' शब्द नही दिया है सो यह आशय और कथन को न समझने का परिणाम है। संस्कृत श्लोक मे नेमिनाथ को जातिस्मरण होने की बात स्पष्ट कही गई है, (बोधित· समतीतात्मभवानुस्मृतिवेपितः) इसे कारण न मानोगे तो क्या कार्य मानोगे या अकारण मानोगे ? पर न तो यह कार्य है और न अकारण किन्तु कारणशृंखला की एक कड़ी है। अगर यह कारण न होता और पशुबंधन ही कारण होता तो आचार्य लिख देते कि—"भगवान् ने पशुबंधन से विरक्त हो सीधे वन मे जा दीक्षा ले ली" परन्तु उन्होने तो—पशुबंधन से विरक्ति के बाद लौकातिक देवो से प्रतिबुद्ध होना तथा जातिस्मरण से संबुद्ध होना फिर गृहत्याग करना लिखा है, इससे स्पष्ट है कि—ये सब कारण ही है—पशुबंधन बाह्यकारण है और मुख्य है तथा जातिस्मरण अंतरंग कारण है, और गौण है। यह ही सब बात अन्य ९ तीर्थकरो के विषय मे भी है जिनका वैराग्यकारण तिलोयपण्णत्ति मे जातिस्मरण बताया है पर पुराणों मे जातिस्मरण के साथ घटनास्वरूप बाह्यकारण भी दिया है जिस सब का विस्तृत विशद विवेचन मैने अपने पूर्व लेख में किया है। उसको ध्यान से पढ़ने पर कोई शंका ही

नहीं रहती। मै और भी २-३ प्रमाण दे देता हूँ जिनमे पशुबंधन से विरक्ति के साथ साथ जातिस्मरण का भी उल्लेख है—

१—आशाधर कृत, 'त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र' पृ० १३०—ज्ञात्वा तच्छद्म निर्विद्य संस्मृत्य स्वपुराभवान् ॥६०॥ (नेमिनाथ, श्रीकृष्ण के छल को जान कर और अपने पूर्वभवो का स्मरण कर विरक्त हुए)।

२—पृ० १७० नेमिपुराण (उदयलाल जी कृत हिन्दी) नेमिजिन ने अपने पूर्वभव का भी हाल जान लिया।

३—वाग्भट कृत 'नेमिनिर्वाणकाव्य' पृ० ७९ सर्ग १३।

श्रुत्वा वचस्तस्य स वश्यवृत्ति.,
स्फुरत्कृपान्त करण. कुमार ।
निवारयामास विवाहकर्माण्य-
धर्मभीरु. स्मृतपूर्वजन्मा ॥५॥

सारथी के वचन सुनकर भगवान् नेमिनाथ के हृदय में करुणा उत्पन्न हो गई तथा उन्हे अपने पूर्वभवो का स्मरण हो आया—वे विवाहकर्म से विमुख हो गए।

एक ओर हम व हमारे पत्र 'भगवान् बुद्ध' पुस्तक का इसलिए घोर विरोध कर रहे है कि—उसमे अहिंसा के अवतार भगवान् महावीर व जैनश्रमणो को मासाहारी सिद्ध करने का झूठा और जघन्य प्रयत्न किया गया है तो दूसरी ओर हमारे ही ब्रह्मचारी जी यह सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न कर रहे है कि—"हमारे मान्य और प्राचीन ग्रन्थो मे ऐसे उल्लेख पाये जाते है जिनसे तीर्थकर कुल मे भी मासभक्षण सिद्ध होता है" यह प्रवृत्ति ठीक नही। इसके सिवा पशुबधन की घटनावाले स्थलो को ग्रन्थो से निकालने की प्रेरणा करना तो सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। श्वेताम्बरो मे अनेक दिगम्बर कथन मिलते है इसीलिए उन्हे श्वेताम्बर ही माना जाये यह विचित्र खोज है।

४—ब्रह्मचारी जी—"श्री नेमिनाथ का जन्म शौर्यपुर मे भया पीछे द्वारका गए" ऐसा श्री हरिवंशपुराण के सर्ग ४०, पत्र ४१७ मे लिखा है। इतना ही नही किन्तु वर्तमान में भी एक भी दिगम्बर जैन भाई द्वारिका को दिगम्बर जैनतीर्थ मानकर वहाँ जाता हो ऐसा न तो सुना है और न देखा ही है। परन्तु शौर्यपुर मे दो कल्याणक माने जाते है इसीलिए वहाँ पर दिगम्बर जैन भाई दर्शनार्थ भी जाते है व वह एक पवित्र तीर्थक्षेत्र भी माना जाता है।

उत्तर—हरिवंशपुराणादि मे नेमिप्रभु का जन्म स्थान शौरीपुरी बताया है पर आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण, हरिषेण के कथाकोश, आशाधर के त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, शुभचन्द्र के पाण्डव पुराण, ब्र० नेमिदत्त के आराधना-कथाकोश व नेमि पुराण, वाग्भट के नेमिनिर्वाण काव्य, विजयकीर्ति के कर्णामृतपुराण, पं० बुलाकीदास के पाण्डवपुराण तथा पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के जैनदर्शन (पृ० ६) आदि प्राचीन व अर्वाचीन ग्रन्थो मे एवं मूलसंघी आम्नाय मे तथा सम्पूर्ण वैदिक पुराणों मे प्रायः सर्वत्र द्वारिका को ही नेमिनाथ का जन्मस्थान माना है। इससे जाना जा सकता है कि पूर्वकाल से आज तक बराबर द्वारिका जैनों को मान्य रही है और आज भी कोई भाई ग्रन्थो के इस कथन को अमान्य नही करते, दोनो कथन मान्य करते है। पं० टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४४५ मे नेमिनाथ की जन्मभूमि के विषय मे द्विविध मान्यता का उल्लेख किया है पर उन्होने भी किसी एक मान्यता को उचित या अनुचित नही बताया है, फिर भी यह जरूर है कि सत्य इनमे से एक ही है किन्तु निश्चित प्रमाणाभाव मे हमे कोई अधिकार नही है कि हम ऐसी द्विविध मान्यताओ के संबंध मे जो युक्ति, प्रत्यक्ष व अनुमानादि से अबाधित हो अपना कोई एक मत स्थापित करें।

शौरीपुर में जाने से और उसे तीर्थ मानने से द्वारिका का निषेध नहीं होता। हो सकता है कि किसी समय साम्प्रदायिक विद्वेष व संघर्षवश वहाँ

के विशेष प्राचीन मंदिरादि नष्ट-भ्रष्ट व रूपान्तरित कर दिए गए हों जिससे धीरे-धीरे आवागमन अवरुद्ध-सा हो गया हो और फिर समुद्री मार्ग की कठिनाइयों ने इसे और भी बढावा दिया हो। खैर, कुछ भी हो आज भी लोग द्वारिका जाते है, वहां अपना दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमे भगवान् नेमिनाथ की मूर्ति व चरणपादुका विराजमान है। इसके लिए देखो—ब्रह्मचारी गेवीलालजी कृत 'तीर्थयात्रादर्शक पृ० २२८. इसमे लिखा है कि—द्वारिका नेमिप्रभु का जन्मस्थान है, किसी-किसी ग्रन्थ मे शौरीपुर भी जन्म-स्थान लिखा है पर दोनो प्रमाण है, दोनों तीर्थवंदना के योग्य है यथार्थ बात का निश्चय तो सिवा केवली के अन्य को नहीं हो सकता।

इस विषय मे एक बात यह भी जानने योग्य है कि निम्न ग्रन्थों के अन्दर द्वारिका मे शौरीपुर की भी कल्पना की गई है, देखो वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण काव्य—

भविष्यतस्तीर्थकरस्य नेमेर्निमित्तमत्यन्तमनोहरश्री॰ ।
कृतिः सुराणा ससुरेश्वराणा या प्राप शौरीति तत. प्रसिद्धिम् ॥५८॥
सर्ग १

(कुबेर निर्मित वह द्वारिका नगरी शौरीपुर नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई) यही बात जिनसेन कृत हरिवंश पुराण सर्ग ४, श्लोक ४४ मे बताई गई है।

शंका—ब्रह्मचारी जी—श्वेताम्बर आम्नाय मे लिखा है कि—सामान्य केवली के गणधर होते है, किन्तु दिगम्बर आम्नाय मे ऐसा नही माना जाता है तो भी 'सुदर्शन चरित्र' के परिच्छेद ८, गाथा ७७ मे सामान्य केवली के गणधर होना लिखा है।

समाधान—संस्कृत मे दो सुदर्शनचरित पाये जाते है एक मुमुक्षु विद्यानन्दि कृत और दूसरा भट्टारक सकलकीर्ति कृत, इनमें पहिले मे तो परिच्छेद ८ पर ऐसा कोई विषय ही नही है, दूसरे मे जरूर है पर वहाँ सामान्य केवली के गणधर होने की कोई बात ही नही लिखी है, वहाँ तो

इस प्रकार लिखा है—इत्यभिष्टुत्य देवेशाः केवलज्ञानलोचनम्, धर्मश्रवण-सिद्धयर्थं परितस्तमुपाविशन् ॥७६॥ दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्ग-वृत्तये, धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान्प्रति ॥७७॥ भो भव्याः! क्रियते धर्म स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरः, तात्पर्येण स्वसिद्धयर्थं हत्वा पापाक्षत-स्करान् ॥७८॥ इति केवलिवक्त्रेन्दूद्भवं धर्मामृत महत्, पीत्वा सुरा नरा यक्षा ययुः सन्तोषमूर्जितम् ॥१०६॥

श्लोक ७७ मे 'गणान्' शब्द है जिसका 'गणधर' अर्थ समझ लिया गया है। पर 'गण' शब्द का अर्थ 'समूह' होता है और वही यहाँ प्रकरण संगत है। श्लोक ७६ मे बताया है कि—"स्तुति करने के बाद देवेन्द्रगण उन सुदर्शन केवली के चारो ओर धर्मश्रवण की इच्छा से बैठ गये।" इसके बाद आगे श्लोक ७७ मे बताया है कि—तब उन देवसमूह को (गणान्) केवली ने अपनी दिव्य ध्वनि मे इस प्रकार तत्त्वोपदेश दिया—हे—भव्यो! ····(यह सब उपदेश श्लोक ७८ से १०८ तक मे है) फिर श्लोक १०६ मे बताया है कि—केवली मुख से निर्गत धर्मामृत को देव और मनुष्यादिक ने पान कर आत्मसंतोष प्राप्त किया।) इस सब प्रकरण से दिनकर की तरह स्पष्ट है कि—बिना किसी गणधर के माध्यम से स्वयं सुदर्शन केवली ने देवादि समूह को धर्मोपदेश दिया था। ऐसी हालत मे ब्रह्मचारी जी ने जो सामान्य केवली के गणधर होने की बात लिखी है वह मिथ्या है।

शंका—ब्रह्मचारी जी— आज तक लब्धिसार मे लिखे अनुसार ४६ प्रकृति की बंधव्युच्छित्ति भव्य व अभव्य दोनो के होती है, ऐसा माना जाता था, परन्तु अब 'कषायपाहुड सुत्त' पृ० ६१८ में ४६ प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति मात्र भव्य के ही होती है, अभव्य के नही, ऐसा लिखा होने से मान्यता ऐसी हो गई है, क्योंकि यह प्रवल प्राचीन व ठोस प्रमाण है।

समाधान—'कषायपाहुड सुत्त' मूल मे ऐसी कोई बात ही नही है,

चूर्णि मे भी सिर्फ उन प्रकृतियो के नाम भर दिये है, जो उपशम से पहिले बन्धव्युच्छिन्न हो जाती है और हिन्दी विशेषार्थ से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि अभव्य के इन प्रकृतियो की बन्धव्युच्छित्ति प्रायोग्यलब्धि मे नही होती है। श्री वीरसेन स्वामी ने इस विषय मे धवलाटीका मे स्पष्ट लिखा है— एदाओ चत्तारि विलद्धीओ भवियाभविय मिच्छइट्ठीणं साहारणाओ, दो सु वि एदाणं समवा दो—ये प्रारम्भ की चारो ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवो के साधारण है क्यो कि दोनो ही प्रकार के जीवो मे इन चारो लब्धियों का होना सम्भव है। देखो षट्खण्डागम पुस्तक ६ पृ० २०५–२०६। यह ही बात और भी विशदता के साथ 'लब्धिसार' की गाथा १ से १५ तक मे कही गई है, ये गाथाये भी प्राचीन है जिनको नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने संकलित किया है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का मत स्पष्ट है कि—इन प्रकृतियो की व्युच्छित्ति भव्य व अभव्य दोनो के होती है। यदि इन आचार्य मत के विरुद्ध पं० हीरालाल जी सा० ने कुछ लिख भी दिया हो तो वह कैसे प्रमाण हो सकता है? 'कषायपाहुड' पर जयधवलाटीका भी है, अभी तक इस विषय से सबंधित भाग मुद्रित नही हुआ है, हस्तलिखित प्रतियो को देखिये इस विषय मे और भी स्पष्ट समाधान हो जायेगा इसमे कोई सन्देह नही।

शंका—ब्रह्मचारी जी—'आदि पुराण' पर्व ४१ के सूत्र नं० २८ मे लिखा है कि—'भगवान के चरण कमलो की भक्ति कर परिणामन की विशुद्धता करि चक्रेश्वर भरत को अवधिज्ञान प्रगट भया" किन्तु भरत महाराज सर्वार्थसिद्धि विमान से आये है ऐसा आदिपुराण पर्व ४७ मे लिखा है, अब विचार करना चाहिए कि—सर्वार्थसिद्धि से जो जीव मनुष्य पर्याय धारण करते है वे निश्चय से तीन ज्ञान सहित ही माता के गर्भ मे आते है। तब भरत महाराज को समवशरण मे भगवान की भक्ति करने से अवधि ज्ञान कैसे हुआ? देखो धवलग्रन्थ ६ सूत्र २४३ पृ० ५००॥

समाधान—भरत को अवधिज्ञान प्रकट होने की जो बात लिखी है

वह भाषा टीकाकार की है मूलग्रन्थकार की नही है। भाषा टीकाकार के वक्त धवलादि ग्रन्थ प्रकाश व प्रचार मे नही आये थे अतः उनसे अनुवाद में भूल होना किसी तरह क्षंतव्य है पर आपने तो सिद्धान्त का परिचय हो जाने पर भी आदिपुराण के मूल शब्दो पर गौर करने की कोई आवश्यकता नही समझी। महान् सिद्धातज्ञ वीरसेन के अग्रशिष्य आचार्य जिनसेन जिन्होने स्वयं भी जयधवला सिद्धान्त के बहुभाग की रचना की है, आदिपुराण मे सिद्धान्त विरुद्ध कथन कैसे कर देते ? जरा यह तो सोचना चाहिए !

आदिपुराण के वे मूलवाक्य इस प्रकार हैः—

भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे।
विशुद्धिपरिणामागमवधिज्ञानमुद्‌बभौ ॥

इसमे 'उद्‌बभौ' क्रिया का अर्थ 'प्रकट हुआ' समझा गया है पर यहाँ उत् तो उपसर्ग है 'भा' (दीप्तौ, प्रकाशने) धातु है जिससे भूतकाल मे 'उद्‌बभौ'' रूप बनता है जिसका अर्थ होता है ''उद्दीप्त हुआ, और भी विशेष प्रकाशमान हुआ।'' हरिवंशपुराण पर्व ३८ श्लो० १६ तथा आदिपुराण पर्व १५ श्लो० ४५, १६१। देखो वहाँ 'बभौ' का 'अर्थ' सुशोभित-प्रकाशमान हुआ, ही किया है। ''ऐसी हालत मे 'उद्‌बभौ' का अर्थ 'प्रकट हुआ' करना नितात गलत है। अगर 'उद्‌बभूव' (उद् + भू–सत्तायाम् + लिट्) क्रिया होती तो 'प्रकट हुआ' अर्थ करना ठीक हो मकता था पर यहाँ 'भू' धातु न होकर 'भा' धातु है।

सर्वार्थसिद्धि से चयकर जो जीव आते है उनका अवधिज्ञान 'हीयमान' नही होता 'वर्धमान' ही होता है देखो धवला पुस्तक ६ पृ० ५००—

ओहिणाणं णियमा अत्थि त्ति कधं ? ण तेसि अणणुगामी हीयमाण पडिवादि ओहिणाणाणमभावादो।

अर्थ—शंका.—उनके अवधिज्ञान नियम से होता है सो कैसे ?

समाधान—उनके अननुगामी हीयमान और प्रतिपाती ये तीन अवधि-ज्ञान नही होते बल्कि देशावधि के ५ भेद उनके होते है। इससे भरत का अवधिज्ञान विशेष वर्धमान हुआ यह ही बात आचार्य जिनसेन ने विशुद्धि परिणाम को कारण बताते हुए 'उद्‌भवौ' वाक्य से सूचित की है।

जैनधर्म लहु मद बढै, वैद न मिलि है कोई।
अमृत पान विष परिणवे, ताहि न औषधि होई॥
जो चरचा चित मे नही चढे, सो सब जैन सूत्र सौ कढे।
अथवा जे श्रुत मरमी लोग, तिन्हे पूंछ लीजे कहु जोग॥
इतने पर संशय रहु जाय, सो सब केवलज्ञान समाय।
यौ निशल्य कीजे निज भाव, चरचा मे हट को नही दाव॥
दिवस दिवाकर ऊगवे सबही को भ्रम जाय।
अधिक अँधेरो घूक के ताकौ कौन उपाय॥

—भूधर जी

रात्रि भोजन त्याग : छठा अणुव्रत

एक साहित्यिक रहस्योद्घाटन—

उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' अध्याय ७ सूत्र १ की निम्नांकित टीकाओं मे रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय मे इस प्रकार लिखा है :—

१—पूज्यपाद कृत—'सर्वार्थसिद्धि' :—

ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम्, न, भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते तत्र आलोकितपान-भोजनभावना कार्येति।

२—अकलक देव कृत 'राजवार्तिक'—

स्यान्मतमिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति तन्न, कि कारण, भावनान्तर्भावात्।

३—भास्करनदि कृत 'सुखबोधवृत्ति'—

रात्रिभोजनवर्जनाख्यं तु षष्ठमणुव्रतमालोकितपानभोजनभावनारूप-मग्रे वक्ष्यते।

४—श्रुतसागर कृत 'तत्त्वार्थवृत्ति'—

ननु रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतं वर्तते····(सर्वार्थसिद्धिवत्)

इन सब टीकाग्रन्थो मे बताया है कि—

"रात्रि भोजन त्याग नामक छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना होनी चाहिए। नही, क्योकि आगे अहिसा व्रत की आलोकित पान-भोजन भावना मे उसका अन्तर्भाव हो जाता है।"

भास्करनंदि ने—'रात्रि भोजन-त्याग' को 'आलोकित पान भोजन'

का पर्यायवाची ही बताया है। ऐसा ही आचार्य विद्यानंद ने—'श्लोक-वार्तिक' मे बताया है। देखो–

आलोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजनविरतिरेवेति नासावुपसंख्येया।

अर्थात्—आलोकित पान भोजन नाम की भावना रात्रि भोजन त्याग ही है अत. उसकी अलग गणना करने की जरूरत नही होती।

छठे अणुव्रत का यह सब कथन सामान्य है अतः मुनि और श्रावक दोनो की अपेक्षा से कहा गया है। इसके सिवा आलोकितपानभोजन को लेकर जो विवेचन है वह तो खास तौर से मुनियो की अपेक्षा से ही है ऐसी हालत मे यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि—'रात्रि भोजन त्याग को फिर 'अणुव्रत' संज्ञा क्यो दी गई है? उसे 'व्रत' सामान्य से ही अभिहित करना चाहिये था 'अणु' कहने से वह सिर्फ श्रावको के लिए ही जाना जाता है।" इस प्रश्न का समाधान तत्त्वार्थ की किसी भी टीका मे कही भी नही पाया जाता है।

इसी तरह—

५—मुनियो के 'दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण' और 'पाक्षिक प्रतिक्रमण' मे पंच महाव्रतो के बाद ही रात्रि भोजन विरमण नामक छठा अणुव्रत बताया है। देखो '—

"छट्ठं अणुव्वदं राइभोयणादो वेरमणं" (षष्ठमणुव्रत रात्रि-भोजनाद्विरमण)

—"क्रिया कलाप,, पृ० ५२, ८७, ८०, १०२-१०३

६—आशाधर कृत 'नित्य महोद्योत' (श्लोक १६) की श्रुतसागर कृत टीका मे लिखा है :—

"पंचमहाव्रतानि रात्रिभोजनवर्जनाभिधानाणुव्रतषष्ठानि प्रतिपादितानि भवन्तीति अर्थात्—५ महाव्रत और रात्रिभोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत मुनियो के होता है। देखो—'अभिषेक पाठ संग्रह, पृ० १२६।

७—वीरनंदि कृत 'आचारसार' (मुनियों का आचार ग्रन्थ) पृष्ठ ३५ मे पंच महाव्रतो के बाद लिखा है :—

व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥७०॥

अधिकार ५

अर्थ :—(मुनियो को) व्रतो की रक्षा के लिए रात्रि मे सब प्रकार से भोजन का त्याग करना चाहिये इसे रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत कहा है ।

इन सब प्रमाणो मे खास तौर से मुनियो के भी छठा अणुव्रत बताया है किन्तु मुनियो के साथ अणुव्रत शब्द की सगति किसी तरह बैठती नहीं इस पर मैने एक शंका 'जैन संदेश' साप्ताहिक मे समाधानार्थ भेजी थी जिसका समाधान भाग २१ अंक १६ पृ० ६ पर प्रकाशित हुआ है किन्तु उसमे शका का कुछ भी समाधान नही हुआ ।—अस्तु

दूसरे भी कुछ विद्वानो के साथ मैने इस पर ऊहापोह किया परन्तु किसी से कुछ भी समाधान प्राप्त नही हुआ । एक रोज मैं आशाधर कृत सटीक अनगार धर्मामृत देख रहा था यकायक उसमे मुझे इसका सुन्दर और युक्ति-युक्त समाधान मिल गया आज उसे विज्ञ पाठको के लिए नीचे प्रकट किया जाता है :—

अनगार धर्मामृत (पृष्ठ ३०३) अध्याय ४ श्लोक १५० मे—रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत को पंच महाव्रत का प्रधान बताते हुए 'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि' पद की टीका मे लिखा है :—

"नक्तं रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झा वर्जनम् । सैवाणुव्रतं तस्याश्चाणुव्रतत्वं रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकालं तत्प्रवृत्तिसंभवात् ।"

अर्थात्—"रात्रि मे चारो प्रकार के आहार का त्याग करना (छठा) अणुव्रत है । उसे अणुव्रत इसलिए कहा है कि रात्रि मे ही भोजन का त्याग बताया है दिन मे तो यथा समय भोजन करने की छूट है" । अतः आहार

का त्याग सिर्फ रात्रि मे ही होने से यह काल की अपेक्षा अणु = लघुव्रत है। अगर सदा के लिए रात और दिन के आहार का त्याग बता दिया जाता तो यह व्रत भी अन्य ५ व्रतो की तरह व्यापक हो जाता 'अणु' नहीं रहता किंतु धर्म के साधनभूत इस शरीर को चलाने के लिए भोजन की जरूरत होती है उसका सर्वथा त्याग शक्य नही और भोजन दिन मे ही निरवद्य सभव है रात्रि मे नही अत. दिन की छूट दी गई है और रात्रि का सर्वथा त्याग कराया गया है। इस तरह 'रात्रि भोजन त्याग' मे रात्रि शब्द इसके काल कृत अणुत्व को सूचित करता है। यह अणु = लघु व्रत गृहस्थों के एकदेश त्याग रूप से और मुनियो के सर्वदेश त्याग रूप से होता है। दोनों के लिए इसका उल्लेख ग्रन्थों मे 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है।

पं० आशाधर ने भगवती आराधना की अपनी मूलाराधना दर्पण नाम की टीका मे भी इस छठे अणुव्रत पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :- देखो—आश्वास ६ गाथा ११८५—८६ पृष्ठ ११७६

"ततो महाव्रतसंपूर्णतामिच्छन्रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतमनुतिष्ठे-देव। अणुव्रतत्वं चास्य दिवाभोजनस्यापि करणात्। यदाहु :—छठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणमिति।,,

अर्थ :—महाव्रता की सम्पूर्णता चाहनेवाले (मुनियो) को रात्रि-भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत पालन करना ही चाहिए। इस व्रत की 'अणु' संज्ञा दिन मे भोजन करने की अपेक्षा से है। और त्याग सिर्फ रात्रि भोजन का ही है इस कालिक अपूर्णता की दृष्टि से यह अणु = लघु व्रत है।

यह छठे अणुव्रत का रहस्य है। इस रहस्य को नही समझने से अच्छे-अच्छे पंडितो ने इस विषय मे अनेक गलत असंगत और भ्रात कथन किए है जिनके कुछ उदाहरण मय समीक्षा के नीचे प्रस्तुत किए जाते है :—

१—पं० लालारामजी ने वीर संवत् २४६२ में 'आचार सार' की

हिन्दी टीका में उसके निम्नांकित श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है :—

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्ननिवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥

अ० ५—७०

अर्थ :—"इन व्रतो की रक्षा के लिए रात्रिभोजन त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए । रात्रिभोजन का त्याग करने से व्रतो की रक्षा होती है इसीलिए रात्रि मे अन्न का सर्वथा त्याग करने को गृहस्थो के लिए छठा अणुव्रत कहा है ।"

समीक्षा :—यह मुनियों का आचार ग्रंथ है इसमे गृहस्थो का अणुव्रत बताना साफ गलत है इसके सिवा उक्त श्लोक के पहिले, ग्रंथ में पंच समितियों का कथन है फिर बीच मे ही गृहस्थों के छठे अणुव्रत का कथन बताना भी स्पष्ट असंगत है । इसीतरह चार प्रकार के आहारो में से सिर्फ 'अन्न' आहार का त्याग बताना भी भ्रात है यहाँ 'अन्न' का अर्थ भोजन (आहार) सामान्य से है और 'सर्वथा' शब्द मुनियों के लिए नव कोटि से त्याग करने के अर्थ मे दिया गया है अर्थात् यह सारा कथन मुनियो के लिए बताया है गृहस्थो का यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है । इसके लिए ऊपर प्रमाण नं० ७ देखिए ।

२—विक्रम सं० १९८५ मे पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत 'जैनाचार्यों का शासन भेद' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ट्रेक्ट प्रकाशित हुआ है उसमे पृष्ठ २१ से ४१ तक रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय मे काफी ऊहापोह किया है[1] परन्तु इस व्रत के 'अणु' शब्द को मात्र गृहस्थो का समझ लेने से सारा विवेचन अनेक भूल-भ्रांतियो व आपत्तियो से भरा हुआ है और कुछ मान्य ग्रन्थकारो पर अन्यथा—दोषारो-

१. इसके बाद वि० सं० १९८७ मे 'अनेकांत, वर्ष १ पृ० ३२७-३२८ मे परिशिष्ट रूप से इस पर कुछ थोड़ा और विचार किया है ।

पण को लिये हुए है। मूल मे ही भूल होने से यह सारा प्रकरण आमूल-चूल सदोष है जिसको नीचे संक्षेप मे कुछ समीक्षा की जाती है।

मुख्तार सा०—"गृहस्थो का व्रत एक देशत्याग से अणुव्रत और मुनियों का व्रत सर्व देशत्याग से महाव्रत कहलाता है। गृहस्थो के पाँच अणुव्रत होते हैं। किन्तु कुछ आचार्यों ने रात्रिभोजन विरति नाम का छठा अणुव्रत भी उनके बताया है जैसा कि निम्नांकित प्रमाणों से प्रकट है :—

(ख)—व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तेस्तत्प्रोक्त षष्ठमणुव्रत्तम्॥
५—७०॥ 'आचारसार'

यह विक्रम की १२वीं शती के आचार्य वीरनंदि के वाक्य है इसमें कहा गया है कि (मुनि को) अहिंसादिक व्रतो की रक्षा के लिए सर्वथा रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और अन्न की निवृत्ति से वह रात्रि-भोजन का त्याग छठा अणुव्रत कहा जाता है;।

चारित्रसार मे चामुंडराय ने श्रावक के रात्रिभोजनत्याग मे चारो प्रकार के आहार का त्याग माना है उसी तरह अगर यहाँ 'अन्न' पद को उपलक्षण मानकर उससे चारों प्रकार के आहार का त्याग लिया जाय तो इस विषय मे, फिर व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियो के त्याग मे कोई अन्तर नही रहेगा। दोनो का त्याग एक ही कोटि का हो जायगा यह खटकने की बात है।

समीक्षा—विक्रम सं० १९७४ मे माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई से प्रकाशित आचारसार के पृ० ३५ पर तथा वीर सं० २४६२ में लालाराम-जी कृत हिन्दी टीकावाले आचारसार पृ० १२१ पर उक्त श्लोक नं ७० मे 'निवृत्ति' पाठ दिया हुआ है किन्तु मुख्तार सा० ने उसकी जगह मन: कल्पित 'निवृत्ते' पाठ बनाकर उक्त श्लोक का अर्थ मुनि और श्रावक

दोनों के लिए अलग-अलग विभक्त कर दिया है—यह ठीक नहीं।[1] वीरनंदि आचारसार एकमात्र मुनियों का आचार ग्रंथ है उसमें कहीं भी श्रावकों के आचार का व्याख्यान नहीं है। जब श्रावकों के ५ अणुव्रतों का कोई नामोल्लेख तक वहाँ नहीं है तब श्रावकों के छठे अणुव्रत का कथन उसमें कैसे हो सकता है ? यह सोचने की बात है। अणुव्रत शब्द से उसे श्रावकों का ही व्रत समझ लिया गया है जो सबसे बड़ी भूल है जिसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में कर आये है उससे पाठक वास्तविक तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम कर सकते हैं।

व्रती श्रावक के रात्रि मे चारों प्रकार के आहार का त्याग आशाधर ने भी सागारधर्मामृत मे बताया है। आशाधर ने वह त्याग मन वचन काय इन तीन कोटि से ही[2] बताया है जब कि मुनियों के वह नवकोटि से होता है। यह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियों के रात्रिभोजन-त्याग मे खास अन्तर है अतः इस विषय में दोनों एक कोटि मे नही आ सकते। श्रावको के नवकोटि त्याग होने मे अनेक आपत्तियाँ है जिसका एक उदाहरण यह है कि—फिर व्रती स्त्रियाँ रात्रि मे शिशु को स्तनपान नहीं करा सकती इसलिए आशाधरादि ने उसे गृहस्थों के लिए तीन कोटि से ही विहित किया है। इस तरह व्रती श्रावको के रात्रिभोजन त्याग बताने मे कोई खटकने जैसी बात नहीं है वह समुचित ही है।

इसके सिवा अगर (गृह विरत या छठी प्रतिमाधारी) श्रावक और मुनि का रात्रिभोजनत्याग एक कोटि का भी मान लिया जाय तो कोई आपत्ति या बाधा जैसी बात नही है; क्योकि जब साधारण श्रावक

---

१. इस परिशिष्टांश पृष्ट ३२८ मे पाद टिप्पण मे भी "सर्वथान्ननिवृत्ते-स्तत्" पाठ रखा है यहाँ एक विशेषता और रख दी है 'सवर्थान्नान्' की जगह 'सर्वथान्न' समासपद रखा है।

२. अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥४-२४॥

तक का सम्यग्दर्शन और सातवी प्रतिमा वाले गृह विरत श्रावक का ब्रह्मचर्य मुनि के सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य के समकक्ष हो सकता है तो रात्रिभोजनत्याग के एक कोटि का होने मे क्या बाधा है ? अगर यह कहा जाय कि—सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य एक कोटि का होते भी मुनि के सयम की प्रकर्षता से उसमे तरतम भेद है तो यही बात रात्रिभोजन-त्याग के साथ भी लागू हो जायगी। इस तरह श्रावक और मुनि दोनो के लिए रात्रि मे चारो प्रकार के आहार का त्याग बताने मे कोई खटकने जैसी बात नही है और न इससे दोनो का अन्तर बाधित होता है।

मुख्तार सा०—

"पूज्यपाद और अकलक देवादि ने तत्त्वार्थ की अपनी-अपनी टीका मे रात्रिभोजन विरमण नाम के इस छट्ठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) का उल्लेख किया है और उसे अहिसा व्रत को आलोकित पान भोजन भावना मे अन्तर्भूत बताया है किन्तु रात्रिभोजन मे सकल्पी हिसा नही होने से अहिसाणुव्रत की प्रतिज्ञा मे रात्रिभोजन का त्याग नही आता तब उसकी भावना म ही उसका समावेश कैसे हो सकता है ? अत. यह एक पृथक् व्रत जान पडता है और उक्त आलोकित पान भोजन नाम की भावना मे इसका अन्तर्भाव नही होता। हा महाव्रतियो की दृष्टि से आलोकित पान भोजन नाम की भावना मे रात्रि भोजनत्याग का समावेश जरूर हो सकता है इसी दृष्टि से पूज्यपाद, अकलक देव ने उसका समावेश किया है किन्तु ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि अहिसाणुव्रत के स्वरूप पर नही पहुँची। उनके सामने अहिसा महाव्रत और मुनियो का चरित्र ही रहा है इसी से आलोकित पान भोजन के विषय मे जो राजवार्तिक मे विशेष विकल्प उठाये हैं वे सब मुनियो से ही सम्बन्ध रखते है जिन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि—मुनिधर्म को लक्ष्य करके ही रात्रिभोजन विरमण का आलोकितपान भोजन नाम

की भावना में अन्तर्भाव किया गया है श्रावक धर्म अथवा उक्त छठे अणुव्रत को लक्ष्य करके नही।

यहाँ मैं अपने पाठको पर इतना और प्रकट किये देता हूँ—श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवार्तिक मे इस रात्रिभोजन-त्याग को 'छठा अणुव्रत' नहीं कहा है किन्तु रात्रिभोजनविरति इस नाम से ही प्रतिपादन किया है और उसे उन्ही विकल्पो के साथ आलोकितपान भोजन भावना मे अन्तर्भूत किया हैं इसमे मालूम होता है कि—विद्यानन्द आचार्य की दृष्टि श्री पूज्यपाद और अकलक देव की उस सदोष उक्ति पर पहुँची है जिसके द्वारा उन्हीं उक्त छठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) को आलोकितपानभोजन भावना मे अन्तर्भूत किया था और इसलिए विद्यानन्द ने उसका उपर्युक्त प्रकार से संशोधन करके ('अणुव्रत' नाम न दे करके) कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को एक प्रकार से ठीक किया हैं वास्तव मे वार्तिककारो का काम भो प्राय. यही है। वे अपनी समझ और शक्ति के अनुसार दुरुक्तार्थो का सशोधन करते है।

समीक्षा :—पूज्यपाद और अकलकदेव ने किसी दुरुक्तार्थ का प्रतिपादन नही किया है न विद्यानन्द ने ही वैसे किसी दुरुक्तार्थ का संशोधन किया है। 'अणु' शब्द प्रयोग के रहस्य को नही समझने से मुख्तार सा० स्वय उलझ गये है और मान्य आचार्यों पर दोषारोपण कर बैठे हैं।

जिस तरह कोई लक्ष्मण को राम का छोटा भाई कहे और कोई राम का भाई ही कहे दोनो ठीक हैं उसी तरह पूज्यपाद और अकलंक देव ने रात्रिभोजनविरमण को छठा अणुव्रत कहा है और विद्यानन्द ने उसे व्रत (विरति) ही कहा है। पहला कथन विशेषात्मक है और दूसरा सामान्यात्मक। पहले कथन मे कोई दुरुक्तार्थता नहीं है अगर होती तो विद्यानन्द स्वय उसे प्रकट करते, परन्तु विद्यानन्द ने ऐसा कुछ नहीं किया है अतः दोनों कथनो मे कोई अन्तर नहीं है विवक्षामात्र है।

'अणु' शब्द से मुख्तार सा० ने उसे मात्र गृहस्थों का व्रत समझ

लिया है किन्तु अणु शब्द वहाँ कालकृत अल्पता से लघु—छोटे के अर्थ में प्रयुक्त है वह एक देशत्याग से श्रावकों और सर्व देशत्याग से मुनियों दोनों के होता है दोनों के लिए उसका उल्लेख 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है। इसी सामान्य दृष्टि से पूज्यपाद, अकलंक देवादि ने उसे आलोकितपानभोजन भावना मे अन्तर्भूत बताया है लेकिन आलोकितपान-भोजन का कथन अन्य व्रत भावनाओं की ही तरह मुनियो की प्रधानता से किया है किन्तु इससे श्रावक विवक्षा का निषेध नही किया है और इसी-लिए आलोकित पान भोजन भावना को अहिंसा व्रत की ही भावना बताई है अहिंसा महाव्रत की नही। इस तरह आलोकित पान भोजन भावना श्रावको के अहिंसाणुव्रत की भी भावना है और उसे श्रावको के रात्रि-भोजनविरति रूप मे मानने मे कोई बाधा नही है।

आशाधर ने सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक २४ तथा सोमदेव ने यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृ० ३३४ मे रात्रिभोजन त्याग को अहिंसाणुव्रत का रक्षक और मूलगुणो का विशुद्धक बताया है ऐसा ही यश.कीर्ति कृत प्रबोधसार अ० २ श्लोक ५१ मे लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि रात्रि-भोजन का त्याग किये बिना न तो अहिंसाणुव्रत बन सकता है और न मूलगुण ही, इसीलिए रात्रिभोजन को २२ अभक्ष्यो मे माना है और आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रंथ में श्रावक की ५३ क्रियाओ मे अनस्त-मित दिवाभोजन—'रात्रिभोजनत्याग' बताया है।

इसके सिवा उत्तरगुण—मूलगुणों के रक्षक होते है और आशाधर ने उत्तरगुणो मे अहिंसादि १३ व्रतो को और मूलगुणो मे रात्रिभोजनत्याग बताया है इस दृष्टि से अहिंसाणुव्रत उल्टा रात्रिभोजनत्याग का रक्षक हो जाता है यह सब कथन दोनो की एकात्मकला को सिद्ध करता है ऐसी हालत में अहिंसाणुव्रत और उसकी भावना मे रात्रिभोजनत्याग के अन्त-र्भाव का निषेध करना कोई अर्थ नही रखता। अहिंसा से रात्रिभोजनत्याग ही क्या सभी व्रत नियम अन्तर्भूत हो जाते हैं। आचार्यों ने ज ो अलग-अलग

१२ व्रत, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, मद्य-मांस-मधुत्याग आदि भेदों का उल्लेख किया है वह सब मंदबुद्धियों के लिए सरलता की दृष्टि से किया है।

ऐसी हालत में मुख्तार सा० का यह लिखना कि—'मुनियों की दृष्टि से ही रात्रिभोजनविरमण का आलोकितपानभोजन में अन्तर्भाव होता है श्रावको के वास्ते वह पृथक् व्रत बताया गया है, बिल्कुल बेजां है; रात्रिभोजनत्याग को पृथक् व्रत श्रावकों के लिए ही नहीं बताया है बल्कि मुनियो के लिए भी बताया है। देखो 'क्रिया कलाप' पृ० ८०, १०२ "आहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइ भोयणादो वेरमणम्"।

इसके सिवा यह कहना कि—'अहिंसाणुव्रत मे सिर्फ संकल्पी हिंसा का ही त्याग होता है और रात्रिभोजन मे कोई संकल्पी हिंसा नहीं होती अतः रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत मे नहीं आता, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है बल्कि भ्रान्त और सदोष है।

[1]संकल्पी हिंसा के त्यागी अहिंसाणुव्रती के—जीव मारने का परिणाम नहीं होता वह आरंभादि हिंसा बिना प्रयोजन नहीं करता, अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नही करता, जानबूझ कर हिंसा कर्म मे प्रवृत्त नहीं होता परन्तु रात्रिभोजी के यह सब होता है अतः उसके स्पष्टतः संकल्पी हिंसा का दोष आता है। रात्रिभोजन मे स्थावर और त्रसजीवों का प्रचुर घात और रागभाव की अधिकता होने से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की तीव्र हिंसा होती है इससे रात्रिभोजन महा हिंसा यज्ञ है इसका त्याग करना अहिंसाणुव्रत मे गर्भित नहीं होगा तो फिर क्या सत्य अचौर्याणुव्रतादि मे होगा ? यह सोचने की बात है। रात्रिभोजन और हिंसा का

---

१ समन्तभद्रका अहिंसाणुव्रत का जो लक्षण श्लोक दिया है उसमें भी संकल्पी हिंसा का त्याग मन, वचन, काय कृतकारित अनुमोदना नवो भंगों से बतायी है जिससे रात्रिभोजन स्पष्टतः संकल्पी हिंसा मे गर्भित होता है।

परस्पर अटूट सम्बन्ध है। रात्रिभोजन मे महाहिसा ही नही स्पष्टतया मास भक्षण का दोष भी आता है और उससे मूलगुणो का ही विधान हो जाता है अत अहिंसाणुव्रती के वह किसी तरह नही बन सकता 'अहिंसा-णुव्रती' सतोषी, सम्यग्दृष्टि, जाग्रतबुद्धि[1] होता है अत उसके रात्रिभोजन जैसी महा अयत्नाचार प्रवृत्ति और प्रचुर जीवो का होमकर्म कभी नहीं बन सकता। इसीलिए लिखा है —

अर्कालोकेन बिना भुंजान परिहरेत्कथ हिसाम्।
अपि बोधितप्रदीपो भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम्॥

अर्थ —भोजन करने वाले के, बिना सूर्य के प्रकाश के हिंसा का परिहार कैसे हो सकता है ? अर्थात् दीपक जला लेने पर भी रात्रिभोजी के सूक्ष्म जीवो की हिसा का निराकरण नही वन सकता।

शायद 'महाहिसा का त्याग महाव्रत मे और अल्पहिसा का त्याग अणुव्रत मे होना'—समझकर अहिंसाणुव्रत मे रात्रिभोजन का त्याग अस-भव बताया जाता हो तो यह भी ठीक नही है। महाव्रत मे तो लघु से लघु हिंसा का त्याग होता है और अणुव्रत मे महाहिसा का त्याग होता है अत रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत मे समाविष्ट हो जाता है अहिंसा-णुव्रत मे उसका समावेश किसी तरह असभव नही है।

इस तरह यह सक्षिप्त समीक्षा है। इस लेख का सार यह है कि रात्रिभोजन त्याग के[2] विकालाशनवर्जन, अनस्तमित, दिवाभोजन, छट्ठा अणुव्रत, आलोकितपानभोजन आदि अनेक नामान्तर है वैदिको मे जो सूर्य दर्शन करके भोजन करने का व्रत है। वह भी इसी का एक प्रकार है। यह रात्रि भोजनत्याग छठा अणुव्रत मुनि और श्रावक दोनो के

---

१. सागारधर्मामृत अध्याय ४ श्लोक १४। अमितगतिश्रावका-चार अध्याय ६२ श्लोक १७।

२. आदिपुराण पर्व २० श्लोक १६०।

होता है इसे 'अणुव्रत सिर्फ रात्रि में ही भोजन के त्याग की अपेक्षा से अर्थात् कालकृत लघुता की दृष्टि' से कहा है। इसका अन्तर्भाव अहिंसा-णुव्रत—आलोकितपानभोजन भावना मे हो जाता है। यह मुनि और श्रावक दोनों ही के अलग भी बताया है।

मेरा पाठकों से निवेदन है कि वे मुख्तार सा० के ट्रेक्ट के एतद् विषयक प्रकरण को आद्योपान्त पढें उन्हे मालूम हो जायगा कि—उक्त समीक्षा कितनी उपयोगी आवश्यक और समुचित है। इसी तरह की गलतियाँ इस विषय मे अनेक विद्वानो ने की है और करते जाते है। उनके प्रतीकार के लिए मैने आशाधर के इस रहस्योद्घाटन को प्रकट किया है किसी की व्यक्तिगत आलोचना या मानप्रतिष्ठा को गिराने की दृष्टि से नही।

मुख्तार सा० मेरे आदरणीय हैं। मै यह मानता हूँ कि उन जैसे युक्ति-युक्त और प्रामाणिक लिखने वाले जैन समाज मे बहुत कम है उन्होंने बहुत-सा साहित्य प्रणयन कर हमारे युगो के अज्ञानाधकार और अन्धश्रद्धा को मेटा है उन जैसे साहित्य तपस्वी पर समाज को गर्व है किन्तु "को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे" अर्थात् शास्त्र समुद्र अथाह है उसमे कौन नहीं चूकता।

●

'दर्शन' का अर्थ 'मिलना'

संस्कृत में दर्शनार्थक जितनी भी धातुएँ हैं, उनका अर्थ 'मिलना' भी होता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद्य पर दृष्टि दीजिए—

"रिक्तपाणिर्न पश्येत् राजानं देवतां गुरुम्"

यहाँ 'पश्येत्' क्रिया, जिसका अर्थ अगर 'देखें' किया जाय तो ठीक नहीं लगता और निर्दोष भी नही रहता है; उसकी जगह 'मिलें' अर्थ किया जाय तो ज्यादा अच्छा लगता है और निर्दोष भी रहता है। उपर्युक्त पूरे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

"खाली हाथ राजा, देवता और गुरु से नहीं मिले"। कोशों मे भी दर्शनार्थक धातुओ और शब्दों का अर्थ—"मिलना, साक्षात्कार, मुलाकात" भी दिया है।

अंग्रेजी मे भी दर्शनार्थक 'See' धातु का प्रयोग Visit, Meet = मिलना, भेंट करना के अर्थ मे भी पाया जाता है। यह तथ्य दृष्टि मे न होने से कुछ विद्वान् संपादकों—अनुवादको ने इस विषय मे गलतियाँ की है; उदाहरण के तौर पर उनके २-३ नमूने नीचे दिए जाते है—

१—षट्खंडागम धवला टीका पुस्तक १ पृष्ठ ७१ प्रस्तावना पृष्ठ १६, परिशिष्ट २७) मे लिखा है—

"जिणपालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासविसयं गदो"—

अर्थ—जिनपालित को देखकर अथवा देखने के लिए पुष्पदंत आचार्य वनवास देश गए।

समीक्षा—यहाँ दट्ठूण' का अर्थ जो 'देखकर' या 'देखने के लिए' किया है वह ठीक नही है। इसकी जगह 'मिलकर' या 'मिलने के लिए' करना चाहिए।

'देखने के लिए' अर्थ में यह भाव झलकता है कि—'जिनपालित' या तो कोई छोटे से शिशु थे या बीमार थे जिन्हे देखने के लिए पुष्पदंताचार्य वनवास देश गए। किन्तु दोनों बातें नहीं थी। अगर दोनों बातें हों भी तो किसी मुनि के लिए ऐसा करना उचित नहीं है, यह उसकी पदचर्या के विरुद्ध है। अतः 'दट्ठूण' का अर्थ 'देखने के लिए' करना समुचित नहीं है, उसका अर्थ 'मिलने के लिए' करना चाहिए। यह अर्थ फबता हुआ है और इससे अभिव्यक्ति भी ठीक होती है।

पुष्पदंताचार्य का जिनपालित से मिलने का उद्देश्य उन्हें दीक्षा देकर सिद्धातसूत्र पढाने का था, यह धवला टीका के उसी प्रकरण में आगे बताया है।

२—उपर्युक्त प्रकरण इंद्रनंदि कृत श्रुतावतार मे इस प्रकार है—

वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखम् ॥१३१॥
जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदंतनाम मुनिः।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वासौ भागिनेयं स्वम् ॥१३२॥
दत्वा दीक्षा तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्।
तस्थौ च भूतबलिरपि मधुराया द्रविडदेशेऽस्थात् ॥१३३॥

(तत्त्वानुशासनादिसंग्रह पृ० ८५)

'जैन सिद्धात भास्कर, भाग ३ किरण ४' मे पण्डितवर्य्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने धवलादि के आधार पर "श्रुतावतार कथा" लिखी है, उसके पृ० १३० पर मुख्तार सा० ने लिखा है—

"वर्षायोग को समाप्त करके तथा जिनपालित को देखकर पुष्पदंता-

चार्य तो वनवास देश को चले गए और भूतबलि भी द्रविड़ देशको प्रस्थान कर गये।

इन्द्रनदिश्रुतावतार मे जिनपालित को पुष्पदत का भानजा लिखा है और दक्षिण की ओर विहार करते हुए दोनो मुनियो के करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।"

समीक्षा—मुख्तार साहब ने भी जो 'देखकर' और 'देखने का' शब्द प्रयोग किया है वह ठीक नही है, उसकी जगह 'जिनपालित से मिलकर' और उससे 'मिलने का' शब्द प्रयोग होना चाहिए।

●

चमर

विद्वज्जनबोधक प्रथम खंड पृष्ठ ३७० पर लिखा है :—

प्रश्न—कोई पुरुष तो चमरी गौ के केशनि का चमर बनाते हैं और कहते हैं कि—आदिपुराण में लिखा है और कोई पुरुष निषेध करते हैं सो कैसे है ?

उत्तर—वहाँ (आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ५८ में) 'चमरुह' लिखा है तातें कहे है परन्तु इहाँ विचार करने का काम है कि वहाँ जो पदार्थ है सो सब स्वर्ग समुद्भव है तातें ये चमरी के केश वहाँ नहीं हैं जैसे नारायण के हस्त में शंख लिखे है सो शंख के आकार देवोपनीत उत्तम द्रव्य है ये हाड़ द्रव्य नही है तथा नारायण का नाम शार्ङ्गी है परन्तु वो धनुष देवोपनीत द्रव्य है सींग का नहीं है तातै यहाँ चमरी के केश के समान आकृतिमान चमर करना योग्य नहीं है क्योंकि केश तो अस्पृश्य द्रव्य है और इहा परम उत्तम द्रव्य का ग्रहण है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से भलीभाँति समझा जा सकता है कि अहिंसा प्रधान वीतराग जिनधर्म मे चंवरी के बालो का चमर किसी तरह ग्राह्य नहीं है—उसका देवाधिदेव अरहंत प्रभु की वैयावृत्य में उपयोग करना योग्य नही है।

तिस पर भी (विद्यावाचस्पति) पं० वर्धमान जी शास्त्री ने उसका समर्थन और प्रचार करने का बीड़ा उठाया है और जैनदर्शन के ३-४ अंको में इस विषय को लेकर उदयपुर चतुर्मास करनेवाले मुनिराजों को कोसते हुए युक्ति और शास्त्र से विरुद्ध यद्वातद्वा अनेक बातें लिख डाली हैं जिनका बहुत कुछ खंडन जैनगजट और जैनसंदेश आदि पत्रों में प्रका-

शित हो गया है। मैं भी इस विषय मे समीक्षा पूर्वक अपने कुछ विचार नीचे प्रस्तुत करता हूँ :—

१-अशोक वृक्ष, २-पुष्पवृष्टि, ३-दिव्यध्वनि, ४-चमर, ५-आसन, ६-भामंडल, ७-दुन्दुभि, ८-छत्र ये आठ प्रातिहार्य होते है। प्रतिष्ठा शास्त्रों में इनको प्रतिमाओ पर अंकित करना बताया है। तदनुसार दक्षिण आदि की कुछ प्रतिमाओं पर ये ८ प्रातिहार्य अंकित पाये जाते है। किन्ही पर थोडे बहुत कम भी पाये जाते है। इन प्रातिहार्यो में से छत्र, भामंडल, सिंहासन और चमर आदि प्रातिहार्य बहुत सी जगह प्रतिमाओं के साथ अलग भी होते है पर वर्धमान जी शास्त्री को इस बात का अत्यंताग्रह है कि ये प्रातिहार्य प्रतिमाओं के साथ पूरे आठ होने चाहिये और अलग से होने चाहिए तथा चमर खास चमरी गाय के बालो का होना चाहिए। गोटा किनारी आदि का बना चँमर 'चँमर' नही कहला सकता, परन्तु यह सब आग्रह उनका कदाग्रह मात्र है। जब भगवान् जिनेन्द्र की मूर्ति ही असल नहीं होती है वह ही प्रति-कृति नकलमात्र होती है तो अन्य चीजें कैसे वास्तविक हो सकती है? नकल भी जो की जाती है वह निर्दोष और अहिंसाप्रधान होती है तभी वह उपादेय और हितावह होती है, ऐसी हालत मे हिंसाजन्य चमरी गाय के बाल धर्मपद्धति मे कभी ग्राह्य नही हो सकते अतः उसी के आकार के जो गोटा किनारी आदि के चमर बनाये जाते है वे समुचित है। उनकी चमर सज्ञा उसी तरह है जिस तरह पत्थर की मूर्ति जिनेन्द्र भगवान् 'कहलाती है और शतरंज के मोहरे हाथी, घोड़ा, ऊँट, राजा, वजीर आदि कहलाते है अथवा सिंहों से उपलक्षित न होने पर भी सामान्य आसन 'सिंहासन' कहलाते है। नृत्यगान करनेवाले आज के साधारण मनुष्य "गन्धर्व" कहे जाते है।

जिस तरह एक दो चामरों का सकेत ६४ चामरो का परिचायक हो जाता है। उसी तरह देशामर्शक न्यायानुसार एक दो प्रातिहार्यों के

होने हुए भी मूर्ति अष्टप्रातिहार्य युक्त मानी जाने में कोई बाधा नहीं है।

यह कोई जरूरी नहीं है कि अलग से पूरे आठों प्रातिहार्य और वे भी वास्तविक हों ही। अगर ऐसा माना जायगा तो फिर आदिपुराण पर्व २३ मे वर्णित १ योजन लंबी शाखाओंवाला विशाल असली अशोक वृक्ष भी होना चाहिए, ओष्ठ तालु आदि के व्यापार से रहित दिव्यध्वनि भी होनी चाहिये, जिसमे भव्यों को अपने सात भव दिख जायें ऐसा वास्तविक भामंडल भी होना चाहिए, छत्र भी १-२ न होकर पूरे तीन होने चाहिए और फिर चँवर भी पूरे ६४ होने चाहिए एक भी कम नहीं। क्या इन सब के लिए पंडितजी तैयार है? चमरी के बालों का आग्रह करने वाले पं० वर्धमान जी को शब्दों का गुलाम न बनकर अभिप्राय, संगति व निर्दोषता की ओर भी कुछ ध्यान देना चाहिये।[1]

चामर-चमर की जगह आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ४८-४९ व ५६ मे 'प्रकीर्णक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है वहाँ पं० वर्धमान जी चमरी गाय के बालो का अर्थ कैसे निकालेंगे?

सही बात तो यह है कि—ये प्रातिहार्य देवोपनीत होते है, यह सब देवकृत माया और विक्रिया होती है। 'प्रातिहार्य' शब्द का अर्थ भी 'माया' होता है। आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ४९,५० और ५२ में चामरो को शुचि-पवित्र एवं निर्मल बताया है ऐसी हालत मे इन दिव्य-अलौकिक पवित्र चामरो की संगति लौकिक और हिंसाजन्य चमरी गाय के अपवित्र बालों से करना कितना असमीचीन है यह विज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते है।

---

[1] 'हरिवंशपुराण, सर्ग ५ श्लोक ३६४ मे अष्ट मंगल द्रव्यों के अन्तर्गत 'शंख' भी बताया है तो क्या पं० वर्धमान जी अष्ट मंगल द्रव्यों मे द्वीन्द्रिय जीवो का हाड रूप 'शंख' का उपयोग करेंगे? अगर नहीं तो फिर 'चमर' के साथ ही शब्दार्थ का आग्रह क्यो?

इसके सिवा पं० वर्धमान जी सा० ने चर्माच्छादित अपवित्र नगाड़ों और तबले आदि को दुन्दुभि प्रातिहार्य माना है पर न तो देव दुन्दुभियों को शास्त्रों मे कही चर्माच्छादित बताया है और न चर्माच्छादित अपवित्र वस्तुऐं जिनेन्द्र देव के प्रातिहार्य के योग्य ही हो सकती हैं।

समाज में कुछ ऐसे पंडितो का दल है जो गोबर जैसे अपवित्र पदार्थ को जिसमे सतत प्रचुर जीवो की उत्पत्ति होती रहती है जिनेन्द्रदेव की आरती मे ग्रहण करने का प्रतिपादन करता है परन्तु साथ मे रहस्य की बात यह है कि—यह दल स्वयं आरती मे गोबर को कभी ग्रहण नही करता ! इसी वर्ग के एक सदस्य श्रीयुत पं० वर्धमान जी शास्त्री है, आजकल वे चमरी गाय के बालो से निर्मित चमर का और चर्माच्छादित नगाडो का प्रचार व समर्थन करने पर तुले हुए है शायद आज के विचारक युग मे वे इन बातो से ही जिनशासन की प्रभावना और जिनवाणी का का अनुपम प्रचार समझते है। पर यह निश्चित समझिये कि—वे स्वयं कभी चमरो के बालो से निर्मित चमर का जिनेन्द्र देव के ऊपर ढोरने मे उपयोग करने वाले नही है। ऐसे लोगो का कार्य तो अपने अक्षरज्ञान से मनोरंजन करता मात्र होता है। खैर अपनी-अपनी रुचि और अपना-अपना तरीका है किन्तु विशेष दु.ख तो इस बात से होता है कि ये लोग अपनी मन कल्पित, प्रत्यक्ष सदोष दिखने वाली क्रियाओ को भी आगम-सम्मत बताते है और दूसरी तरफ सरल, सुलभ, पूर्वकाल से प्रचलित, प्रत्यक्ष ही निर्दोष दिखने वाली तथा निर्विवाद धार्मिक क्रियाओ—आचार पद्धतियो को भी आगम विरुद्ध बताने का प्रयत्न करते है।

●

उत्तम त्याग धर्म

"उत्तमक्षमामार्दवार्जव शौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्माः ।"

मोक्षशास्त्र के इस सूत्र मे दश धर्मों (लक्षणों) का कथन किया गया है। इससे हमारा पर्यूषण पर्व "दश लक्षण" पर्व कहलाया है। पर्यूषण के १० दिनो में प्रत्येक मुमुक्षु भव्य यथाशक्ति इन दश धर्मों का आराधन करता है। ८वाँ धर्म 'त्याग' है, नीचे उस पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—पाठक मनन कर जीवन में उतारने का प्रयत्न करें:—

त्याग का अर्थ छोड़ना है, त्याग बुरी वस्तु का किया जाता है, बुरी वस्तु परिग्रह से बढ़कर और कोई नहीं है सारे पाप इसमे समाविष्ट हैं। धन परिग्रह के लिए संसारी प्राणी अनेक प्रकार की हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, कुशील का सेवन करते है, इस तरह सभी पाप इस एक परिग्रह से संपन्न होते हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिककार के शब्दों में परिग्रह 'सर्वदोषप्रसवयोनि:'—सब दोषो का उत्पत्ति स्थान है और इसलिए महात्माओ ने कहा है कि—'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' अर्थात् प्रतिदिन अर्थ-धन की अनर्थता का चिंतन करो। शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव मे परिग्रह को "नि शेषानर्थमंदिरं" (संपूर्ण अनर्थों की जड़) कहा है।

अमरकोषकार ने भी परिग्रह के संचय को राक्षसी वृत्ति सूचित किया है, यह बात राक्षस-नामों मे दिये हुए 'पुण्यजन' (धनवान्) शब्द से स्पष्ट जानी जाती है और इसीलिए उन्होंने कुबेर को 'धनाधिप' के साथ-साथ 'यक्षराट्' और 'पुण्यजनेश्वर' (राक्षसेश्वर) आदि कहा है। कोशकारों ने 'कुबेर' का अर्थ कुबड़ा, कोढ़ी किया है तथा उसे 'एक पिंग' (पीली आँख वाला) 'गुह्यकेश्वर' (जिसका मुख छिपा हुआ

है 'या गुप्त काम करने वाला) 'नरवाहन' (मनुष्य से पशु की तरह काम लेनेवाला) 'वै-श्रवण' (बहरा; किसी की न सुनने वाला) स । द (कोढी) और 'पिशाच-की' आदि बताया है, इससे परिग्रह-धारियोंका वीभत्स रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

पाप पाँच माने गए हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह; इनमे हिंसा करनेवाले को 'हिंसक', झूठ बोलनेवाले को 'झूठा', चोरी करनेवाले को 'चोर' और कुशील सेवन करनेवाले को 'व्यभिचारी' कहा जाता है। समाज भी इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है और शासन भी इन्हे यथा अपराध दण्ड देता है, पर हम देखते है कि 'परिग्रही' को न बुरा कहा जाता है, न समाज ही घृणा की दृष्टि से देखता है और न राज्य-शासन ही उसे दंडित करता है उल्टा परिग्रही धनवान को भाग्यशाली और पुण्यात्मा कहा जाता है, "द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः" (मोक्षशास्त्र अ० ५ सूत्र ४१ का व्यंग्यार्थ) जिनके पास धन होता है वे गुणहीन होने पर भी गुणी कहलाते है, कैसी विडंबना है। सच है धन ने बुद्धि को भी कैद कर लिया है, पर इससे परिग्रह पाप की कोटि से नहीं निकल जाता है वह पाप ही नही वास्तव में महापाप है चाहे हम उसकी चकाचौंध मे फँसकर उसकी बुराइयो से आँखें मूँदे रहे पर किंपाक फल की तरह आखिर उसका परिणाम महा अनिष्टकारी ही होता है। हम जो संसार रूपी कीचड़ मे बुरी तरह अनादिकाल से फँसे हुए है वह कीचड़ और कोई नही यह परिग्रह ही है अतः हम परिग्रह को ही संसार कहे तो कोई अत्युक्ति नही। इस परिग्रह-पिशाच के ही वशीभूत हो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने का प्रयत्न करता है, महा विनाशकारी शस्त्रास्त्रो का निर्माण किया जाता है। परिग्रह, संग्रह ही के कारण देश मे भूखमरी, ब्लेकमार्केट, अनाचार और अशान्ति फैलती है। परिग्रह सब तरह से महा-दु.खकारी है उसके अर्जन मे दु:ख, रक्षण मे दु.ख और उसके गमन मे दु.ख फिर भी गहरे मोह और मिथ्यात्वकी वजहसे यह प्राणी उसके पीछे पागल हो रहा है।

शास्त्रकारो ने परिग्रह के तीन भेद किये हैं—चेतन, अचेतन और चेतना-चेतन (मिश्र)। कुटुम्ब, नौकर, पशु-पक्षी आदि चेतन परिग्रह हैं, धन धान्यादि उपभोग परिभोग सामग्री अचेतन परिग्रह है और उपवन कूप जलाशयादि मिश्र परिग्रह है, उपर्युक्त सब परिग्रहो को बाह्य परिग्रह भी कहते है। मिथ्यात्व-राग-द्वेष-क्रोध मान माया लोभादि—आभ्यतर परिग्रह है इनको मिश्र परिग्रह भी कहते है। मुमुक्षु को इन सबका यथाशक्ति परिमाण और त्याग करना चाहिए। जिस तरह भी बने इस पाप के बोझ को हलका करने की ओर पूरा प्रयत्न-शील रहना चाहिए और भदन्त गुणभद्र की इस बात को कभी नही भूलना चाहिए कि—परिग्रही व्यक्ति की निश्चय से नीच गति होती है जैसे तराजू का भारी पलडा सदैव नीचे की ओर ही झुकता है।

प्रश्न—जिनके पास धन नही ऐसे दरिद्री मनुष्य तो परिग्रह पाप से मुक्त समझे जाने चाहिए ?

उत्तर—वे तब तक मुक्त नही है जब तक उनकी लालसायें परिग्रह के सचय मे सलग्न है, यह दूसरी बात है कि उन्हे मेहनत करने पर भी प्राप्त नही होता या वे अभी तक अपनी मजिले मकसद को पहुँच नही पाये है पर है वे उसी पथ के पथिक। इसलिए वस्तुत परिग्रही हैं! वास्तविक परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह ही है इसीलिए सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण—' मूर्च्छा परिग्रह '' दिया है जब तक बाह्य पदार्थो मे हमारा ममत्वभाव है हम पूरे परिग्रही है। इससे सिद्ध हो जाता है कि—धन के दरिद्री जब तक ममत्व लालसा के दरिद्री नही है वास्तव मे वे परिग्रही ही है! विना आभ्यन्तर त्याग किये बाह्य त्याग कोई कार्यकारी नही, आभ्यन्तर त्याग होने पर बाह्यत्याग तो स्वत सिद्ध है अगर हम ऐसा नही मानेंगे तो मुक्ति कभी सम्भव ही नही क्योकि लोक के एक-एक प्रदेश मे बाह्य पदार्थ भरे हुए है।

त्याग का दूसरा नाम दान भी है। आचार्यो ने श्रावक के दैनिक षट्कर्मों में 'दान' भी एक नित्य कर्म बताया है। दान चार प्रकार का है—आहार, औषध, शास्त्र और अभय। प्रतिदिन हमे कुछ न कुछ दान करके अपने पापरूपी कर्ज और भार को हलका करना चाहिए।

मूर्खो न हि ददात्यर्थं नरो दारिद्रशंकया।
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्रशकया॥

मूर्ख आदमी दरिद्र हो जाने की शंका से दान नहीं करता किन्तु बुद्धिमान दरिद्र हो जाने की शंका से दान करता है। 'दरिद्र हो जाने का भय, दोनों को है पर दोनो की भावनाओ में रात-दिन का अन्तर है—मूर्ख तो मूर्खतावश सोचता है कि—दान करूँगा तो निर्धन हो जाऊँगा, जब कि बुद्धिमान यह सोचता है कि—अभी तो धन है खूब दान कर लेना चाहिए न जाने कब दरिद्री हो जाऊँ फिर दान करना ही मुश्किल हो जायगा। दोनो की भावनाओ मे जो अन्तर है समझदारो को उसे अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।[1]

हम लोगों ने कुछ ऐसी परम्परा स्वीकार कर ली है कि—न्याय या अन्याय जैसे भी बने वैसे पहले तो धन का खूब उपार्जन करना और फिर उसमे से कुछ दान कर दानी और धर्मात्मा कहलाना; पर यह कोई ठीक रीति नही है यह तो एक तरह का द्राविडी प्राणायाम है अगर हम न्याय नीति से आवश्यकता के अनुसार ही धनोपार्जन करें तो दान का सवाल ही उत्पन्न न हो—न तो फिर लेनेवाला ही मिले और न हमारे पास देने

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ सूत्र अन्तिम—"विघ्नकरणमन्तरायस्य" की टीका राजवार्तिक मे लिखा है–द्रव्य का नही देना, और उसके नही देने का समर्थन करना दोनों ही अन्तराय कर्म के आश्रव है। श्लोकवार्तिक मे लिखा है–प्रभूत दान देने वाले को कम दान देने का (द्रव्यापरित्याग) उपदेशादि करना भी अन्तराय का आश्रव है।

जितना ही हो—स्वत ही साम्यवाद उपस्थित हो जाय और हमारा जीवन भी काफी निराकुल शान्तिपूर्ण बन जाय। इस विषय मे अन्य अगर कोई गलती करे तो उसकी गलती मानी जा सकती है पर निर्ग्रंथ महावीर के अनुयायी कहलाने वाले हम भी अगर यह गलती करें तो शोचनीय हो जाता है, हमें वीर के उपदेशो की रोशनी मे एक बार अपना अन्त परीक्षण करके देखना चाहिए कि हम किधर जा रहे है।

वस्तुत परिग्रह का त्याग कोई दान या धर्म नही है वह तो पाप का प्रायश्चित्त भर ही है फिर भी कुछ सज्जन इस स्वभाव के है कि दान में रुपये तो बोल जाते है पर उन्हे देना नही चाहते या बिलम्ब से देते है; अनेक प्रकार की आना-कानी करते हैं, अनेक अडगे उपस्थित करते है बेजा शर्तें लगाते है—एक तरह से यह सब न देने की ही कोटि में आ जाता है इसकी ओर दानी कहलाने वालो को ध्यान देना चाहिए। दान देने मे जब किसी की कोई दाव-धौंस नही है वह अपनी स्वेच्छा से दिया जाता है तब फिर यह अडगा क्यो ? और क्यो दानी महानुभाव त्याग की हुई वस्तु से चिपटे रहना चाहते है ? उन्हे तो चाहिए कि दान की हुई राशि को शीघ्र दे दें। अगर कोई महानुभाव वास्तव मे कुछ देना ही नही चाहते है तो वे मुफ्त मे दानी कहलाने की अपनी यशोलिप्सा पर काबू करके दान मे कुछ नही बोलें तो अच्छा रहे ताकि दूसरे भाइयो मे जो उनकी वजह से गलत परम्परा पडती है वह न पडे।

प्रश्न—जिनके पास धन न हो वे कैसे दान करें ?

उत्तर—जिनके पास धन न हो किन्तु ज्ञान हो वे अपने ज्ञानरूपी धन का दान कर सकते है, उत्तमोत्तम ग्रन्थो का अनुवाद, सम्पादन, प्रकाशन करना, शास्त्र-प्रवचन करना, सन्मार्ग-प्रदर्शक और उद्बोधक लेखादि का लिखना जिससे मिथ्यात्व, शिथिलाचार तथा कुरीतियोका नाश होकर जिनशासन की वास्तविक प्रभावना हो यह सब उत्तम ज्ञानदान है। धन का दान तो परवस्तु (परिग्रह) का दान है उससे गाँठ का जाता ही क्या

है ? उल्टा उसका त्याग करके तो पाप का बोझ हलका किया जाता है वह तो एक तरह से उधार का भुगतान मात्र है। किन्तु ज्ञानदान स्ववस्तु (स्वग्रह) का दान है क्योकि 'ज्ञान' आत्माका अपना गुण है इसलिए ऐसा दान वास्तविक दान है--इस दान मे अपना कुछ जाता हो ऐसी बात भी नही है जिस तरह एक दीपक की लौ अनेक दीपको को प्रज्वलित कर देती है और उसका कुछ नही जाता उसी तरह ज्ञानदान है। परमार्थ से सोचें तो ज्ञानी किसी को कुछ देता-लेता नही है यह तो दूसरो का अज्ञानाधकार दूर कर उनकी वस्तु उन्हें सुझा देता है यह एक प्रकार का उत्कृष्ट परोपकार है फिर चाहे हम त्याग कहे, चाहे दान।

प्रश्न—जिनके पास धन और ज्ञान दोनों न हो वे किस तरह दान करें ?

उत्तर—ऐसे व्यक्ति अपना तन और मन धर्म तथा धर्मात्माओकी सेवा मे लगाकर दानका श्रेय ले सकते है, और अपना जीवन सफल कर सकते हैं।

जैनो के धर्मायतनो मे प्राय बहुत पैसा है, भारत सरकार ने कुछ ऐसे कानून बनाये है और बना रही है कि अगर हमने धार्मिक-द्रव्य को शीघ्र किसी उचित कार्य मे नही लगाया तो वह फिर सब सरकार के कब्जे मे होगा अतः समय रहते धर्माधिकारियो को अपने प्रमाद और आपसी झगडो का त्याग कर इस ओर ध्यान देना चाहिए। परिग्रह-परिमाण जब श्रावक करता है तब मंदिरो के द्रव्य परिग्रह का परिमाण क्यो नही किया जाता ?।

किसी जमाने मे मन्दिरो का धन और उपकरणादि प्रभावना का का कारण समझा जाता था पर आज परिस्थितियाँ कुछ दूसरी ही हो गई है और लोगो के विचारो मे भी परिवर्तन हो गये है। सोचा जाय तो एक निर्ग्रन्थ के लिये ये सब ठाट-बाट किसी तरह शोभास्पद नही कहे जा सकते अत. हमारे मन्दिर वीतराग मूर्ति की ही तरह

पूर्ण वीतराग बने तो ज्यादा प्रभावक हों और मन्दिरों की धनराशि पर जो कभी-कभी कलह हो जाती है वह भी मिट जाये तथा जो आये दिन चोरी की वारदातें होती हैं वे भी न हो सकें। हमारे मन्दिर त्यागधर्मकी शिक्षा देनेवाले मूर्तिमान आदर्श होने चाहिए; सही मायने में तभी हम 'दिगम्बर' कहलाने के अधिकारी हैं।[1]

●

१. पहिले प्राचीन समय मे ८ प्रातिहार्य मूर्तियों पर ही उत्कीर्ण किये जाते थे पर बाद मे भट्टारकीय जमाने मे छत्र-चमर भामंडल, सिंहासन आदि अलग से सोने के बनाये जाने लगे। इस तरह हमने वीतरागी को पूरा सरागी बना दिया। यही कारण था कि बाद में मूर्त्तियों पर ये ८ प्रातिहार्य नही उत्कीर्ण किये जाने लगे क्योंकि जब बाहर से ये सब होने लगे तो मूर्त्ति मे अनावश्यक समझे गये। भगवान् को सोने की नालकी व सोने के रथ मे विराजमान करके निकालने की प्रथा भी भट्टारकों द्वारा ही चलाई गयी प्रतीत होती है। पूर्व समय में हम खासे वीतरागी थे जितना हम परिग्रह-धन से दूर रहे धन हमारे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। समय पाकर कुछ भाई उसके चक्कर में आ गये और इस तरह निर्ग्रन्थ जैनी काफी सग्रंथी हो गये।

धरणेन्द्र पद्मावती

प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे तीर्थंकरो के चौबीस यक्ष और चौबीस यक्षियो के नाम आते हैं। ये ही शासन देव-देवियाँ कहलाती हैं। इनमे से श्री पार्श्व-नाथ स्वामी के यक्षका नाम धरण और यक्षिणीका नाम पद्मा या पद्मावती लिखा मिलता है। ये ही वे धरमेन्द्र-पद्मावती माने जाते है जो नाग-नागिन के जीव थे, अग्नि मे जलते हुए जिनको कि भगवान् पार्श्वनाथ ने नमस्कार मन्त्र सुनाया था जिसके प्रभाव से वे धरणेन्द्र पद्मावती हुए थे। इस प्रकार की आम धारणा जैन समाज मे चली आ रही है। किन्तु इन धरणेन्द्र-पद्मावती को अगर हम पार्श्वनाथ की यक्ष-यक्षी मान लेते है तो नीचे लिखी शकायें उठती हैं।

धरणेन्द्र के विषय मे शकायें—

१—धरणेन्द्र तो भवनवासी देवनिकाय के अन्तर्गत नागकुमार जाति के देवो का इन्द्र माना गया है। उसे यक्ष कैसे कहा जा सकता है ?

२—चौबीस यक्षो मे कोई भी यक्ष ऐसा नही है जो किसी जाति के देवनिकायका इन्द्र हो। तब यह धरण यक्ष ही नागकुमारो का इन्द्र धर-णेन्द्र कैसे माना जा सकता है ?

३—इन शासन देव-देवियो की कथा-चरित्र किसी भी प्रामाणिक जैन आगम मे अभी तक देखने मे नही आया है कि किस वजह से ये शासन देव-देवियाँ मानी गयी हैं ? ऐसी सूरत मे धरणेन्द्र और उसकी देवी को पार्श्वनाथ स्वामी के शासन देव-देवी मानकर उनकी यह कथा पार्श्वनाथ-चरित्र मे बताना सन्देहजनक है। अर्थात् यह धरणेन्द्र और उसकी देवी पार्श्वनाथ की शासनदेव-देवी नही हैं।

४—त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्रथम भाग के पृष्ठ २६६ में तो पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम ही 'धरण' न लिखकर 'मातंग' लिखा है। इसके अलावा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने बनाये अभिधान चिन्तामणि कोश में पार्श्वनाथ के यक्षका नाम धरण न लिखकर पार्श्वयक्ष नाम लिखा है। यही नाम पूजासार दिगम्बर ग्रन्थ मे भी लिखा है। यदि वास्तव में धरणेन्द्र ही पार्श्वनाथ का यक्ष होता तो ये नाम वेद शास्त्रों में नहीं पाये जाते। अतः धरण और धरणेन्द्र दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं।

पद्मावती के विषय में विचार—

प्राचीन जैन साहित्य मे तो धरणेन्द्र की कोई पद्मावती नाम की देवी हुई है ऐसा उल्लेख ही नहीं मिलता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार में धरणेन्द्र की अग्रदेवियों के कोई नाम ही नहीं मिलते हैं। हाँ असुरकुमारो के इन्द्र चमर और वैरोचन की अग्रदेवियों के पाँच-पाँच नाम जरूर मिलते हैं। उन नामो मे 'पद्मा' नाम की अग्रमहिषी वैरोचन के बताई है। धरणेन्द्र (नागकुमारों के इन्द्र) के नहीं बताई है।

हरिवंशपुराण सर्ग २२ श्लोक ५४, ५५, १०२ मे धरणेन्द्र की देवियों के नाम दिति अदिति लिखे हैं। पद्मावती नहीं लिखा है।

अकलंकाचार्य कृत राजवार्तिक मे धरणेन्द्र की अग्रदेवियोंकी छह संख्या बताई है पर उनके नाम नहीं लिखे हैं।

आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के पर्व ७३ श्लोक १४१ मे लिखा है कि—"नाग नागिनी मरकर नाग का जीव धरणेन्द्र और नागिनी का जीव उसकी पत्नी हुआ।" इतना ही लिखा है। यहाँ भी पत्नी का नाम नहीं लिखा है। भगवान् पार्श्वनाथ के उपसर्ग निवारण के लिये वे आये थे उस प्रसंग मे भी उत्तर पुराण में पद्मावती नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। यह भी नहीं कह सकते है कि संक्षिप्त कथन करने की वजह से पद्मावती का नाम नहीं लिखा गया है। क्योंकि इसी पर्वके अन्त में मंगल

रूप से अनेक पद्य लिखे गये है। उनमे भी उपसर्ग निवारण का जिक्र करते हुए आचार्य गुणभद्र ने तीन जगह "धरणेन्द्र को देवी" इतना मात्र ही लिखा है, मूलपाठ मे कही भी पद्मावती नाम नहीं लिखा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्य आचार्यों की तरह गुणभद्र की दृष्टि मे भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती नाम की नही थी। दूसरा नाम भी उन्होंने नहीं दिया इससे यही मालूम पड़ता है कि गुणभद्र की परम्परा मे धरणेन्द्र की देवियो के नाम विच्छेद हो चुके थे। यही कारण है जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार और राजवार्तिक मे धरणेन्द्रकी देवियो के नाम लिखे मिलते है।

आचार्य समंतभद्रकृत स्वयंभूस्तोत्र मे भी पार्श्वनाथ की स्तुति में 'धरण' का तो उल्लेख है पर पद्मावती का नही है।

और तो क्या श्वेताबराचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' के पार्श्वनाथ चरित्र मे भी नाग नागिनी का मरकर धरणेन्द्र और उसकी देवी होना तो लिखा हैं। पर देवी का नाम पद्मावती वहाँ भी नहीं लिखा है।

इन सब बातो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि—जब श्री पार्श्वनाथ स्वामीके धरण नाम के यक्ष को धरणेन्द्र करार दे दिया तो उन्हीं भगवान् की यक्षिणी पद्मावती को भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती बना दिया है। ऐसा करते हुए यह भी नही सोचा कि क्या प्रत्येक तीर्थंकरकी यक्ष-यक्षी का आपसमे दाम्पत्य सम्बन्ध है? इसलिये न तो धरण यक्ष धरणेन्द्र है और न पद्मावती यक्षिणी ही धरणेन्द्र की देवी पद्मावती है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि—धरणेन्द्र पद्मावती की यह कल्पना मूल संघ से भिन्न द्राविड़ादि संघ वालो ने की है। मल्लिषेण (भैरव पद्मावती कल्प के कर्ता) वादिराज (पार्श्वनाथ चरित के कर्ता) जो कि द्राविड़ संघी थे उन्होने ऐसा कथन किया है। सम्भव है उनकी गुरु परम्परा से भी ऐसा कथन चला आ रहा हो। इन्ही का अनुसरण बाद के कुछ ग्रंथकारों

ने भी किया है। द्राविड़ संघ के साधुओं की गणना मठपति साधुओं में की जाती है। ये साधु जागीरें रखते हैं। संघभेद होनेसे द्राविड़ संघ और मूलसंघ की मान्यताओं मे भी कहीं-कही फर्क रहता है। यही कारण है जो द्राविड़संघी वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित्र का कथन मूलसंघी गुणभद्र कृत उत्तर पुराण से कहीं-कहीं मिलता नहीं है। श्री पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला कमठ के जीव का नाम वादिराज ने भूतानन्द नामका असुर जाति का देव लिखा है। जबकि उत्तरपुराण मे संवर नामक ज्योतिषी देव लिखा है। भूतानन्द यह नाम भी त्रिलोकसारादि ग्रंथों में असुरों में न लिखकर नागकुमारो में लिखा है।

इस सारे ऊहापोह से यह प्रकट होता है कि—श्री पार्श्वनाथ स्वामी के जो यक्ष-यक्षिणी धरण और पद्मावती के नाम से कहे जाते हैं वे नाग नागिनी के जीव धरणेन्द्र और उसकी देवी से बिल्कुल भिन्न हैं। यानी यह धरणेन्द्र और उसकी देवी जो कि नाग-नागिनी के जीव थे पार्श्वनाथ भगवान् की शासन देव-देवी नहीं है। और जहाँ इनको पार्श्व-नाथ की शासन देव-देवी लिखा है वह अजीब मेल किया है वह कथन मूलसंघ का नहीं है।

●

वसुनंदि और उनका प्रतिष्ठासार-सग्रह

आचार्य वसुनंदि का बनाया एक प्रतिष्ठासार संग्रह नाम का ग्रन्थ है जो अभी तक मुद्रित नही हुआ है। और एक वसुनंदि श्रावकाचार नाम का ग्रन्थ भी वसुनंदिकृत है जो मुद्रित हो चुका है। इन दोनों ग्रन्थोंके कर्त्ता एक ही वसुनंदि हैं? या जुदे-जुदे है? प्रस्तुत लेख मे इसी पर विचार किया गया है।

पं० आशाधर ने वसुनंदिके श्रावकाचार का उल्लेख अपने बनाये ग्रन्थ में किया है अतः श्रावकाचार के कर्ता वसुनंदि आशाधर के पहले हुये हैं यह निर्विवाद है। किन्तु प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता वसुनंदि आशाधर के बाद हुये है इसलिये वे जुदे हैं। इसकी सिद्धि के लिये निम्नलिखित तीन हेतु हैं—

पं० आशाधर के बनाये प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रन्थ की प्रशस्ति मे लिखा है कि—

"आम्नायविच्छेदतमश्छिदेऽयं ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपः।"

अर्थ—"उन आशाधर ने यह प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ आम्नायविच्छेद रूप अंधकार को छेदने के लिए युगानुरूप बनाया है।"

इस कथन से ऐसा प्रकट होता है कि पं० आशाधर को ऐसा कोई प्राचीन प्रतिष्ठापाठ नही उपलब्ध हुआ जिसमे प्रतिष्ठा की विधि पूर्ण और सुव्यवस्थित हो। यह विषय उनको यत्रतत्र बिखरा हुआ संक्षिप्त संकेत-मात्र ही मिला है। जैसा कि वसुनन्दि श्रावकाचारमें यह विषय संकेत-मात्र लिखा मिलता है। इसीलिये आशाधर ने प्रतिष्ठा विधि का सिलसिला बनाये रखने की गरज से अपना प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ बनाकर उसमे इस विषय को नया रूप दिया है। यह बात प्रशस्तिगत श्लोकके 'युगानुरूप'

वाक्य से स्पष्ट ध्वनित होती है। जब हम वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार संग्रह को देखते हैं तो उसमें प्रतिष्ठा का कितना ही विषय सविस्तर पाते हैं, और प्रायः बहुत-सा कथन प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठासार संग्रह में इस कदर समान पाते है, कि जैसे वसुनन्दि और आशाधर दोनों मे से किसी एक ने दूसरे का अनुसरण किया हो। दोनों मे पूर्ववर्ती कौन ? और पर-वर्ती कौन ? यही बात देखने की है। "आशाधर ने वसुनन्दि का अनुसरण किया है" ऐसा इसलिए नहीं माना जा सकता कि—वसुनन्दि कृत सविस्तार ऐसा प्रतिष्ठासार संग्रह यदि आशाधर के पहिले होता तो आशाधर को न तो आम्नाय विच्छेद की चिन्ता होती और न युगानुरूप प्रतिष्ठा ग्रन्थ ही बनाने की आवश्यकता पड़ती। इससे यही सिद्ध होता है कि यह प्रतिष्ठासार संग्रह आशाधर के बाद की कृति है और उसके कर्ता वसुनन्दि ने आशाधर का अनुसरण किया है।

(२)

आशाधर ने अपने बनाये और २ ग्रन्थो मे तो क्या खास इसी विषय के प्रतिष्ठासारोद्धार तक मे भी कहीं वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार संग्रह का एक आध भी पद्य उक्तंच रूप से उद्धृत नही किया है। यह कभी नही हो सकता कि प्रतिष्ठासार संग्रह आशाधर के वक्त मौजूद होता और वे उसका अपने कथन की प्रामाणिकता के लिये कही उल्लेख नहीं करते। हाँ प्रतिष्ठासारोद्धार के प्रथम अध्याय के निम्न लिखित श्लोक में जरूर वसुनन्दि का जिक्र किया गया है—

जयाद्यष्टदलान्येके कर्णिकावलयाद्बहिः।
मन्यन्ते वसुनन्द्युक्तसूत्रज्ञैस्तदुपेक्ष्यते ॥१७५॥

अर्थ—कितने एक कमल की कर्णिका के बाहर के आठ पत्तों पर जयादि देवियोकी स्थापना मानते हैं। मगर वसुनन्दि प्रणीत सूत्रों के ज्ञाता वैसी स्थापना को नहीं स्वीकार करते है। सारे प्रतिष्ठासारोद्धार भर

में वसुनन्दिका सिर्फ यही एक उल्लेख है। इस उल्लेख मे भी जिस वसुनन्दि के लिए कहा गया है, वे प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता वसुनन्दि नहीं हो सकते हैं। क्योंकि प्रतिष्ठासार संग्रह के तीसरे परिच्छेद मे खुलासा तौर पर कर्णिका के बाहर के पत्रो पर जयादि देवियोंकी स्थापना लिखी है। यथा—

> चतुर्द्वारं चतुष्कोणं मध्ये पद्मं सकर्णिकम्।
> न्यसेत्पञ्च गुरूंस्तत्र शरणोत्तममंगलम्॥ १४॥
> अनादिसिद्धमन्त्रेण कर्णिकाया समर्चयेत्।
> दिग्विदिग्गतपत्रेषु जयाजम्भादिदेवताः॥ १५॥

अर्थ—चार द्वार वाला एक चौकोर मण्डल बनावे जिसके बीच मे कर्णिका सहित कमल की रचना करे। कर्णिका पर पंच परमेष्ठी और मंगलोत्तम शरण की स्थापना करके उसे अनादि सिद्ध मन्त्र से पूजे तथा कर्णिका के बाहर के दिशा-विदिशाओं के पत्रो पर जया, जंभादि देवियों की स्थापना करके पूजे।

इस कथन को देखते हुये आशाधर ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार मे जिन वसुनन्दि का उल्लेख किया है वे वसुनन्दि प्रतिष्ठासार संग्रहके निर्माता वसुनन्दि से कोई जुदे ही वसुनन्दि जान पड़ते है और सम्भवत वे श्रावकाचार के कर्त्ता ही मालूम होते हैं। क्योकि वसुनन्दि श्रावकाचार मे आठ दल वाले कमल की रचना बताते हुये कर्णिका मे अरिहन्त को, व दिशाओं के चार पत्तो वर शेष चार परमेष्ठियोको व विदिशाओ के चार पत्तों पर रत्नत्रय और तपको स्थापन करना लिखा है। देखो गाथा ४६७ और ४६८.

(३)

प्रतिष्ठासार संग्रह में प्रतिष्ठासारोद्धार के कई पद्य ज्योके त्यों पाये जाते है। इससे तो प्रतिष्ठासार संग्रह सहज ही आशाधर के बाद का बना सिद्ध

हो जाता है। पाठकों की जानकारी के लिए दोनों ग्रन्थों के कुछ समान पद्यों की तालिका हम यहाँ दे देना उचित समझते है—

प्रतिष्ठ सारोद्धार	प्रतिष्ठासारसंग्रह
अध्याय १ श्लो. ५५ से ५८	परिच्छेद ३ श्लो. ८२ से ८५
,, श्लो. ६६ से ७४॥	परिच्छेद ५ श्लो. २ से १०
,, श्लो. ४२ से ४८	,, ६ श्लो.१३७से १४३
अध्याय ५ श्लो. ३८ से ४२	,, श्लो. १२९ से १३४
,, श्लो. ५० से ५३	,, श्लो. १४४ से १४७
,, श्लो. ६१ वाँ	,, श्लो. १४८ वाँ

इनके अलावा यत्र तत्र कुछ खण्ड पद्य भी समानरूप से मिलते हैं। कुछ पद्य शब्दो की उलट-पलट करके व बदल करके बनाये हुये भी दृष्टिगोचर होते है। अगर प्रतिष्ठासार संग्रह आशाधर के पहिले का होता तो आशाधर के रचे पद्य प्रतिष्ठासार संग्रह मे कैसे स्थान पा सकते थे? यों कहना कि "आशाधर ने ही प्रतिष्ठासार संग्रह से ये उद्धृत किये है।" दिलमे बैठता नहीं है। आशाधर जैसे महा विद्वान् दूसरे की कृति को अपनी बनाकर प्रकट करे यह सम्भव नही है। वे प्रतिष्ठासार संग्रह के श्लोकों को लेते तो उक्तं च लिख करके ही ले सकते थे ऐसा कोई भी उनकी अन्य रचनाशैली को देखने वाला नि:संकोच कह सकता है।

बस ये ही तीन हेतु ऐसे हैं जिनसे प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता वसुनन्दि, श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दि से भिन्न और आशाधर के बाद मे हुए सिद्ध होते है।

मै यहाँ यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि—"जयसेन प्रतिष्ठापाठ" को छोड़कर बाकी सभी प्रतिष्ठापाठ मुद्रित या अमुद्रित जितने भी दि० जैन समाज में वर्तमान में उपलब्ध हुये है उन सबकी रचना प्राय: आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठको आधार मानकर की गयी है। और पं०

आशाधरजी ने अपना प्रतिष्ठापाठ अपने जमाने के माफिक लिखा है ऐसा वे खुद प्रशस्ति मे प्रकट करते हैं। ऐसी अवस्था में विद्वानों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे इस बात की खोज करें कि–आशाधर के पहिले प्रतिष्ठा विधि की रूपरेखा कैसी रही है? इसके लिए किसी ऐसे प्रतिष्ठा-पाठ का पता लगाना चाहिये जो आशाधर के पहिले का हो।

●

प्रतिष्ठाशास्त्र और शासनदेव

हमे अब तक के अन्वेषण से पता लगा है कि दिगम्बर सम्प्रदाय मे जिन्होने प्रतिष्ठाशास्त्रो का निर्माण किया है उनके नाम ये हैं—आशाधर, हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, अर्यपार्य, वामदेव, ब्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र और अकलक। एकसन्धि और पूजासार के कर्ता तथा सोमसेन आदिको के बनाये त्रिवर्णाचार व सहिताग्रन्थो में भी प्रतिष्ठासम्बन्धी कुछ प्रकरण पाये जाते है। इन सब मे प० आशाधरजी ही सबसे प्रथम हुए है अन्य सब उनके बाद के है। वसुनन्दिकृत सस्कृत प्रतिष्ठासारसग्रह के विषय मे धारणा थी कि यह आशाधर के पहिले का ग्रन्थ है। यह धारणा गलत है। इस सम्बन्ध मे हमारा एक लेख "वसुनन्दि और उनका प्रतिष्ठासार-सग्रह" शीर्षक से इसी ग्रन्थ मे देखिये जिसमे इसे आशाधर के बाद का सिद्ध किया गया है।

इन सब प्रतिष्ठाशास्त्रो मे से सिर्फ आशाधरकृत और नेमिचन्द्रकृत दो प्रतिष्ठाशास्त्र ही मुद्रित हुए है। अन्य सब हाल भण्डारो की शोभा बढा रहे है। जयसेनकृत प्रतिष्ठाशास्त्र जिसे वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ भी कहते हैं यह भी मुद्रित हो चुका है किन्तु इसे कुछ लोग आधुनिक और अप्रमाण मानते है, चूँकि इसके कई विषय ऊपर-लिखित सभी प्रतिष्ठापाठो से मेल नही खाते है इसलिए हमने भी इसे प्रस्तुत चर्चा से अलग कर दिया है। आशाधरप्रतिष्ठाशास्त्र की रचना वि० स० १२८५ मे और नेमिचन्द्र प्रतिष्ठाशास्त्र की १६वी शताब्दी मे हुई है। ये नेमिचन्द्र ब्रह्मसूरि के भानजे लगते थे और विद्वान् श्रावक थे। इन्होने अपने प्रतिष्ठाशास्त्र का बहुत सा विषय आशाधर के प्रतिष्ठाशास्त्र के आधार पर लिखा है यह बात दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही प्रकट हो जाती है। अन्य

प्रतिष्ठाशास्त्रों की जानकारी उनके प्रकाशित न होने से हमें न हो सकी है। तथापि हमारा अनुमान है कि उनमें भी बहुत करके आशाधरका ही अनुसरण किया गया होगा। हस्तलिखित वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासार-संग्रह हमारे देखने मे आया है, उसमे बहुत कुछ आशाधर का अनुसरण ही नही किया है किन्तु कितने ही पद्य आशाधर के ज्यो के त्यों भी अपना लिये हैं। अब सवाल उठता है कि ये सब प्रतिष्ठाशास्त्र यदि आशाधर के बाद के है तो आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र किस आधार पर रचा है ? उनके पहिले का भी कोई प्रतिष्ठाग्रन्थ होना चाहिए। इस विषय मे जहाँ तक हमने खोज की है हम यह कह सकते है कि—१२वी सदी में होने वाले एक दूसरे वसुनन्दि जिन्होंने कि प्राकृत में 'उपासकाध्ययन' ग्रन्थ रचा है जिसका प्रचलित नाम 'वसुनन्दिश्रावकाचार' है। इस श्रावकाचार मे प्रतिष्ठाविषयक एक प्रकरण है। इसमे करीब ६० गाथाओ मे कारापक, इन्द्र, प्रतिमा, प्रतिष्ठाविधि और प्रतिष्ठाफल इन पाँच अधिकारो से प्रतिष्ठा सम्बन्धी वर्णन किया है। आकरशुद्धि, गुणारोपण, मन्त्रन्यास, तिलकदान, मुखवस्त्र और नेत्रोन्मीलन आदि कई मुख्य मुख्य विषयो पर इसमे विवेचना की है। इसी को आधार बनाकर और शासनदेवोपासना आदि कुछ नई बातें मिलाकर पं० आशाधर जी ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र बनाया है। सागारधर्मामृत मे भी आशाधर जी ने वसुनन्दिश्रावकाचार का बहुत कुछ उपयोग किया है। कुछ लोग समझते है कि—संस्कृतप्रतिष्ठासारसंग्रह के कर्ता भी ये ही वसुनन्दि है; ऐसा समझना भूल है। इन्होने अगर संस्कृत का प्रतिष्ठाग्रन्थ जुदा ही बनाया होता तो ये फिर यहाँ साठ गाथाओं मे प्रतिष्ठा का दुबारा कथन क्यों करते ?

वसुनन्दिश्रावकाचार मे आये प्रतिष्ठाविधि प्रकरण की एक खास विशेषता हमारी नजर मे यह आई है कि इसमे किसी शासनदेव-देवी की उपासना का कहीं भी जिक्र नही है। यहाँ तक कि इसमे दिग्पाल

आदिकों के नाम तक नहीं है। वसुनन्दि की इस प्रणाली का स्वयं आशाधर ने भी उल्लेख किया है। यथा—

जयाद्यष्टदलान्येके कर्णिकावलयाद्बहिः।
मन्यन्ते वसुनंद्युक्त सूत्रज्ञैस्तदुपेक्षते ॥१७५॥

(प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय १)

अर्थ—कमल की कर्णिका के बाहर के आठ पत्तो पर जयादिदेवियों की जो कितने एक स्थापना मानते है। उसको वसुनन्दिप्रणीतसूत्र के ज्ञाताजन उपेक्षा करते है।

आगे हम पाठको का ध्यान वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रतिष्ठाविधि प्रकरण की निम्नगाथा पर ले जाते हैं—

आहरण वासियहि
सुभूसियंगो सगं सबुद्धीए।
सक्कोहमिइ वियप्पिय
विसेज्ज जागावणि इंदो ॥४०४॥

इसमें लिखा है कि—आभरण व सुगन्धि से भूषित हो, अपने आप को अपनी बुद्धि मे 'मै इन्द्र हूँ' ऐसा संकल्प करके वह इन्द्र यज्ञभूमि में प्रवेश करे।

इसी के अनुसार आशाधर ने भी अपने प्रतिष्ठाग्रन्थ में इन्द्रप्रतिष्ठा-विधि का वर्णन करते हुए मुख्य पूजक मे सौधर्मेन्द्र की स्थापना करना लिखा है। वसुनन्दि और आशाधर दोनों का कथन समान होते भी हमें आशाधर का कथन बेतुका जँचता है। वह इस तरह कि जब जिनयज्ञ के मुख्य पूजक को सौधर्मेन्द्र मान लिया गया तो वह यागमंडल मे अपने से निम्न श्रेणी के देवों की स्थापना कर और ३२ इन्द्रो मे अपनी खुद की भी स्थापना करके उनकी पूजा कैसे कर सकता है? इसलिए आशाधर का यागमंडल की रचना मे पंचपरमेष्ठी के अलावा दूसरे कई देव-देवियों

की स्थापना कर उनकी पूजा सौधर्मेन्द्र से कराना असङ्गत-सा प्रतीत होता है और इन्द्रप्रतिष्ठा का विधान निरर्थक-सा होकर एक तरह का मखौल-सा हो जाता है। जबकि वसुनन्दि के कथन मे ऐसी कोई आपत्ति ही खडी नहीं होती है। चूँकि उन्होने प्रतिष्ठाविधि मे कही शासनदेव पूजा को स्थान ही नहीं दिया है।

भगवान् के पूजक को इन्द्र का स्थानापन्न बताया जाना ही यह सिद्ध करता है कि पूज्य का स्थान इन्द्र से भी ऊँचा होना चाहिए। और वे अर्हंतादि ही हो सकते हैं। न कि व्यन्तरादि शासनदेव, जो इन्द्र से भी निम्नश्रेण के है।

पं० आशाधरजी के बनाये ग्रन्थों का बारीकी से अध्ययन करनेवालों को पता लगेगा कि उनके खासकर श्रावकाचार साहित्य पर श्वेताम्बर साहित्य का प्रभाव पड़ा नजर आता है। इसके लिए हम पाठकों को श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र स्वोपज्ञटीका को सागारधर्मामृत के सामने रखकर देखने का अनुरोध करते हैं। तब उन्हें पता लगेगा कि सागारधर्मामृत के कई एक स्थानों पर योगशास्त्र की साफ तौर पर छाया पड़ी हुई है। लेख विस्तार के भय से यहाँ हम उनके उद्धरण पेश करना नही चाहते है। इसी तरह आशाधर ने जो अपने प्रतिष्ठाग्रन्थ मे कई देव-देवियों की भरमार की है और उनका विचित्र स्वरूप चित्रण किया है वह सब भी सम्भवतः उधार लिया गया प्रतीत होता है। ये देवी-देव प्राय. श्वेताम्बर पूजा-पाठो में भी उसी तरह पाये जाते है जैसे कि आशाधर ने लिखे है। आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र नयी पद्धति से रचा है ऐसा वे खुद उसकी प्रशस्ति मे लिखते है 'ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूप' अर्थात् उन आशाधर ने यह प्रतिष्ठाग्रन्थ वर्तमानयुग के अनुरूप बनाया है।

पुरानी कथनी के साथ भिन्न आम्नायकी नयी बातो का मिश्रण करने से आशाधर के बनाये प्रतिष्ठाशास्त्र मे ही नहीं सागारधर्मामृत मे भी कई एक स्थलों का कथन बेढंगा हो गया है जिसका जिक्र पं० हीरालालजी

शास्त्री ने भी वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रस्तावना मे किया है। उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

'सागारधर्मामृत के तीसरे अध्याय में प्रथमप्रतिमा का वर्णन करते हुए आशाधरजी उसमे जुआ आदि सप्तव्यसनों का परित्याग आवश्यक बतलाते है और व्यसनत्यागी के लिए उनके अतीचारों के परित्याग का भी उपदेश देते हैं, जिसमें वे एक ओर तो वेश्याव्यसनत्यागी को गीत, नृत्य-वादित्रादि के देखने-सुनने और वेश्या के यहाँ जाने-आने या सम्भाषण करने तक का प्रतिबन्ध लगाते है। तब दूसरी ओर वे ही इससे आगे चलकर चौथे अध्याय में दूसरी प्रतिमा का वर्णन करते समय ब्रह्मचर्याणु-व्रत के अतीचारों की व्याख्या मे भाड़ा देकर नियतकाल के लिये वेश्या को भी स्वकलत्र बनाकर उसे सेवन करने तक को अतीचार बताकर प्रकारान्तर से उसके सेवन की छूट दे देते है।·········ये और इसी प्रकार के अन्य कुछ कथन पं० आशाधरजी द्वारा किये गये है, वे आज भी विद्वानो के लिए रहस्य बने हुए हैं और इन्हीं कारणों से कितने ही लोग उनके ग्रन्थों के पठन-पाठन का विरोध करते रहे हैं।'

जो लोग बड़े दर्प के साथ यह कहते हैं कि ऐसा कोई भी प्रतिष्ठा-शास्त्र नहीं है जिसमे शासनदेव पूजा न लिखी हो। उन्हे अब मालूम होना चाहिए कि वसुनन्दि का प्रतिष्ठाप्रकरण जो उपलब्ध प्रतिष्ठा साहित्य में सबसे पहिले का है उसमे कतई शासनदेवो का कोई उल्लेख ही नहीं है। जिन प्रतिष्ठाशास्त्रो के ये लोग प्रमाण देते हैं वे तो सब आशाधर के बाद के बने हुए हैं और उनके कर्ताओ ने प्रायः आशाधर का ही अनुसरण किया है। और आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र नयी शैली से लिखा है जैसा कि ऊपर हम बता आये है। अर्थात् वसुनन्दि के प्रतिष्ठा सम्बन्धी मुख्य विधि-विधानो को लेकर और उनके साथ विचित्र रूपधारी देव-देवियों की पूजा रचकर आडम्बर पूर्ण प्रतिष्ठाग्रन्थ आशाधर ने रचा है। इस रचना को आशाधर ने युगानुरूप रचना बतायी है। इससे साफ

प्रकट होता है कि शासनदेवपूजा की रीति प्रतिष्ठाविधि मे प्रधानतया आशाधर की चलाई हुई है और इसलिये यह रीति इनके पूर्व होनेवाले वसुनन्दि के प्रतिष्ठाप्रकरण मे नही पायी जाती है। अत बेखटके कहा जा सकता है कि आशाधर के पहिले का ऐसा कोई प्रतिष्ठाशास्त्र हो तो बताया जावे जिसमे शासनदेव पूजा लिखी हो।

●

जिनप्रतिमा का माप

यशस्तिलक उत्तरार्द्ध पृष्ठ ११२ पर एक उद्धृत श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

भवबीजाकुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेता ।
ते देवा दशताला शेषा देवा भवन्ति नवताला ॥

इसमे जिनदेव की मूर्ति को दशताल की और अन्यदेव की मूर्ति को नवताल की होना बताया है । त्रिलोकसार मे जहाँ कि अकृत्रिम प्रतिमाओ का वर्णन किया गया है वहाँ भी "दसतालमाण लक्खण भरिया " इस गाथा न० ९८६ मे प्रतिमा का प्रमाण दस ताल का लिखा है । इन दो उल्लेखो के सिवा अन्य कोई इस विषय का प्राचीन जैन ग्रथ हमे देखने को नही मिला जिसमे प्रतिमा के माप का विस्तृत कथन हो । यह विषय प्रतिष्ठापाठो मे होना चाहिए था । कुछ प्रतिष्ठा का विषय वसुनदि श्रावकाचार मे पाया जाता है और वही उपलब्ध प्रतिष्ठाग्रथो मे सबसे पहिले का है किन्तु इसमे भी प्रतिमा के माप के विषय में कुछ नही लिखा गया है । प० आशाधर जी ने इसी को पल्लवित करके अपना प्रतिष्ठापाठ रचा है । अन्य जो भी प्रतिष्ठाग्रथ मिलते है वे सब आशाधर जी के बाद के है और प्राय इन्ही का उसमे अनुसरण भी किया गया है। प० आशाधरजी ने भी अपने प्रतिष्ठाग्रथ मे कही पर भी प्रतिमा के मापचोप के विषय मे कुछ नही लिखा है । सिफ हिदायत के तौर पर निम्नलिखित एक पद्य लिख कर ही विराम ले लिया है—

जैन चैत्यालय चैत्यमुत निर्मापयन् शुभम् ।
वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्र न लङ्घयेत् ॥

अर्थ—जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा बनाने वाला यदि अपना और

राजादि का हित चाहता है तो उसे चाहिए कि वह इस विषय में वास्तु-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन न करे।

जैन ग्रंथ-भंडारों में एक वसुनंदिकृत प्रतिष्ठाग्रन्थ हस्तलिखित मिलता है। ये वसुनंदि आशाधर के बाद के हैं ऐसा हम "वसुनंदि और उनका प्रतिष्ठासार संग्रह" नाम के लेख मे बता चुके है। इस प्रतिष्ठाग्रंथ मे एक अध्याय ऐसा मिलता है जिसमे जिनप्रतिमा के अंगोपांगों के माप का विस्तृत कथन किया गया है। वहाँ लिखा है कि—

श्रीवत्सभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजांगुलप्रमाणेन साष्टांगुलशतायतम् ॥१॥
ताल मुखं वितस्तिः स्यादेकार्थं द्वादशांगुलम्।
तेन मानेन तद्बिम्बं नवधा प्रविकल्पयेत् ॥२॥
तालमात्रं मुखं तत्र ग्रीवाधश्चतुरंगुलः।
कंठतो हृदयं यावदंतरं द्वादशांगुलम् ॥३॥
तालमात्रं ततो नाभिर्नाभिमेढ्रांतरं मुखम्।
मेढ्रजान्वंतरं तज्ज्ञैर्हस्तमात्रं प्रकीर्तितम् ॥४॥
वेदांगुलं भवेज्जानु जानुगुल्फांतरं करः।
वेदांगुलं समाख्यातं गुल्फपादतलांतरम् ॥५॥

अर्थ—जिसका उरस्थल श्रीवत्स से भूषित हो और गोडेतक हाथ के नख पहुँच रहे हों ऐसा जिनबिंब अपने अंगुलप्रमाण से १०८ अंगुल का लम्बा बनाना चाहिये।

ताल, मुख, वितस्ति, और द्वादशांगुल ये सब शब्द एक ही अर्थ को कहनेवाले है। इस मान से जिनप्रतिमा नवस्थानो मे इस प्रकार बनाई जावे कि १०८ अंगुल में १२ अंगुल का मुख हो, ४ अंगुल की ग्रीवा हो, ग्रीवा से हृदय तक का अन्तर १२ अंगुल का रहे। हृदय से नाभि तक का अन्तर १२ अंगुल का और नाभि से लिंग तक का अन्तर १२ अंगुल का रहे। लिंग से गोडा तक का अन्तर २४ अंगुल (हस्तमात्र) का

रहे, गोड़ा ४ अंगुल का बनाया जावे। गोडा से गुल्फ (टिकूण्या) तक हस्त प्रमाण अन्तर रखे और गुल्फ से पगथली तक ४ अंगुल का अन्तर रहे। ऐसे ६ स्थान १०८ भागों में बनाये जावें। यहाँ सिर्फ प्रतिमा की ऊँचाई के माप का कथन किया है। मालूम रहे कि प्रतिमा का, अपना एक अंगुलमाप ही एक भाग कहलाता है।

इसमें वसुनंदि ने प्रतिमा की ऊँचाई का माप १०८ अंगुल का लिखा है और साथ ही १२ अंगुल के माप की ताल संज्ञा लिखी है। इससे तो जिनप्रतिमा ९ ताल की ऊँची बनाई जाना सिद्ध होता है। और 'नवधा' शब्द देकर स्पष्टतया ९ ताल की जिन प्रतिमा बताई है। वसुनंदि का यह कथन ऊपर लिखे यशस्तिलक और त्रिलोकसार के उल्लेखों से मेल नहीं खाता है। यह खास ध्यान देने योग्य बात है।

वर्तमान मे जयपुर में शिल्पी लोग जो जैन मूर्तियाँ बनाते है उनका माप तो और भी विलक्षण है वह उक्त वसुनंदी के मत से भी मिलता नहीं है। ये लोग भी वैसे ऊँचाई के १०८ भाग ही करते हैं किन्तु अंगों के माप में वसुनंदिकथित माप से फर्क रहता है। ये लोग १०८ भागों का विभाजन इस प्रकार करते हैं।

मस्तक के केश स्थान से ठोंडी तक मुख १३॥ भाग।
ठोडी से हृदय तक का अंतर····१३॥ भाग।
हृदय से नाभि तक का अंतर····१३॥ भाग।
नाभि से लिंग तक का अंतर····१३॥ भाग।
लिंग से जानु तक का अंतर····२७ भाग।
जानु से पादतल तक का अंतर २७ भाग।
१०८ कुल भाग

वसुनंदि १०८ भागों मे १२ भाग का मुख बनाना बताते है, ये लोग १३॥ भाग का मुख बनाते हैं। वसुनंदि ने ठोडी से हृदय तक का अंतर १६ भाग का लिखा है ये लोग १३॥ भाग का अंतर रखते है इसी तरह

अन्य अंगो मे भी फर्क रहता है। हमने इन शिल्पियो से पूछा कि आप लोग इस प्रकार के माप की जो जैन मूर्तियाँ बनाते हो इसका कोई शास्त्र प्रमाण भी आपके पास है क्या तो कुछ नही बता सके। कहने लगे परंपरा से जैसी बनती आ रही है वैसी ही बनाते है।

पता नही प्रतिष्ठाचार्य पडित लोग इस प्रकार के माप की बनी मूर्तियो को आये साल पास करके उनकी प्रतिष्ठाविधि कैसे करते आ रहे है ? सभव है इन पडितो के पास ही इस प्रकार के माप की बनी मूर्तियो का समर्थक कोई आगम प्रमाण हो। यदि ऐसा है तो उन्हे उस आगम-प्रमाण को प्रकट करना चाहिये ताकि कोई भ्राति न रहे।

हमारी समाज मे करीब एक दजन प्रतिष्ठाचार्य होगे उनसे निवेदन है कि उनमे से क्या कोई इस बिषय मे प्रकाश डालने की कृपा करेगा ?

●

दश दिग्पाल

जैनधर्म में जहाँ एक ओर उच्चकोटि का साहित्य है। जिसमें अहिंसा, कर्मसिद्धान्त, स्याद्वाद, अध्यात्म, द्रव्यचर्चा आदि का ऐसा सुन्दर विवेचन है जो साहित्य संसार में बेजोड़ कहा जा सकता है तो दूसरी ओर जैन के नाम से ऐसा भी साहित्य पाया जाता है जिसे क्रियाकाण्डी साहित्य कहना चाहिए। संहिताशास्त्र, त्रिवर्णाचार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि ग्रन्थ इसी कोटि का साहित्य है। इस साहित्य का विस्तार १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे होनेवाले पण्डित आशाधरजी से शुरू होता है। और फिर इनकी देखा-देखी १४वीं शताब्दी में इस विषय का विपुल साहित्य रच दिया गया है। हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, एकसन्धि, अर्यपार्य आदि न मालूम कितने ग्रन्थकार हुए हैं जिन्होंने इसी १४वीं शताब्दी मे अधिकतर इसी विषय पर ग्रन्थ रचे है। यह सिलसिला आगे पन्द्रहवीं आदि शताब्दियों मे भी वामदेव, ब्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र, अकलंक, सोमसेन आदिको के द्वारा बराबर चलता रहा है।

इन क्रियाकाण्डी ग्रन्थो मे लौकिक प्रभाव मे आकर या किसी परिस्थितिवश कुछ बातें ऐसी भी पाई जाती हैं जिनकी संगति जैनधर्म के मौलिक ग्रन्थों से नही बैठती है। उन पर गम्भीर विचार करने से वे साफ़ तौर पर जैनेतर साहित्य से नकल की गई प्रतीत होती हैं उदाहरण के तौर पर हम दश दिग्पालों को लेते है। क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में दिग्पालों का जैसा कथन किया गया है वह जैनधर्म के मौलिकशास्त्र करणानुयोग से कहाँ तक मेल खाता हैं उसी पर यहाँ विचार किया जाता है।

इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत्य, वरुण, मरुत्, कुबेर, ईश, ब्रह्म और

नाग ये पूर्वादि दश दिशाओं के दश दिग्पाल अन्य मत में माने जाते है। हमारे यहाँ शुरू के आठ नाम तो ज्यों के त्यों वे ही हैं। अन्त के दो नाम ब्रह्म और नाग जो ऊर्ध्व और अधोदिशा के दिग्पाल है उनमे फर्क रखा गया है। फर्क रखने का भी कारण यह हो सकता है कि— अन्य मत में यह पृथ्वी शेषनाग पर स्थित मानी जाती है और ब्रह्मदेव का स्थान ऊपर को माना गया है इसलिए उनकी मान्यतानुसार शेषनाग को अधोदिशा का दिग्पाल और ब्रह्म को ऊर्ध्वदिशा का दिग्पाल करार देना संगत है। परन्तु जैन मत के अनुसार यह चीज बनती नही है। इसलिए इन दो दिग्पालों मे परिवर्तन किया गया। इसमें भी अधोदिशा का दिग्पाल जो नाग है सो नाम तो हमारे यहाँ यही रहने दिया इसके अर्थ मे अन्तर करके नाग का अर्थ हमारे यहाँ धरणेन्द्र कर लिया गया है। धरणेन्द्र का स्थान हमारे यहाँ नीचे को माना ही है। इसलिए इसे अधोदिशा का दिग्पाल करार दे दिया गया।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या राजवार्तिक के अनुसार भवनवासियो मे असुरकुमारों का स्थान नागकुमारों से भी नीचे की दिशा मे माना है। तदनुसार अधोदिशा का दिग्पाल कोई असुरकुमारो मे से माना चाहिए था, वह इसलिए नही माना गया कि उनका सम्बन्ध नाग शब्द से बैठता नहीं है इसलिए अन्य मत के नाग शब्द से सम्बन्ध बैठाने को धरणेन्द्र नागकुमार को उपयुक्त समझा गया है।

अब रहा ऊर्ध्व दिशा का दिग्पाल ब्रह्म, इसकी संगति जैन मान्यतानुसार किसी तरह नहीं बैठती देखकर इसकी जगह सोम नाम के दिग्पाल की कल्पना की गई है। सोम नाम चन्द्रमा का है, चन्द्रमा ऊपर को रहता ही है। बस ऊर्ध्व दिशा का दिग्पाल सोम थाप दिया गया है। यद्यपि ब्रह्म का अर्थ सिद्धपरमेष्ठी करके और सिद्धो का स्थान भी ऊपर को है ही इस ही इस तरह ब्रह्म नाम भी ज्यो का त्यो अपनाया जा सकता था किन्तु इसमे बाधा यह आती थी कि अन्य ६ दिग्पाल जब संसारी प्राणी हैं तो

उनकी श्रेणी में मुक्तजीव को कैसे बैठाया जावे ? अन्यमत में जो रुद्र, यम, इन्द्र, कुबेर आदिकों की गिनती उच्चकोटि के देवों में है अतः उनके शामिल ब्रह्म नाम के दिग्पाल का रहना उचित कहा जा सकता है। इन दो नामों की रद्दाबदली की झंझट देखकर क्रियाकांडी जैनग्रन्थों मे इसीलिये कहीं-कहीं दश की जगह आठ ही दिग्पाल लिखे मिलते हैं।

श्वेतांबरमत में दश दिग्पालों के नाम अन्यमतवाले ही रहने दिये है। किसी नाम मे फेर-फार नहीं किया है। ब्रह्म नाम का कोई सामान्य देव-विशेष मानकर इन्होने ऊर्ध्वदिशा का दिग्पाल भी ब्रह्म ही रहने दिया है। शायद इन्होंने यह सोचा हो कि जब दिग्पालों में रुद्र आदि को किसी अपेक्षा से अपना लिये है तो उसी तरह ब्रह्म को भी क्यों न ले लिया जाये ? क्यो उसकी जगह अन्य नाम की कल्पना की जावे ?

जैनधर्म के करणानुयोगी ग्रन्थो मे कहीं भी दिग्पालों के उक्त दश नाम लिखे नही मिलते है। हमारा करणानुयोगी साहित्य जो अतिप्राचीन माना जाता है जिनमे कई जाति के देवों के भेद-प्रभेद उनके विभव परि-वारादि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। अगर ये दिग्पाल दरअसल में ही कोई जैन सम्मत देव होते तो यह कभी नही हो सकता कि इनका उल्लेख उसमे हुए बिना रह जाता।

फिर न मालूम बाद के बने क्रियाकांडी ग्रन्थों मे ये कहाँ से आ घुसे ? इनका आधार क्या है ? यह एक खास विचार करने की चीज है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि करणानुयोगी ग्रन्थो के देखने से पता चलता है कि देवों की दश जाति मे एक लोकपाल जाति के देव भी होते है जिनका नियोग पूर्वादि चारो दिशाओं मे रहकर कोटपाल की तरह अपने स्वामी इन्द्र की प्रजा की रक्षा करने का है। सोम, यम, वरुण और कुबेर ये इनके नाम है और ये पूर्वादि चारो दिशाओं के क्रम से चार लोक-पाल माने जाते है। इन्हीं ग्रन्थों मे इनको कहीं-कही दिग्पाल व दिगीन्द्र

भी कहा गया है। (देखो तिलोयपण्णत्ति अधिकार ३, गाथा ६६, व अधिकार ८, गाथा ५१३)।

वस्तुतः जैनधर्म मे ये चार ही दिग्पाल माने गये है। ऊपर लिखे दश दिग्पाल जैन आम्नाय के नही है। यद्यपि दश नामों मे चार नाम वे ही है जो ऊपर करणानुयोगी ग्रन्थों मे बता आये है तथापि इन चारो का क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे जिस ढंग से कथन किया गया है वह करणानुयोग मे कथित दिग्पालों को लक्ष्य मे रखकर नही किया गया है। बल्कि उनका वर्णन अन्यमत के अनुसार किया गया है। नीचे के विवेचन से पाठक देखेंगे कि इन दश दिग्पालो का सम्बन्ध जैन परम्परा से न होकर विशेषतया अन्यमत से ही इनका सम्पर्क सिद्ध होता है—

१—दश दिग्पालो मे पूर्वदिशा का दिग्पाल इन्द्र माना गया है। जबकि करणानुयोगी जैनशास्त्रो मे पूर्व दिशा का दिग्पाल 'सोम' माना गया है। रविषेण के पद्मपुराण मे नकली इन्द्र की कथा मे जो इन्द्र ने चार बनावटी लोकपालो की स्थापना की है उनमे भी पूर्व दिशा का लोकपाल सोम ही स्थापन किया है।

२—जैनागम के अनुसार चतुर्देवनिकायों मे ३२ इन्द्र होते है उनमे से पूर्वदिशा का 'इन्द्र' दिग्पाल किस देवनिकाय का इन्द्र है ? ऐसा कुछ भी उल्लेख क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे नही पाया जाता है। क्योंकि यह जैनों की चीज ही नही तब इसका विवरण कैसे पाया जावे। अन्य मत मे इन्द्र के ऐरावत नाम का हाथी और शची नाम की इन्द्राणी लिखी है सोही इन्होंने लिख दिया है। अन्यमतो मे देवो का इन्द्र एक ही होता है वही पूर्वदिशा का दिग्पाल है इस तरह यह कथन उनके यहाँ तो सुसंगत बन जाता है। हमारे यहाँ उसकी संगति नहीं बैठती है। कोई कहे कि जैनों के यहाँ भी सौधर्मेन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत और इन्द्राणी का नाम शची लिखा है अत· पूर्वदिशा का दिग्पाल सौधर्मेन्द्र को ही क्यो न मान लिया जावे ? तो उत्तर यह है कि इस सौधर्मेन्द्र से पूर्वदिशा का क्या सम्बन्ध जो इसे

पूर्वदिशा का दिग्पाल माना जाये। अलावा इसके पं० आशाधरजी जिन्होंने कि दशदिग्पालों का विशेष विवरण लिखा है वे अपने बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार के दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोक में लिखते हैं कि—'पूजक अपने को सौधर्मेन्द्र मानकर यागमण्डल की पूजा करे।' यागमण्डल में इन्होंने ही दशदिग्पालों की स्थापना कर पूजा लिखी है। ऐसी हालत में यानी सौधर्मेन्द्र को ही पूर्वदिशा का दिग्पाल माने जाने मे अड़चन यह उपस्थित होती है कि खुद इन्द्र अपनी ही स्थापना कर अपनी पूजा कैसे करे।

३—क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों मे ऊर्ध्वदिशा के लोकपाल चन्द्रमा की देवी का नाम रोहिणी और कुबेर का वाहन पुष्पक विमान बताया है। ऐसा ही अन्यमत मे बताया है। वाल्मीकी रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग १६ में लिखा है कि—'रावण ने युद्ध मे कुबेर को पराजय कर उसका पुष्पक विमान अपने हस्तगत कर लिया था।"

करणानुयोगी जैनशास्त्रों मे तो न तो चन्द्रमा के कोई रोहिणी नाम की देवी लिखी है और न कुबेर के पुष्पक विमान ही। और भी दिग्पालों का जैसा स्वरूप इन क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों मे लिखा मिलता है वैसा किसी भी करणानुयोग मे नहीं पाया जाता है।

४—क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों मे इन दिग्पालों के अन्तर्गत 'सोम' को चन्द्रमा, 'नैऋत' को राक्षस और 'कुबेर' को यक्ष नाम से लिखा गया है। दूसरी तरफ तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थ मे स्पष्ट लिखा है कि—'त्रायस्त्रिंशल्लोक-पालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्का:' व्यंतर, ज्योतिष्कदेवों में त्रायस्त्रिंशत् और लोकपाल जाति के देव नहीं होते हैं। ऐसी अवस्था में यक्ष, राक्षस जो व्यंतरदेवों के भेद है और चन्द्रमा की गणना ज्योतिष्कदेवो मे है। इन व्यंतरज्योतिष्कों मे ये दिग्पाल कैसे हो सकते है? यह तो साफ ही जैनसिद्धान्तविरुद्ध कथन दिख रहा है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे जैसा कि ऊपर हम बता आये हैं कि लोकपालों को ही दिग्पाल कहा गया है। और अभिषेकपाठ आदि क्रियाकांडी जैनग्रन्थों

में भी कहीं-कहीं इन दिग्पालों को लोकपाल नाम से लिखा। है (देखो अभिषेककपाठसंग्रह पृष्ठ ५ और ३६०) इसलिये ग्रन्थकारों का अभिप्राय दोनों को एक ही मानने का प्रतीत होता है। यानी दिग्पाल और लोक-पाल ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है।

५—आचार्य गुणभद्रस्वामी ने उत्तरपुराण में भगवान चन्द्रप्रभ के चरित्र में श्लोक १०२ से ११० मे इन दिग्पालों को दिग्मंडल की रक्षा करने में असमर्थ बताते हुए इनको जिन भर्त्सनाभरे शब्दों से याद किया है उन्हे देखते हुए यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि मे इन दिग्पालो का वह गौरव नही था जो बाद के बने क्रियाकाडी जैनसाहित्य मे दिखाया गया है। बल्कि वे इनको मान्यता को थोथी लौकिक मान्यता के सिवा और विशेष कुछ नही समझते थे।

इन दशदिग्पालो.का उल्लेख हमे ११वी शताब्दी मे होनेवाले सोमदेव के यशस्तिलक मे भी मिलता है। वहाँ इनके नाममात्र दिये हैं और इन्हे विघ्नशाति के लिए बुलाये है।

सोमदेव के बाद १३वी शताब्दी मे पं० आशाधरजी ने इन दिग्पालों के वे ही दशनाम देते हुए साथ ही इनका कुछ स्वरूप भी लिखा है जो बड़ा ही विचित्र है। नमूने के तौर पर ईशान दिशा के दिग्पाल का स्वरूप जो उन्होंने लिखा है वह नीचे दिया जाता है—

सास्नावाचालकिंकिण्यनणुरणझणत्कारमंजीरसिजा-
रम्योद्यच्छृङ्गहेलाविहरदुरुशरच्चद्रशुभ्रर्षभस्थम्।
भास्वद्भूषाभुजंगं भुजगसितजटाकेतकार्द्धेन्दुचूलं
दध्रि शूलं कपालं सगणशिवमिहार्चामि पूर्वोत्तरेशम् ॥१०३॥

—नित्यमहोद्योत-अभिषेकपाठ

इनके बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार मे भी यही श्लोक है। इसका भावार्थ ऐसा है कि–'गले मे बँधे घुँघरुओ के रुण-झुण शब्द से वाचालित और नूपुरों के अव्यक्त शब्दों से रमणीय ऐसे ऊँचे सीगोंवाले मोटे, सफेद बैल

पर जो बैठा है। जिसके सर्पों के आभूषण चमक रहे हैं। जिसकी जटा अर्द्धचन्द्र और चोटी मे सर्प लिपटे हुए हैं। एवं जो त्रिशूल और कपाल को धारण किए हैं और नन्दि आदि गण व पार्वती साथ मे हैं ऐसे ईशानदेव को मैं पूजता हूँ।"

अन्यमत में जो रूप शिवजी का लिखा है वही यहाँ लिख दिया गया है। आशाधरजी के पहले का हमें ऐसा कोई दिगंबर ग्रंथ नहीं मिला है जिसमें दिग्पालों के ऐसे विचित्र रूप का वर्णन किया गया हो। श्री बनजीठोलिया दि० जैन ग्रन्थमाला, जयपुर से प्रकाशित 'अभिषेक पाठसंग्रह' पुस्तक मे भी कुछ ऐसे अभिषेकपाठ है जिसमें दिग्पालों का ऐसा ही रूप लिखा है। किंतु वे सब आशाधरजी के बाद के बने हुये है। और इस संबंध मे जो कुछ आशाधरजी ने लिखा है वही ज्यो का त्यो उन्होने भी नकल कर दिया है।

उपलब्ध प्रतिष्ठापाठों मे बहुत सी देव-देवियों की भरमार की गई है उनमें से इन दिग्पालों के सिवा और भी कई ऐसे देवी-देव लिखे गये है जिनमे मे कोई तो काल्पनिक है, कोई ग्रन्यमत से उडा लिये है। तत्त्वार्थ-सूत्र आदि मान्य ग्रन्थों में सर्वत्र श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, और लक्ष्मी ये छह दिक्कुमारियाँ लिखी है परन्तु प्रतिष्ठापाठो मे उक्त छहो मे शाति, पुष्टि मिलाकर आठ दिक्कुमारियें बना दी गई है। बढाई हुई दो देवियो का कोई शास्त्राधार नही तो क्यों न इन्हे कपोलकल्पित कहा जाये। इत्यादि प्रतिष्ठाग्रन्थो की बहुत सी बातें हैं जिनकी चर्चा किसी स्वतंत्र जुदा लेख मे ही की जा सकती है। लेख विस्तार के भय से यहाँ हम कुछ और अधिक नही लिखना चाहते।

आशा है स्वाध्यायशील विद्वान् इस लेख पर शान्तिपूर्वक गम्भीर विचार करेंगे (अगर कोई विचक्षण इन दिग्पालो की उपपत्ति करणानुयोगी जैनग्रन्थों से बैठा दे तो हम उसका सहर्ष स्वागत करने को तैयार है। हमारा यह दुराग्रह नही है कि—'जो कुछ हमने समझा है वही ठीक है।')

●

इसे भक्ति कहें या नियोग ?

तीर्थंकरों के कल्याणकों में उनकी या उनके माता पिताओं की सेवा के लिए दिक्कुमारी, रुचकवासिनी, इन्द्राणी आदि देवियाँ और सौधर्मेन्द्र, कुबेर, यक्ष आदि देव उपस्थित होते है ऐसा कथन जैन शास्त्रों में पाया जाता है और वह इस ढंग से पाया जाता है कि—किसी भी एक तीर्थंकर का जिस किस्म का सेवा कार्य जिन-जिन नाम के देव-देवियों ने किया उसी किस्म का सेवा कार्य उन्ही नाम के देवदेवियो ने सभी तीर्थंकरों का किया है। यह रीति अनादिकाल से होते आये तीर्थंकरो के साथ समानरूप से होती रही है। जैसे भगवान् ऋषभदेव की माता की सेवा श्री, ह्री, धृति आदि दिक्कुमारी देवियो ने की, इसी तरह इन्हीं देवियो ने शेष तीर्थंकर-माताओ की भी सेवा की है बल्कि अनादिकाल से होती आई सभी जिनमाताओ की भी सेवा इन्ही श्री, ह्री आदि देवियो ने की है। ऐसा आगम के पाठी मानते आ रहे है। यही हाल तीर्थंकरो के अन्य सेवा कार्यों का भी है। जन्मकल्याणक मे सौधर्मेन्द्र का भगवान् को गोदी मे बैठाना, ईशानेन्द्र का भगवान् पर छत्र लगाना, सनत्कुमार और माहेन्द्र का चमर ढोरना आदि अन्यान्य कार्य भी जो एक तीर्थंकर के साथ हुआ वही कार्य इन्ही इंद्रादि द्वारा अन्य सभी तीर्थंकरो के साथ हुआ है। जैनशास्त्रो के इस प्रकार के कथनो पर जब हम गहराई के साथ विचार करते है तो हम इस तथ्य पर पहुँचते है कि तीर्थंकरों की सेवाओं मे भाग लेनेवाले इन देवों व देवियो का प्रधान कारण जिनभक्ति नही है। भगवान् की भक्ति ही कारण होती तो भगवान् की विविध सेवाओं मे से कोई सेवा कभी कोई देव करता और कभी कोई देव। सो ऐसा न बताकर सर्वदा के लिये किन्ही देव-विशेषों के लिये भगवान् की किसी खास सेवा का

प्रोग्राम निश्चितसा बंधा हुआ है। भगवान् को गोदी में बैठाना, उन पर छत्र लगाना, चमर ढोरना ये कार्य क्या उक्त इंद्रों के सिवा अन्य स्वर्गों के इन्द्र नहीं कर सकते है ? नहीं कर सकते तो क्यों नहीं कर सकते हैं। क्या इन जैसी उनमें भक्ति नहीं है। यदि कहो कि सौधर्मेन्द्र एकभवावतारी होता है तो एक भवावतारी तो सभी दक्षिणस्वर्गों के इंद्र भी माने गये हैं। जैसा कि त्रिलोकसार की निम्न गाथा से प्रकट है—

सोदम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जंति ॥ ५४८ ॥

अर्थ—सौधर्मेन्द्र, उसकी शची, उसके लोकपाल व सनत्कुमारादि दक्षिणइन्द्र, लौकातिकदेव और सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्ष जाते है।

इससे हमें यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि—जो देवी-देव तीर्थंकरो के सेवाकार्य मे भाग लेते है वे भक्तिवश नही किन्तु सदा से जो सेवा का काम जिन देवी-देवों द्वारा होता आ रहा है वह कार्य आगे भी उन्हीं को करना पडता है। यह ड्यूटी इनके लिये अनादि से चली आ रही है। चाहे भक्ति हो या न हो और वे सम्यक्त्वी हों या नहीं, उस ड्यूटी का पालन करना उनके लिये आवश्यक होता है। देवगति में जन्म लेनेवालों का ऐसा ही नियोग है। अलबत्ता इनमे जो सम्यग्दृष्टि देव होते है वे भगवान् की सेवा का अपना नियोग बहुत कुछ भक्तिभावपूर्वक साधते है। किन्तु जिनके सम्यक्त्व नहीं होता वे देव तो भगवान् की सेवा की मात्र ड्यूटी अदा करते है। तीर्थंकरों के सेवाकार्य के अतिरिक्त भी कई धार्मिक कार्य ऐसे हैं जिन्हे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव देवगति की परम्परा के माफिक समानरूप से करते है। जैसे देवगति मे कोई भी देव जन्म लेगा तो वह जन्म होते ही प्रथम जिनपूजा के लिये वहाँ के चैत्यालय में जावेगा। अष्टाह्निकपर्व आने पर प्रायः सभी देव नदीश्वरद्वीप मे पूजा करने को जायेंगे। एवं किसी तीर्थंकर का कहीं कोई कल्याणक होगा तो

उसके समारोह में भी उन्हे शामिल होना पडेगा। इत्यादि कार्यों में भाग लेने का देवगति में एक रिवाज सा चला आ रहा है। इसलिए ये सब उन्हे करने पड़ते है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि ऐसा वे सम्यग्दृष्टि होने की वजह से करते है। अगर ऐसा ही माना जाये तो देवों में फिर कोई मिथ्यादृष्टि देव ही होना सम्भव न हो सकेगा। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न गाथाद्वय से भी सिद्ध होती है—

> कम्मखपणणिमित्तं णिब्भरभत्तीए विवहदव्वेहिं।
> सम्माइट्ठीदेवा जिणिंदपडिमाओ पूजंति ॥१६॥
> एदे कुलदेवा इय मण्णंता देववोहणवलेण।
> मिच्छाइट्ठी देवा पूयंति जिणिंद पडिमाओ ॥१७॥
> —६ वां अधिकार।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि देव कर्मक्षय के निमित्त गाढ भक्ति से विविध द्रव्यों के द्वारा ७न जिनप्रतिमाओ की पूजा करते है। अन्य देवो के समझाने से मिथ्यादृष्टि देव भी 'ये कुलदेवता हैं' ऐसा मानकर उन जिनप्रतिमाओ को पूजते है।

इसलिये जो लोग यह कहते है कि "तीर्थकरो की सेवा का नियोग जिन देव-देवियो पर है वे सब सम्यग्दृष्टि ही होते हैं" उनका ऐसा कहना ठीक नही है उन्हे इस सम्बन्ध मे अभी गंभीर विचार करने की जरूरत है। तीर्थकरो के चरित्रो मे तीर्थकरो की व उनके माता पिताओं की देव-देवियो द्वारा जो सेवा करने का कथन किया गया है वह एकमात्र उन तीर्थकरो की महिमा प्रदर्शन के उद्देश्य से किया है न कि देव-देवियों की भक्ति प्रदर्शनार्थ। यह चीज विचारकों के खास ध्यान मे रहने की है। 'भूपाल चतुर्विंशति' का स्तोत्र मे लिखा है कि—

> देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवागना मंगला-
> न्यापेठु. शरदिंदुनिर्मलयशो गंधर्वदेवा जगु ।

शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे,
तत् किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ॥२२॥

अर्थ—इन्द्रोंने आपका अभिषेक किया, देवियों ने मंगल पाठ पढ़े, गंधर्वों ने आपका यशोगान किया और बाकी बचे समस्त देवों ने भी जैसा जिसका अधिकार था वैसी आपकी सेवा की। अब हमलोग आपकी कौन सी सेवा करें ? इस प्रकार हमारा मन सोच में झूल रहा है।

इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि—भगवान् की सेवा अलग-अलग देवों के लिये अलग अलग नियत थी। वह सेवा उनको भक्ति हो या न हो अवश्य ही करनी पड़ती थी।

पंचोपचारी पूजा

विक्रम सं० ११०४ मे होनेवाले श्री मल्लिषेणसूरिने "भैरवपद्मावती कल्प" के तीसरे परिच्छेद मे ऐसा कथन किया है—

आह्वानं स्थापनं देव्याः, सन्निधीकरणं तथा ।
पूजां विसर्जनं प्राहुर्बुधाः, पंचोपचारकम् ॥ २५ ॥
ॐ ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट् ।
कुर्यादमुना मंत्रेणाह्वानमनुस्मरन् देवीम् ॥ २६ ॥
तिष्ठद्वितयं ठांतद्वयं च संयोजयेत् स्थितीकरणे ।
सन्निहिता भव शब्दं मम वषडिति सन्निधीकरणे ॥ २७ ॥
गन्धीदीन् गृण्ह गृण्हेति नम. पूजाविधानके ।
स्वस्थानं गच्छ गच्छेति जस्त्रि. स्यात् तद्विसर्जने ॥ २८ ॥

"ॐ ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट्" इति आह्वानम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः" इति स्थापनम् ।

"ॐ ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! मम सन्निहिता भव भव वषट्" इति सन्निधिकरणम् ।

"ॐ ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! गंधादीन् गृह्ण गृह्ण नमः" इति पूजाविधानम् ।

"ॐ ह्री नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः" इति विसर्जनम् ।

एव पंचोपचारक्रम. ।

देवी का आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन जो

किये जाते हैं उन्हे पंचोपचार कहते है इसी का दूसरा नाम पंचोपचारी पूजा है, इनका मंत्र पूर्वक जो विधिक्रम है वह ऊपर लिख दिया है।

ऐसा प्रतिभासित होता है कि पहिले पंचोपचारी पूजा मंत्र सिद्ध करते के लिये देवताराधन में की जाती थी। अर्हंतादि की पूजा में पंचोपचार का उपयोग नही किया जाता था। हम देखते है कि सोमदेव ने यशस्तिलक में और पद्मनन्दिने पद्मनन्दिपंचविंशति में अर्हंतादि की पूजा में सिर्फ अष्टद्रव्यों से पूजा तो लिखी है किन्तु आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, विसर्जन नही लिखा हैं। यह चीज हमको प्रथम आशाधर के प्रतिष्ठापाठ और अभिषेक पाठ मे मिलती है। आशाधर ने इतना विचार जरूर रक्खा है कि अर्हंतादिकी पूजा मे आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण तो लिखा है किंतु विसर्जन नहीं लिखा है। हाँ शासन देवों की पूजा मे उन्होंने विसर्जन लिख दिया है। जैसा कि नित्यमहोद्योत के इस पद्य से प्रकट है—

प्रागाहुता देवता यज्ञभागैः प्रीता भर्तुः पादयोरर्घदानैः।
क्रीतां शेषा मस्तकैरुद्वहन्त्यः प्रत्यागंतुं यान्त्वशेषा यथास्वम् ॥१६५॥

इसमे विसर्जित देवो के लिये "अर्हंत की शेषाको मस्तको पर धारण करते हुये" जाने का उल्लेख किया है। जिससे यहाँ शासनदेवों का ही विसर्जन ज्ञात होता है न कि पंचपरमेष्ठी का। एक बात आशाधर के पूजा ग्रन्थो मे यह भी देखने में आती है कि वे शासन देवो की पूजा मे तो अर्चना द्रव्यो के अर्पण मे "जलाद्यर्चनं गृहाण गृहाण" या "इदमर्घ्यं पाद्यं जलाद्यं यजभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यताम्"

इस प्रकार के वाक्य प्रयोग करते है। ऐसे प्रयोग उन्होंने अर्हंतादि की पूजाओ मे नही किये हैं। वहाँ तो वे यों लिखते है—

"ॐ ह्रीं अर्हं श्री परमब्रह्मणे इदं जलगन्धादि निर्वपामीति स्वाहा।"

फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि अर्हंतादि की पूजा विधि

में आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण की परिपाटी चलाने में शायद ये ही मुखिया हों। अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति मे खुद पं० आशाधर लिखते हैं कि "मैंने इसे युगानुरूप रचा है" युगानुरूप का अर्थ पूजाविधि में इस तरह की नई रीतियाँ चलाना ही जान पडता है।

आशाधर के बाद इन्द्रनंदि हुये जिन्होने इस विषय मे और भी आगे बढकर अर्हंतादिकों की पूजा विधि में वे ही पंचोपचार ग्रहण कर लिये जो मल्लिषेणने मंत्राराधन मे लिखे है। इन्होंने शासन देवों की ही तरह अर्हंतादिकों का विसर्जन भी लिख दिया है। यही नहीं अर्हंतादि को पूजा में द्रव्य अर्पण करते हुये "इदं पुष्पांजलि प्रार्चनं गृह्णीध्वं गृहीध्वं" तक लिख दिया है। (देखो अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ ३४४) इन्हीं को आधार मानकर एकसंधिने भी अर्हतादिकों की पूजा पंचोपचार से करना बताते हुये लिखा है कि—"मैंने यह वर्णन इंद्रनंदि के अनुसार किया है" यथा—

एवं पंचोपचारोपपन्नं देवार्चनाक्रमम्।
यः सदा विदधात्येव सः स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ॥
इतीन्द्रनदिमुनीन्द्रजिनदेवार्चनाक्रमः ॥

—परिच्छेद ९वा "एकसन्धिजिनसंहिता"

ये ही श्लोक कुछ पाठ भेद के साथ 'पूजासार' ग्रन्थ में पाये जाते हैं। यथा—

"य. सदा विदधात्येना सः स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः।
इतीद्रनंदियोगीन्द्रै. प्रणीतं देवपूजनम् ॥"

एकसन्धि का पंचोपचारी पूजा के लिये इन्द्रनदि का प्रमाण पेश करना साफ बतलाता है कि उनके समय मे इस विधिका प्रतिपादक सिवाय इन्द्रनन्दिके और कोई पूजा ग्रन्थ मौजूद नहीं था। यहाँ तक कि इन्द्रनन्दि के साथ उन्होंने आदि शब्द भी नही लगाया है यह खास तौर से ध्यान देने योग्य है।

यशोनंदिकृत संस्कृत पंचपरमेष्ठी पूजा में भी आशाधरकी तरह चार ही उपचार मिलते हैं विसर्जन उसमे नहीं है। किन्तु यशोनंदिका समय अज्ञात है कि वे आशाधर के पूर्ववर्ती हैं या उत्तरवर्ती ?

नित्यनियम पूजा मे पाँचों ही उपचार पाये जाते हैं किन्तु नित्य नियम पूजा किसी एक की कृति नहीं है। वह संग्रह ग्रन्थ है और उसमें कितने ही पाठ अर्वाचीन है। उदाहरण के तौर पर "जयरिसह रिसीसर णमियपाय" यह देवकी जयमाला का पाठ कवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश यशोधरचरित्र का है। उसमें शुरू मे ही यह मंगलाचरण के तौर पर लिखा हुआ है—

"वृषभोजित नामा च संभवाश्चाभिनन्दनः।"

पाठ अय्यपार्य कृत अभिषेक पाठ का है जो अभिषेक पाठ संग्रह के पृष्ठ ३१६ पर छपा हैं। ये अय्यपार्य विक्रम सं० १३७६ मे हुये है।

"ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया।"

विसर्जन का यह पहिला पद्य अशाधर प्रतिष्ठा पाठ से लिया है जो उसके पत्र १२३ पर पाया जाता है।

'आह्वानं नैव जानामि' और 'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं' आदि विसर्जनके दो पद्य सूरत से प्रकाशित भैरव पद्मावती कल्प के साथ मुद्रित हुये पद्मावती स्तोत्र मे कुछ पाठभेद के साथ पाये जाते है वही से इसमें लिये गये हैं। वे पद्य इस प्रकार है—

आह्वाननं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजामर्चां न जानामि क्षमस्व परमेश्वरि॥
आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं च यत्कृतम्।
तत्सर्वं क्षम्यता देवि प्रसीद परमेश्वरि॥

अलावा इसके पंचोपचार मे प्रयुक्त हुये "संवौषट्" "वषट्" आदि शब्दो पर अब हम विचार करते है तो स्पष्टतया यह प्रकरण मन्त्र विषयक

द्योतित होता है। वीतराग भगवान् की पूजा जिस ध्येय को लेकर की जाती है उसमे इनका क्या काम ?

वर्तमान मे पूजा विधिका जो रूप प्रचलित है वह कितना प्राचीन है ? आशा है खोजी विद्वान् इसका अन्वेषण करेंगे इसी अभिप्राय से यह लेख लिखा गया है।

●

देवसेन का नयचक्र

करीब ३७ वर्ष पहिले 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' में "नयचक्रादि संग्रह" नामक एक पुस्तक छपी है। जिसमें ८७ गाथा का एक देवसेनकृत प्राकृत का लघुनयचक्र प्रकाशित हुआ है। कहते हैं कि यह नयचक्र उन्हीं देवसेन का बनाया हुआ है जिन्होंने विक्रम सं० ९९० में दर्शनसार ग्रन्थ संकलित किया है। किन्तु निम्नलिखित कारणों से यह मान्यता ठीक मालूम नहीं होती है।

१—देवसेनने अपने बनाये ग्रन्थों जैसे दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार मे अपना नाम कर्त्तापने से दिया है। उक्त नयचक्र मे कहीं भी उसके कर्ता का नाम नहीं पाया जाता है।

२—उक्त नयचक्र को गाथा नं० ४७ के आगे "तदुच्यते" वाक्य से दो पद्य अन्य ग्रन्थो के उद्धृत किये गये हैं। उनमे से एक संस्कृत का है और दूसरा "अणुगुरूदेहपमाणो" यह प्राकृत की गाथा है। यह गाथा नेमिचन्द्र कृत 'द्रव्यसंग्रह' की है। द्रव्यसंग्रह का निर्माण दर्शनसार के कर्ता के बाद हुआ है। इसलिये यह नयचक्र दर्शनसार के कर्ता का नहीं हो सकता है।

३—ग्रन्थकारों की अपनी साहित्यिक रचनाओं के नाम रखने की भी अपनी एक कही-कही खास शैली हुआ करती है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन के बनाये ग्रन्थो के नाम सारात नजर आते है। जैसे दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार। "नयचक्र" यह नाम सारांत न होने से उक्त देवसेन का नहीं है। इस प्रकार की शैली नेमिचन्द्राचार्य की भी देखी आती है। इन्होने भी अपने ग्रन्थो के सारांत नाम रखे है यथा—गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार!

दरअसल प्राकृत का यह नयचक्र माइल्लदेव कृत "द्रव्यस्वभाव-प्रकाश" का ही एक प्रकरण मालूम पड़ता है जो उसमें पूरा का पूरा पाया भी जाता है। वह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है, इसीलिये तो इसमें कहीं इसके कर्ता का नाम उपलब्ध नहीं है। अब रही यह बात कि 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' ग्रन्थ की गाथा नं० ३२१ में खुद माइल्लदेव ने जो यह लिखा है कि—"तं देवसेण देवं णयचक्कयरं गुरुं णमह।" "नयचक्र के कर्ता देव-सेन गुरु को नमस्कार करो।" इस कथन से देवसेन का बनाया कोई नय-चक्र जरूर है और वह फिर कौनसा है? और श्वेताम्बर विद्वान् भोजसागर कृत "द्रव्यानुयोगतर्कणा" में भी देवसेन के नयचक्र नाम के दिगम्बर ग्रन्थ का उल्लेख आता है सो कैसे है? इन सबका समाधान यह है कि—

एक गद्यपद्यमय संस्कृत नयचक्र सन् १९४९ में श्री सेठ रखबचन्द्र जी पांड्या सनावद की सहायता से छपा है। जिसका सम्पादन और हिंदी अनुवाद क्षु० श्री सिद्धसागर जी ने किया है और जिसका प्रकाशन वर्द्ध-मानजी पार्श्वनाथ जी शास्त्री द्वारा सोलापुर में हुआ है। यह ८४ पृष्ठ का है। यह भी देवसेन कृत है, जिसे व्योमपण्डित के प्रतिबोध के लिये रचा गया है। नमूने के तौर पर अध्याय की समाप्ति के सूचक वाक्य यहाँ दे दिये जाते हैं—

"इति श्री देवसेनभट्टारकविरचिते व्योमपण्डितप्रतिबोधके श्रुत भवन-दीपे नयचक्रे व्यवहारशुद्धिकथनो नाम द्वितीयोऽध्यायः।"

इसकी प्रशस्ति का एक पद्य भी देखिये—

हिततममिति सम्यग्देवसेनोक्तमेतत्
श्रुतभवनसुदीपं ध्वस्तमोहाधकारम्।
प्रकटितसकलार्थं मुक्तिपुर्यां यियासुः।
स्वमनसि नयचक्रं भव्यलोको दधातु॥

इस नयचक्र का सम्पादन सिर्फ एक ही प्रति पर से हुआ है। उस प्रति में दूसरा और तीसरा पत्र नहीं था, ऐसा उक्त क्षुल्लक जी ने सूचित किया है।

क्या यह संभावना नही की जा सकती है कि माइल्लदेव ने अपने "द्रव्यस्वभावप्रकाश" ग्रन्थ मे जिस नयचक्र का उल्लेख किया है वह यही नयचक्र हो। और माइल्लदेव के भी ये ही गुरु हों। इसी तरह भोजसागर द्वारा उल्लिखित देवसेन और उनका नयचक्र भी यह ही हो। इसमे अधिक संभावना इसलिये भी है कि भोजसागर ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है उसे वे द्रव्यानुयोगतर्कणा पृष्ठ ११६ मे संस्कृत का बताते है। माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित नयचक्र तो प्राकृत मे है। उधर दर्शनसार की वचनिका मे पं० शिवजीलाल जी ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है वह भी यही नयचक्र हो। क्योकि शिवजीलाल जी ने भी उसे संस्कृत का लिखा है।

जिस प्रकार यह संस्कृत का नयचक्र गद्य पद्य मे रचा गया है उसी प्रकार गद्य पद्य में आलापपद्धति भी रची गई है। दोनों के कर्ता ये ही देवसेन मालूम पड़ते हैं, न कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन जो १० वीं शताब्दी के हैं।

आलापपद्धति के आरंभ में लिखा है—"आलापपद्धतिर्वचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते।" भांडारकर लाइब्रेरी की प्रति के अंत में लिखा है—"इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्रीदेवसेनविरचिता समाप्ता। इति श्रीनयचक्र संपूर्णम्।" तथा वीरवाणी वर्ष १० अंक ८ में ऐसा उल्लेख है—"इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्री देवसेन पंडित विरचिता। इति श्री नयचक्रं समाप्त छ।" लिखितं कौंरा स्वयं पठनार्थं। (कौंरपाल पं० बनारसीदासजी के साथी थे)

इससे प्रगट है कि—जिस देवसेन ने संस्कृत में नयचक्र बनाया उसी ने उसे सुख से समझने के लिये आलापपद्धति बनाई है। यह देवसेन पंडित दर्शनसार के कर्ता से भिन्न है। और जो प्राकृत नयचक्र है वह माइल्ल देवकृत "द्रव्यस्वभावप्रकाश" ग्रन्थ का एक प्रकरण है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया कोई नयचक्र नहीं है।

जीवतत्त्व विवेचन

संसार अनादिकाल से छह द्रव्यों से परिपूर्ण है। उसमें एक जीव-द्रव्य भी है। जीवों की संख्या सदा से ही अनंतानंत है। वे जितने हैं उतने ही रहते है, न घटते, न बढ़ते है। कोई भी जीव नया पैदा नहीं होता है और न किसी का विनाश ही होता है। अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है, कि किसी अन्य देह से निकल कर जीव इस देह में आया है। बस इसे ही उसका जन्म होना कहते हैं। और इस देह से निकल कर जीव अन्य देह मे चला गया, बस यही उसका मरण कहलाता है। तत्त्वतः प्रत्येक जीव अजन्मा और अविनाशी है। उन अनंतानंत जीवो मे कई जीव अशुद्ध रूप मे और कई शुद्ध रूप मे पाये जाते है। जो अशुद्ध रूप मे हैं उन्हें संसारी जीव और शुद्ध रूप वालों को मुक्त जीव कहते हैं।

सब द्रव्यो मे एक जीव द्रव्य ही चेतनामय है बाकी सब अचेतन-जड़ हैं। संसार मे जो पदार्थ नेत्र आदि इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य होते है वे सब पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्त्त होने से इन्द्रिय गोचर है। किन्तु जीव द्रव्य रूपी व मूर्त्तिक नही है अतः वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नही है। इसका अर्थ यह नही है कि वह शून्य रूप है। जीव भी अपनी सत्ता अवश्य रखता है। उसका भी कुछ न कुछ आकार रहता है। संसार-अवस्था मे वह देह के आकार मे रहता है और मुक्त अवस्था मे उसके देह नही रहती, तथापि जिस देह को छोड़कर वह मुक्त होता है उस देह के आकार मे (किंचित् न्यून) रहता है।

जीव मे फैलने और सिकुड़ने की शक्ति विद्यमान है। वह अगर अधिक से अधिक फैले तो अकेला ही सारी सृष्टि को व्याप्त कर सकता

है किन्तु उसे विभिन्न भवो में जितने प्रमाण का देह मिलता है उतने ही प्रमाण का होकर रहना पड़ता है। भवान्तर मे ही नही, किसी एक भव मे भी बाल्यावस्था के छोटे शरीर मे छोटा बनकर रहता है, युवावस्था के बड़े शरीर में बड़ा बनकर रहता है फिर वही शरीर वृद्धावस्था में कृश होकर रहने लगता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे बड़े कमरे में सिकुड़ता-फैलता है, वैसे ही जीव भी बड़ी-छोटी देह मे फैलता सिकुड़ता है। प्रत्यक्ष में यह भी देखा जाता है कि जब मनुष्य के दिल मे काम वासना पैदा होती है तो उसकी कामेन्द्रिय का प्रमाण बढ़ जाता है। उसी के साथ उसके आत्मप्रदेश भी बढ जाते है और कामेन्द्रिय का संकोच होने पर उसके आत्म प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं।

यहाँ शंका की जा सकती है कि जैसे दीपक का ढक्कन हटा देने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह मोक्ष मे जीव के साथ देह के न होने से वह लोक प्रमाण क्यों नहीं फैलता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई आदमी पाँच हाथ की लंबी डोरी को समेट कर अपनी मुट्ठी मे बंद कर ले, फिर कालांतर मे मुट्ठी खोल देने पर भी वह डोरी बिना किसी के फैलाये अपने आप नही फैलती है, उसी तरह मोक्ष मे देह के न रहने पर आत्मा के प्रदेश भी अपने आप नहीं फैलते हैं।

जीव को देह प्रमाण कहने का अर्थ यह है कि शरीर के प्रायः सभी अंशो में आत्मा के अंश मिले हुए है। जैसे दूध में घृत के अंश मिले रहते हैं। शरीर और आत्मा के अंश ऐसे कुछ घुल-मिल जाते है कि संयुक्त क्रियाओं मे कहीं तो आत्मा का असर शरीर पर होता दिखाई देता है और कहीं शरीर का असर आत्मा पर पड़ा दिखाई देता है। जैसे आत्मा में क्रोध भाव उत्पन्न होने पर मुखाकृति का भयंकर बनना, भृकुटि चढना, चक्षु का लाल होना आदि। इसी तरह हर्ष होने पर मुख का प्रफुल्लित होना, भय होने पर शरीर का कांपना, कामभाव होने पर कामेन्द्रिय मे उत्तेजना होना यह सब शरीर पर होने वाला आत्मा का

असर है, तथा बाल शरीर की अपेक्षा युवा शरीर में ताकत का अधिक होना, वृद्धावस्था मे ताकत का घट जाना व स्थूल शरीर वाले पुरुष को दौड़ने-कूदने में कठिनाई का अनुभव होना, हाड़ मासमय एक समान देह होते हुए भी स्त्री और पुरुष की भिन्न-भिन्न आकांक्षा होना अर्थात् स्त्री को पुरुष से रमण करने की और पुरुष को स्त्री से रमण करने की इच्छा होना इत्यादि उदाहरण शरीर का असर आत्मा पर पड़ते हैं ।

प्रश्न—अगर शरीर और आत्मा का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तो दोनो को भिन्न न मानकर शरीर को ही आत्मा क्यों न मान लिया जावे ?

उत्तर—दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है । एक चेतन है दूसरा अचेतन है । अत· दोनों एक नहीं माने जा सकते है ।

अगर शरीर ही जीव हो तो मूर्च्छावस्था मे शरीर के रहते भी वह अचेत क्यों हो जाता है ? और निद्रावस्था में कर्ण, रसना आदि इन्द्रियों के होते हुए भी वह विषय को ग्रहण क्यों नही करता है । कोई मनुष्य शरीर और इन्द्रियाँ ज्यो-की-त्यो रहने पर भी पागल कैसे हो जाता है ? इससे प्रकट होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न चीजें है ।

जीव का स्वरूप जैन शास्त्रों मे निम्न गाथा मे कहा गया है—

जीवो उवओगमओ, अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो,
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।

—द्रव्य संग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

जीव चैतन्यमय है—जीता है, उपयोगमय है यानी ज्ञाता द्रष्टा है, अमूर्तिक यानी इन्द्रियों के अगोचर है, अच्छे-बुरे कार्यों का करने वाला है, उसका आकार अपना देह-प्रमाण है, और वह सुख-दुख का भोक्ता है । वह संसार में रह रहा है अर्थात् अनेक योनियो मे जन्म मरण करता रहता है, शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है । सब द्रव्यों मे एक पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो रूपी यानी दीखने में

आता है, शेष सब अरूपी है। कुछ पुद्गल ऐसे भी होते हैं जो अपनी सूक्ष्मता से नेत्रगोचर नहीं भी होते हैं तथापि वे अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य होने से रूपी ही माने जाते हैं। जैसे गंध, शब्द, हवा आदि। कुछ ऐसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल होते हैं जो सभी इन्द्रियों के अगोचर होने पर भी पुद्गल की जाति के ही माने जाते है जैसे कार्मणवर्गणा। जब कोई पुद्गल विशेष रूपी होकर भी अपनी सूक्ष्मता की वजह से नेत्र-गोचर नही होते है तब जीवद्रव्य तो अरूपी है, वह दृष्टि मे तो क्या अन्य किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण मे नही आ सकता है इसी भ्रम मे पड़कर कई लोग कहने लगते है कि यह शरीर ही जीव है, शरीर से भिन्न कोई जीव नाम का द्रव्य नही है। किन्तु ऐसा समझना मिथ्या है। आत्मा सूक्ष्म अरूपी होने से भले ही आँखों आदि से ग्रहण मे नही आता है तथापि जो देखने जानने वाला है, किसी की इच्छा करता है और जिसको हर्ष सुख-दुख का अनुभव होता है, वही आत्मा है। आत्मा के होने से ही प्रत्येक प्राणी को उसके शरीर के छिन्न-भिन्न करने से दुख होता है। आत्मा के निकल जाने पर मुर्दा शरीर को काटने जलाने आदि से कोई पीडा नहीं होती है। इससे जाहिर होता है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न चीजें है। उसके अलावा स्मृति, जिज्ञासा, संशयादि ज्ञान विशेष आत्मा के गुण है, उनका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से उन गुणो वाला आत्मा भी प्रत्यक्ष है, क्योकि गुण से गुणी भिन्न नहीं रहता है। जहाँ गुण है वहाँ गुणी भी अवश्य होता है। जैसे रूपादि गुण प्रत्यक्ष होने से उन गुणो का धारी घट भी प्रत्यक्ष है।

प्रश्न—माना कि गुण और गुणी अभिन्न है किन्तु शरीर ही आत्मा होने से वही गुणी है और ज्ञान उस शरीर का गुण है। ऐसा क्यो न मान लिया जाय?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि घट की तरह शरीर मूर्त्ति-वान् और चक्षुगोचर है। वह अमूर्त्तिक ज्ञानादि गुणों का आधार गुणी

नहीं हो सकता। गुण और गुणी में अनुरूपता होती है—विरूपता नहीं। अतः ज्ञानादि गुण जिसमें हैं वह शरीर से भिन्न अन्य कोई अरूपी द्रव्य है और वही आत्मा है।

प्रश्न—ज्ञानादि गुण शरीर के नही है। ऐसा कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। सब पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो से होता है और इन्द्रियरूप ही शरीर है। इन्द्रियाँ न हों तो कुछ भी ज्ञान नही होता।

उत्तर—आत्मा को पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। इसका अर्थ यह नही है कि आत्मा और इन्द्रियाँ अभिन्न है। क्योकि चक्षु एवं कर्ण के न रहने पर भी अर्थात् अंधा बहरा हो जाने पर भी उनसे उत्पन्न पहिले का ज्ञान आत्मा को बना रहता है। जैसे खिडकियों के द्वारा देखे हुए पदार्थों का बोध खिड़कियाँ बन्द कर देने पर भी देवदत्त को रहता है। अतः देवदत्त खिडकियों से जुदा है वैसे ही आत्मा इन्द्रियों से जुदा है। इसी तरह इन्द्रियो के रहने पर भी अगर आत्मा का उपयोग विषय-ग्रहण की ओर न हो तो पदार्थज्ञान नही होता है। इसलिए इन्द्रियो के होने पर भी आत्मा को पदार्थ ज्ञान नही होता और इन्द्रियों के न होने पर भी पदार्थज्ञान रहता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहादि से आत्मा कोई जुदी चीज है।

इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को इमली खाते देखकर मात्र उसका अनुभव करने से ही हमारे मुँह मे पानी आ जाता है। दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुभव करने मात्र से ही हमारी आँखो मे अश्रु पैदा हो जाते है। यहाँ अनुभव करने वाला शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही हो सकता है। एक इन्द्रिय से जानकारी हासिल करके दूसरी इन्द्रिय से कार्य करने, जैसे आँख से घट को देखकर हाथ से उसे उठाने इत्यादि रूप मे इन्द्रियों को सोच समझ कर काम मे लेनेवाला भी, इन्द्रियो से भिन्न ही कोई हो सकता है। देवदत्त मकान की किसी एक खिड़की से किसी को देखकर दूसरी खिड़की मे मुँह डालकर उसे बुलाता

है, यहाँ जैसे खिडकियों से काम लेनेवाला देवदत्त खिड़कियों से भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियों को काम में लेनेवाला आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है, जैसे थोडे ज्ञानवाले पाँच पुरुषों से अधिक ज्ञान वाला छठा पुरुष भिन्न है, उसी तरह एक-एक विषय को ग्रहण करनेवाली पाचों इन्द्रियों से सभी विषयो को ग्रहण करने वाला छठा आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है। एक सेठ अलग-अलग गुमास्ते रखकर उनसे अपनी इच्छानुसार अलग-काम लेता है। जैसे गुमास्तों से सेठ भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियों से अपनी इच्छानुसार अलग-अलग विषय को ग्रहण करने वाला उनका अधिष्ठाता आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है। जैसे रेल के डिब्बे इंजन की गति विशेष के अनुसार चलते है, मुडते हैं, दौडते है, धीमे चलते हैं, उसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा की प्रेरणा से कार्य करती है। रेल के डिब्बों से इंजन भिन्न है उसी प्रकार इंद्रियो से आत्मा भिन्न है।

इस प्रकार से जब स्वशरीर मे आत्मा की सिद्धि होती है तो उसी तरह परशरीर मे भी आत्मा है। क्योकि जैसे स्वशरीर मे आत्मा होने से इष्ट में प्रवृत्ति देखी जाती है, तद्वत् परशरीर मे भी इष्ट अनिष्ट मे प्रवृति देखी जाती है। अतः परशरीर मे भी आत्मा है, यह प्रमाणित होता है। इससे जीवो की अनेक संख्या सिद्ध होती है, किन्तु सब संसारी जीवों में ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाने के कारण सब जीव सर्वथा एक समान नहीं है, यह भी सिद्ध होता है। इस असमानता का कारण उनका अपना स्वभाव नहीं है। किन्तु उन पर होने वाला पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं का आवरण है।

शरीर यद्यपि अचेतन है तथापि वह चेतन जीव द्वारा चलाये जाने के कारण चेतन सदृश ही दिखाई देता है। जैसे कि बैलो द्वारा चलाया शकट बैलों की तरह ही चलता हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न—अगर आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह जन्म के समय शरीर मे प्रवेश करते और मृत्यु के समय शरीर से निकलते किसी को क्यों नहीं

दिखती है ? जैसे पुष्प से गंध भिन्न नहीं, उसी तरह आत्मा भी शरीर से भिन्न नहीं है। जैसे पुष्प के नाश होने से गन्ध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है। गर्भ में शुक्रशोणित के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होता है। वही शनैः-शनैः बढ़ने लगता है। वहाँ अन्य स्थान से जीव आकर उसमें स्थान कर लेता है ऐसा कहना केवल कल्पना है।

उत्तर—दूर से आया हुआ शब्द नेत्रों द्वारा नहीं देखा जाता। वह कान द्वारा ही ज्ञात होता है। फिर आत्मा तो सूक्ष्म अरूपी और अमूर्त्त है। वह न नेत्रो के गोचर है और न अन्य इन्द्रियों के। इसलिए जीव जन्म-मरण के समय आता-जाता दिखाई नहीं देता है, जैसे चम्पाके पुष्पको तेलमे क्षपण करनेसे उसकी सुगन्ध पृथक् होकर तेलमें मिल जाती है किन्तु पुष्प बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा मृत्युके समय इस शरीरसे निकलकर भवान्तरमें, अन्य शरीरमें, चला जाता है और पूर्व शरीर यहाँ पड़ा रह जाता है। माता-पिता के शुक्रशोणित से बनने वाली देह के सिवा उसमें आने वाली आत्मा का निषेध किया सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि माता-पिता कई बार मैथुन कर्म करते है, किन्तु गर्भ तो कभी-कभी ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जब कभी उस समय भवान्तर से जीव आने का संयोग बैठता है तभी गर्भ रहता है। अगर गर्भोत्पत्ति मे एक मात्र शुक्रशोणित ही कारण होता तो माता-पिता के हर मैथुन कर्म के समय मे गर्भ रहना चाहिए था। जैसे वनस्पति सचित्त अवस्था मे होने पर ही जल सींचने से बढती है सूखा ठूँठ अचित्त होने से नहीं बढता है उसी तरह गर्भ की वृद्धि भी सजीव अवस्था मे ही होती है, निर्जीव अवस्था मे नहीं। साधु लोग बरसों नंगे पाँव चलते हैं। पर उनके तलुवे नहीं घिसते है, जब कि जूता पहन कर चलने से वह कुछ काल मे ही घिस जाता है। इसका कारण यही है कि तलुवे सजीव है। उन्हे खुराक मिलती रहती है जिससे वे घिसते नही। जूता निर्जीव होने से घिसता

है। पुष्प का नाश होने से उसकी गन्ध का भी नाश हो जाता है, उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश हो जाता है, ऐसा मानना समीचीन नहीं है। क्योंकि मृत्यु के समय देह का नाश कहाँ होता है? देह तो मौजूद रहती है। फिर क्यो मृत्यु होनी चाहिए।

प्रश्न—देह तो रहती है पर जिन भू, जल, अग्नि आदि पंचभूतों के समुदाय से देह मे चेतना उत्पन्न होती है, उनके जीर्ण हो जाने पर देह के रहते भी चेतना नहीं रहती है। इसे ही मृत्यु कहते हैं। जैसे धातकी, पुष्प, दाख, जल आदि के मिश्रण से शराब मे मादकता उत्पन्न होती है। वह मादकता शराब पुरानी पड़ जाने पर भी शराब के रहते हुए उसमे से निकल जाती है।

उत्तर—पंचभूतो मे से किसी भी भूत मे चेतना नहो है। फिर वह पंचभूतो के मिश्रण से कैसे उत्पन्न हो सकती है? यदि कहा जाय कि धातकी आदि अलग-अलग द्रव्य मे मादकता नही है किन्तु सबके मिलने पर मद्य उत्पन्न हो जाता है उसी तरह पंचभूतो मे से अलग-अलग किसी मे चेतना न होने पर भी उनके समुदाय मे चेतना उत्पन्न हो जाती है किन्तु ऐसा ही हो तो जलते हुए चूल्हे पर पानी की भरी हंडिया को गरम करते समय पंचभूत इकट्ठे हो जाते है, वहाँ चेतना क्यो नही पैदा होती है? मद्य के प्रत्येक उपादान द्रव्य मे अगर मादकता के कुछ अंश न हों तो उनके समुदाय मे भी मादकता कैसे हो सकती है? और फिर धातकी आदि से ही मद्य क्यो बनता? अन्य द्रव्यों से क्यो नहीं? जैसे हर रजकण मे तेल के अश नही होते तो उसके समुदाय मे भी तेल उत्पन्न नही होता है। उसी तरह मद्य के हर एक उपादान द्रव्य मे मादकता न होती तो उनके समुदाय मे भी मादकता नही हो सकती थी। सही चीज तो यह है कि धातकी आदि से जो मदिरा पैदा होती है सो धातकी आदि भी पुद्‌गल है और उनसे उत्पन्न मदिरा भी पुद्‌गल है। अत: पुद्‌गल से पुद्‌गल ही पैदा हुआ उसी तरह पंचभूत

भी पुद्गल है तो उनमें भी पौद्गलिक शरीर ही पैदा हो सकता है, चेतनामय आत्मा नही। पुरानी हो जाने से शराब रहते भी शराब में से मादकता निकल जाती है उसी तरह शरीर के जीर्ण हो जाने से शरीर रहते भी उसमे से चेतना निकल जाती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि सब ही की मृत्यु वृद्धावस्था में होती तो यह भी मान लिया जाता कि शरीर के जीर्ण होने से चेतना नष्ट हो गई किन्तु मृत्यु तो छोटे बच्चो व युवाओ की भी देखी जाती है, यहाँ तक कि कोई तो गर्भ मे ही मर जाता है।

प्रश्न—धातकी दाख आदि प्रत्येक मे अल्परूप मे मादकता विद्यमान होती है। इस सिद्धान्त को मान लेते है। उसी तरह पचभूतो मे भी प्रत्येक मे चेतना के अश है और उनके समुदाय मे पूरी आत्मा बन जाती है।

उत्तर—ऐसा मानने मे भी बाधा है। पचभूत पुद्गल है—मूर्तिक है, उनके अश अमूर्तिक-चेतनास्वरूप कैसे हो सकते है? और सब भूतो के इकट्ठे हो जाने पर चेतना की नई उत्पत्ति मानी जाय तो मृत शरीर मे भी समुदाय तो रहता ही है। फिर उसमे आत्मा का अभाव क्यो है? यदि कहो कि मृत शरीर मे से वायु निकल जाने के कारण चेतना नही रहती, तो नली के द्वारा वायु प्रवेश कराने पर चेतना पैदा हो जानी चाहिए। पर पैदा नही होती है, जो कहो कि उस वक्त तेज का अभाव होने से चेतना पैदा नही होती है और चेतना पैदा होने योग्य विशिष्ट वायु की उपलब्धि भी नही होती है, तो फिर या ही क्यो न कहो कि वह तेज और विशिष्ट वायु आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कोई नही है?

प्रश्न—जैसे मिट्टी जल आदि के सयोग से धान्य आदि पैदा होना प्रत्यक्ष देखते है, वैसे ही भूतो के सयोग से जीव पैदा होते है ऐसा मानना भी उचित ही है।

उत्तर—धान्य के पैदा होने मे मिट्टी जलादिक उपादान कारण नही

हैं। उपादान कारण उनके बीज में है। वे बीज मिट्टी जलादि से भिन्न हैं। उसी तरह शरीर में चेतना भूत समुदाय की नहीं है किन्तु भूत-समुदाय से भिन्न आत्मा की है। जैसे एक वृद्ध पुरुष का ज्ञान युवावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है और युवावस्था का ज्ञान बाल्यावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था का ज्ञान भी उसके पूर्व को किसी अवस्था का होना चाहिये। वह अवस्था उस जीव के पूर्व भव की ही सम्भव है। जैसे जीव को वृद्धावस्था मे अनेक अभिलाषायें होती हैं। उसके पूर्व युवावस्था मे भी होती थीं और युवावस्था के पूर्व बाल्यावस्था मे होती हैं। वैसे ही बाल्यावस्था के पूर्व भी कोई अवस्था होनी चाहिये ताकि इच्छाओं की परम्परा टूट न सके। वह अवस्था जीव का पूर्व जन्म ही हो सकती है। इसी कारण से तो जन्म लेते ही बछडा गाय का स्तन चूसने लगता है। इससे यही सिद्ध होता है कि भवांतर से जीव आकर शरीर को अपना आश्रय बनाता है। वर्तमान मे भी समाचार-पत्रों में पूर्व जन्म की घटनाये छपती रहती हैं। अगर पूर्व जन्म नहीं है तो बिल्ली का चूहे से और मयूर का सर्प से स्वाभाविक वैर होने का क्या कारण है?

प्रश्न—यदि प्रत्येक शरीर मे जीव भवांतर से आता है तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर में जो जीव है वही पूर्व जन्म के शरीर में था। शरीर बदला है जीव तो वही है। तो फिर सभी जीवो को पूर्व जन्म की बातें याद क्यों नहीं है?

उत्तर—जैसे वृद्धावस्था मे किन्ही को अपनी बाल्यावस्था की बातें याद रहती है और किन्हीं को नही रहती है, इसी प्रकार किसी जीव को भवांतर की बातें याद आ जाती है, किसी को नही। इसमें कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है। दूसरी बात यह है कि जिन बातो पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती है और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो, वे निकट भूत की भी स्मरण मे नहीं रहती हैं। मनुष्य को अपनी गर्भावस्था

का स्मरण इसीलिये नहीं रहता है कि वहाँ उसको किसी विषय पर गम्भीरता पूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नहीं होती है, इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोड़कर अगले शरीर को धारण करने मे प्रथम तो बीच मे व्यवधान पड जाता है, दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने में भी समय लगता है। चूँकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति मे शरीर और इंद्रियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यदि पूर्व जन्म मे जीव असंज्ञी रहा हो तो वहाँ किसी विषय का चिंतन ही न हो सका। अतएव अगले जन्म में याद आने का प्रश्न ही नहीं रहता है : इत्यादि कारणों से प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण का होना सुलभ नहीं है।

प्रश्न—एक लोहे की कोठी में किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय और उस कोठी के सब छिद्रों को ढँक दिया जाय तो प्राणी मर जाता है। उस प्राणी को आत्मा उस कोठी से बाहर निकल जाती है। मगर उस कोठी मे कहीं छिद्र नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि उस प्राणी का जो शरीर था वही जीव था।

उत्तर—उस कोठी मे शंख देकर किसी आदमी को बैठाया जावे और सब छिद्र बन्द कर दिये जावें। फिर उस कोठी मे बैठा आदमी शंख बजावे तो शंख की आवाज कोठी के बाहर सुनाई देती है। आवाज के निकलने से कोठी में कहो छेद हुआ नजर नहीं आता है। फिर आत्मा तो आवाज से भी अत्यधिक सूक्ष्म है। आवाज मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है। आत्माके निकलने पर कोठी मे छेद होने की क्या जरूरत है ?

प्रश्न—मरणासन्न मनुष्य को जीवित अवस्था मे तोला जाय और फिर मरने के पश्चात् तत्काल तोला जाय तो वजन मे कमी नहीं होती है। अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था।

उत्तर—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा

निकालने के बाद भी उसमे रहता है। जब हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नही आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है। उसके निकल जाने पर शरीर के वजन मे कमी कैसे आ सकती है ?

प्रश्न—आँख ठीक हो तो दिखाई देता है, कान ठीक हो तो सुनाई देता है। दोनो ही मे खराबी आ जाने पर आत्मा न देख सकती है, न सुन सकती है। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है। कोई अलग आत्मा नही है।

उत्तर—स्वप्नावस्था मे मनुष्य अपनी इन्द्रियों को काम में लिये बिना भी देखता है, सूँघता है, खाता है, पीता है। यहाँ तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है। इस प्रकार की बातें निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

प्रश्न—जीवों की उत्पत्ति भौतिक संमिश्रणो के आधार पर होती है। या तो माता-पिता के रजोवीर्य के मिलने पर या इधर-उधर के परमाणुओं से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है। जैसे आटे मे जीव पड़ना, बालों मे जूँ पडना आदि। अगर ये सब जीव भवान्तर से आकर पैदा होते हैं तो भवान्तर के शरीर को छोड़ते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वैसे ही शरीर का संयोग अपने आप कैसे बन जाता है ? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय मे आना है तो उसके मरते ही कहीं अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये, ताकि वह उसमे आ सके। इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नहीं है। इससे तो यही क्यों न माना जाय कि भौतिक मिश्रणो से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। यह नहीं कह सकते कि कोई जीव भवान्तर के शरीर से निकलने के बाद, जब तक उनके योग्य शरीर की सामग्री का संयोग न मिले तब तक यों

ही भटकता रहता है। क्योंकि विग्रहगति में अधिक से अधिक काल जैन-सिद्धान्त मे तीन समय मात्र बताया गया है। चौथे समय में तो उसे जहाँ भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पड़ता है। यह तीन समय का काल बहुत ही थोड़ा है। जैन-शास्त्रों में एक श्वास में ही असंख्यात समय बताये हैं।

उत्तर—जैन-शास्त्रों मे जीवों का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन, उपपाद और गर्भ। इनमें से सम्मूर्च्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नहीं है। यह जन्म रजोवीर्य के संयोग से नहीं होता है। यह तो तीन लोक मे फैले हुए इधर-उधर के पुद्गल पदार्थों से ही हो जाता है अतः अगणित जीवों के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक में सामग्री भरी पड़ी है। उपपाद जन्म देव-नारकियों का होता है। इस जन्म के लिए भी माता-पिता के संयोग को जरूरत नहीं है। इस जन्म के लिये तो नियत स्थान बने हुए हैं और वे सदा तैयार मिलते हैं। रहा गर्भजन्म, उसके लिये अगर माता-पिता के संयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नहीं है। मैथुन कर्म करने वाले जीवों की लोक में कोई कमी नहीं है। यह संयोग भी हर समय मिल ही जाता है। मैथुन के अन्त मे ज्यों ही रजोवीर्य का पतन होकर मिश्रण हो, उसी समय भवान्तर से जीव आकर उसमें पैदा हो, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण में सात दिन पश्चात् तक जीव का आना बताया गया है।

इस तरह से जीवो के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है।

●

भरतैरावत में वृद्धिह्रास किसका है ?

श्री भगवदुमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में एक सूत्र है कि 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।' इसका शब्दार्थ ऐसा होता है कि—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह कालों मे भरत और ऐरावत का वृद्धि ह्रास होता है। इस सामान्य वचन के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो यह है कि—'भरत और ऐरावत का क्षेत्र घटता बढता हैं और दूसरा यह कि 'भरतैरावत मे प्राणियो के आयुकायादि घटते बढते रहते है। भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ....' और 'ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः' इन सूत्र वाक्यो से न मालूम सूत्रकार का असली अभिप्राय क्या था ? तत्त्वार्थसूत्र पर जो राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसार जैसी विशाल टीकाये है वे भी एकमत नहीं है और इन टीकाओ के अतिरिक्त अन्य जैनग्रथो का भी प्रायः यही हाल है। इन सब मे कोई ग्रंथकर्ता तो 'आयुकायादिकी वृद्धि ह्रास का कथन करते है किन्तु 'भूमि का वृद्धि ह्रास नही हो सकता, या हो सकता' ऐसा कुछ नही कहते। कोई आयुकायादि की ही वृद्धि ह्रास बताते है और भूमिके वृद्धि ह्रास का स्पष्ट खंडन करते है। तथा कोई ऐसे भी है जो क्षेत्र की घटाबढी का मुख्य उल्लेख करते है व आयुकायादि की घटाबढी गौणरूप से बताते है और कोई सूत्रकार की तरह केवल सामान्य ही विवेचन करते है। नीचे हम पाठको की जानकारी के लिये इसी बात को ग्रथों के उद्धरण दे कर स्पष्ट करते है। आचार्य नेमिचन्द्र त्रिलोकसार मे कहते है कि—

> "भरहेसुरेवदेसु ये ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कालदुगा।
> उस्सेधाउवलाणं हाणीवड्ढी य होंतित्ति ॥ ७७९ ॥

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के शरीर की ऊंचाई आयु बल, इनकी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल में क्रम से वृद्धि हानि होती है।

सकलकीर्ति कृत मल्लिनाथपुराण के ७ वें परिच्छेद में लिखा है—

"उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः षट्काला हानिवृद्धिजाः।
आयुःकायादिभेदेन सर्वे प्रोक्ता जिनेशिना ॥ ८८ ॥"

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल आयु कायादि की हानि-वृद्धि को लिये हुये हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इन अवतरणों से इतना ही सिद्ध है कि 'आयुकायादि की हानिवृद्धि होती है' किन्तु इससे क्षेत्र का हानिवृद्धि विषयक कुछ भी विधिनिषेध प्रकट नहीं होता। अस्तु आगे देखिये—

तत्त्वार्थ राजवार्तिक के तीसरे अध्याय मे उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुये श्रीमद्भट्टाकलंकदेव कहते हैं कि—

"इमौ वृद्धिह्रासौ कस्य भरतैरावतयोर्ननु क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके कथं तयोर्वृद्धिह्रासौ अत उत्तरं पठति।"

अर्थ—यह घटना बढ़ना भरत और ऐरावत क्षेत्रो का है। यदि यहाँपर यह शंका हो कि—भरत और ऐरावत क्षेत्र तो अवधिवाले स्थित हैं कभी उनका बढ़ना घटना नहीं हो सकता फिर यहाँ उनके वृद्धिह्रास का उल्लेख कैसा ? वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं—

"तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः ॥ १ ॥ इहलो के तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं भवति यथा गिरिस्थितेषु वनस्पतिषु दह्यमानेषु गिरि-दाह इत्युच्यते। तथा भरतैरावतस्थेषु मनुष्येषु वृद्धिह्रासावापद्यमानेषु भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासावुच्येते।"

अर्थ—संसार मे तात्स्थ्य रूप से ताच्छब्द्यका अर्थात् आधेयभूत पदार्थों-का कार्य आधारभूत पदार्थों का मान लिया जाता है, जिस प्रकार पर्वतमे विद्यमान वनस्पतियों के जलने से गिरिदाह माना जाता है उसी प्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्रों के मनुष्यो मे वृद्धिह्रास कह दिया जाता है।

"अधिकरणनिर्देशो वा ॥ २ ॥"

"अथवा भरतरावतयोरित्यधिकरणनिर्देशोऽय स चाधेयमाकाक्षतीति भरते ऐरावते च मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ।"

अथ—अथवा 'भरतैरावतयो' यह अधिकरणनिर्देश है। अधिकरण सापेक्ष पदार्थ है वह अपने रहते अवश्य आधेय की आकाक्षा रखता है। भरत और ऐरावत रूप आधार के आधेय मनुष्य आदि है इसलिए यहाँ पर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे मनुष्यो का वृद्धि और ह्रास होता है। इसी सूत्र का विवेचन करते हुए पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि मे ऐसा कहा है—

"वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ। काभ्या पट्समयाभ्याम्। कयो भरतरावतयो। न तयो क्षेत्रयोवृद्धिह्रासौ स्त। असम्भवात्। तत्स्थाना मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ भवत। अथवा अधिकरणनिर्देश भरते ऐरावते च मनुष्याणा वृद्धिह्रासाविति। किकृतौ वृद्धिह्रासौ? अनुभवायु प्रमाणादिकृतौ।"

भावार्थ—पटकालो मे जो वृद्धि ह्रास होता है वह भरतैरावत के क्षेत्र का नही होता, क्योकि यह असम्भव है किन्तु भरतैरावत मे स्थित मनुष्योके भोगोपभोग आयुकायादि का होता है। वही अधिकरण निर्देश से भरतैरावत का कहा जाता है।

इन उल्लेखो से साफ प्रकट है कि 'भरतरावत क्षेत्र की हानि वृद्धि नही हो सकती। बल्कि सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने तो उसे बिल्कुल असम्भव बताया है। अब सामान्य कथन देखिये—

महाकवि वीरनन्दि ने चन्द्रप्रभचरित काव्य के १८वें सर्ग मे कहा है कि—

'भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी कालभेदत ।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालभेदावुदाहृतौ ॥ ३४ ॥"

तथा अमृतचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार मे लिखा है कि—

"उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे ।
भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित् ॥२०८॥"

इन श्लोकों में वही सामान्य कथन किया है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में है। इसी ढंग को लिये हुए ऐसा ही अस्पष्ट कथन हरिवंशपुराण मे जिसमें कि तीन लोकका खूब विस्तृत वर्णन है, जिनसेन ने लिखा है। यथा—

कल्पस्ते द्वे तथार्थानां वृद्धिहानिमती स्थितिः ।
भरतैरावत क्षेत्रेष्वन्येष्वपि ततोऽन्यथा ॥

सातवें सर्ग के ६३वें श्लोक का हिन्दी अनुवाद ऐसा है 'उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी मे भरतैरावत के पदार्थो का वृद्धि ह्रास होता है'।

अब क्षेत्र की हानि वृद्धि मानने वालो की सुनिये। विद्यानंद महोदय अपने श्लोकवार्तिक मे 'ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिता' सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते है कि—

"न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणा च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्। प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमातरस्य च तद्बाधकस्याप्रमाणत्वात्। तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिह्रासयोगायोगाभ्या विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते।" (पृ० ३५४)

इसका भाव ऐसा है कि—भरतैरावत क्षेत्रका वृद्धिह्रास मानने पर ऊपर तीन सूत्रों मे जो भरतादिक्षेत्र और हिमवदादि वर्षधर पर्वतों का विस्तार वर्णन किया है उसमे बाधा आएगी। शंकाकार की इस शंका का उत्तर देते हुये विद्यानदि लिखते है कि—'उसमे कोई बाधा नही आ सकती क्योकि वह प्रत्यक्ष अनुमान का विषय नहीं है। रही आगम प्रमाण की बात सो प्रवचन का एक देश तो उसमे कोई बाधा नहीं देता और जो उसके बाधक आगमान्तर है वे अप्रमाण है इसलिए सूत्रद्वय से जो भरतैरावत और अपर भूमिके वृद्धिह्रासके योग अयोगका किया कथन है वह अबाधित है।

जो लोग इसका विपरीत भाव निकालते है उन्हे श्लोकवार्तिक के पृष्ठ ३७८ की निम्नस्थ पंक्तियो पर ध्यान देना चाहिए—

"भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्या इति वचनात् तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मन्तव्यं, गौणशब्दप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात् । तेन भरतैरावतयो क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथा वचनं सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुल्लघिता स्यात्" ।

भावार्थ—"भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ····" इत्यादि सूत्रकार के वचनों से क्षेत्रस्थित मनुष्यों के आयुकायादि का वृद्धिह्रास प्रतिपादन किया है न कि पौद्गलिक भूमिका । प्रतिवादी का ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि गौण शब्द के प्रयोग से मुख्य अर्थ घटित होता है वर्ना निष्ययोजन मुख्य शब्द का अर्थ क्यो छोड़ा जावे । अत. भरतैरावत के क्षेत्र का वृद्धिह्रास मानना ही मुख्य है और उन क्षेत्रस्थ मनुष्यो का वृद्धिह्रास मानना गौण है इस प्रकार कहना ही ठीक है और यही प्रतीति मे आता है ।

श्लोकवार्तिक के इस कथन से साफ है कि विद्यानंदस्वामी भूमि की घटी-बढी को मुख्य रूप से मानते है साथ ही उनकी उक्त कारिका से यह भी प्रकट होता है कि उस समय क्षेत्र की हानि वृद्धि को मानने वाले और न मानने वाले दोनो प्रकार के आगम मौजूद थे, जिसे उन्होने 'प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमान्तरस्य च तद्बाधकस्याप्रमाणत्वात्' शब्दो से प्रकट किया है और क्षेत्र की हानिवृद्धि के बाधक आगम को अप्रमाण कोटि मे डाल दिया है । न केवल यही बल्कि श्लोकवार्तिक मे कालभेद से भूमि को समतल मानने से भी इन्कार किया है जैसा कि उसकी निम्न पंक्तियो से जाहिर किया है—

'न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात्' पृष्ठ ३७७ ।

पुनः—

'तदापि भूमिनिम्नत्वोन्नतत्वविशेषमात्रस्यैव गते· तस्य च भरतैरावत-योर्दृष्टत्वात्' पृष्ठ ३७८।

ऐसे ही गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण के इस श्लोक से ध्वनित होता है। यथा—

"ततो धरण्या वैषम्यविगमे सति सर्वतः।

भवेच्चित्रा समाभूमिः समाप्तात्रावसर्विणी ॥३५३॥ —पर्व ७६"

अर्थ—इसके बाद पृथ्वी का विषमपना सब नष्ट हो जायेगा और चित्रा पृथ्वी निकल आवेगी तथा यहाँ ही पर अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायेगा।

श्लोकवार्तिक मे अन्य भी कई ऐसी बातें है जो ग्रन्थान्तरों से एकमत नहीं रखती, उनका विशेष विवेचन अन्य स्वतन्त्र लेख द्वारा बताया जा सकता है। श्लोकवार्तिक मे एक खास उल्लेख योग्य विषय यह है कि—'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयोर्नृलोके' सूत्र के निरूपण करते हुए भूगोल भ्रमण पर अच्छा विचार किया गया है इस प्रकार का वर्णन अन्य संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों मे नही मिलता है। यह खूबी श्लोकवार्तिक मे ही है।

इस विषय मे श्वेताम्बरों का आगम निम्न प्रकार है—

आत्मारामजी कृत 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' पुस्तक के पृष्ठ ४५ मे लिखा है कि—

'शाश्वती वस्तु घटती बढती नही है सो भी झूठ है क्योकि गंगा-सिंधु का पाट, भरतखण्ड की भूमिका, गंगासिन्धु की वेदिका, लवण समुद्र का जल वगैरह बढते-घटते है।'

इस सारे विवेचन मे जो ऊपर दिगम्बर जैनों के आगम वाक्य उद्धृत किये गये है उनमे करीब-करीब सब ही विद्यानन्द से सहमत नहीं मालूम होते, खासकर अकलंक और पूज्यपाद तो बिलकुल ही विरुद्ध है। हरिवंश-पुराण का कथन श्वेताम्बरोके सम्यक्त्व शल्योद्धार से कुछ समता रखता

है। हाँ, अलबत्ता सूत्रकार के वचन जरूर विद्यानन्द की तरफ झुकते ज्ञात होते है और श्वेताम्बरों के उक्त कथन के साथ तो विद्यानन्द का अति साम्य है ही। किन्तु दि० जैन ग्रन्थ ऐसा देखने मे नही आता जिसमे विद्यानन्द की तरह क्षेत्र की हानि वृद्धिका स्पष्ट उल्लेख हो। विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इस विषय के प्राचीन ग्रन्थ टटोलें। खोज करने पर जरूर कुछ इस विषय रहस्य का उद्‌घाटन होगा। विद्यानन्दजी के "प्रवचनैकदेशस्य च तद्‌बाधकस्याभावात्" वाक्य से तो वैसा कथन मिलने की और भी अधिक सम्भावना है।

स्वामी विद्यानन्दजी बडे नैयायिक विद्वान् थे इसलिये तर्क बल से वैसा कथन कर दिया होगा ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है। विद्यानन्द जैसे एक ऊँचे आचार्य के प्रति वैसी भावना रखना एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझना चाहिये। किसी सिद्धान्त की बात को स्वरुचि से निरूपण करना स्वयं विद्यानन्दजी ने अनादरणीय कहा है। यथा—"स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षवतामनादरणीयत्वात्' श्लोकवार्तिक पृ० २।

पुन —

'न पूर्वशास्त्रानाश्रयं यतः स्वरुचिविरचित्वादनादेयं प्रेक्षावता भवेदिति यावत्' श्लोकवार्तिक पृ० २।

जिन्होने विद्यानन्दजी के ग्रन्थो का मनन किया है वे मानते है कि जिन शासन का जो कुछ भी गौरव है उसका श्रेय विद्यानन्द जैसे आचार्य महोदयों को ही है। अत. विद्यानन्दजी की कृति पर अश्रद्धा प्रकट करना निःसार है। बल्कि हमे तो उनसे अपने को धन्य समझना चाहिए कि— ऐसे ऐसे तार्किक दिग्गज विद्वानों ने भी परमपावन जिनेन्द्र का आश्रय लिया है और जब कि विद्यानन्द स्वामी ने खुद अपने कथन को प्रवचन के एक देश से अबाधित लिखा है तो फिर स्वरुचि रचना की कल्पना उठाने को स्थान ही कहाँ है ?

●

उपलब्ध जैन ग्रन्थों में ज्योतिश्चक्र की व्यवस्था

सम्पूर्ण जैन वाड्मय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे चार अनुयोगों में गुंफित है। सृष्टि की तमाम रचनाओं का हाल करणानुयोग मे पाया जाता है। आजकल करणानुयोग का अधिकांश विषय आक्षेप का स्थान बना हुआ है। सूर्यादि के भ्रमण से रात्रि दिन को जैसी कुछ व्यवस्था जैन-ग्रन्थो मे पायी जाती है उस पर तो हमारे कतिपय भाइयों को विश्वास ही नही है। और एक इसी बात से वे लोग सारे ही जैन-धर्म को अश्रद्धा की नजर से देखते है। ऐसे लोग जितनी तत्परता शंकायें करने मे दिखाते है उसकी शतांश भी कोशिश उनके दूर करने की नही करते। यह भी नही कि शंका करने वालो ने उपलब्ध जैन-ग्रन्थो को भी अच्छी तरह देख लिया हो। तत्त्व निर्णय के इच्छुक का काम केवल शंका खडी करने का ही नही है किन्तु उसके समाधान का उद्योग करना भी है। पाठको को याद होगा कि बाबू जगरूपसहायजी वकील ने पहिले एक विज्ञप्ति निकाली थी कि—'जैन शास्त्रो से कोई छह मास का रात्रि-दिन सिद्ध कर दें तो उसे मै एक हजार रुपये भेट में दूगा।' उत्तर मे मैंने जैन गजट मे छपाया था कि वकील साहब, रुपये किसी मध्यस्थ के यहाँ जमा करा दे तो मैं सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा। बस उसी दिन से वकील साहब चुप हो गए। इसी एक उदाहरण से पता लगता है कि लोग इस मामले मे कितने स्वच्छन्द है और वे शंका उठाने की कितनी जल्दी करते हैं। यह विषय कोई बच्चों का खेल नही है जो चुटकियों मे ही उड़ा दिया जावे। बड़ा गहन है और ऐसा गहन है जिस पर सम्मिलित रूप से विचारशील विद्वानो के द्वारा गम्भीर दृष्टि से बड़ी शांति के साथ विचार होना चाहिये। इसकी गूढ ग्रंथियों के सुलझाने के साधन भी वर्त-

मान में बहुत ही विकट हो चले है। प्रथम तो इस विषय के ग्रन्थ ही पूरे नही मिलते। अमितगति कृत चन्द्रप्रज्ञप्ति सुनी जाती है वह कहाँ है? सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक मे समतल से ज्योतिष्को की ऊँचाई निरूपक उक्तं च गाथा आती है वह कहाँ की है? त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे तो वह है नही। त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न दो गाथाओं मे भी 'लोक-विभाग' और 'लोक व्युच्छित्ति' का उल्लेख मिलता है—

जो इट्ठुणणयरीण सव्वाणं रुंदमाण सारिच्छं।
बहलं तं मण्णते लोगविभागस्स आइरिया ॥११५॥
पण्णासाधिय दुसया कोदंडा राहुणयरवहलत्तं।
एवं लोयविछिण्णय कत्ताइरिया परूवेदी ॥२०३॥

ये दोनो गाथा पाठातर है जिनमे अन्य ग्रन्थों के मत दिये गये है। ये ग्रन्थ कहाँ है?

'लोकप्रकाश' श्वेताम्बर ग्रन्थ के पत्र २८८ मे भी इस विषय के 'कर्मप्रकृत्यादि' नामक दिगम्बर ग्रन्थ तथा 'करणविभावना' ग्रन्थ, एवं पूर्वाचार्यों की कितनी ही गाथाओ का उल्लेख है। इत्यादि ग्रन्थ न जाने किस कालकोठरीमे अपनी आयु समाप्त कर रहे है।

इस तरह एतद्विषयक बहुतेरा साहित्य लुप्त प्रायः हो रहा है।

इसके अलावे जैनभूगोल का ठीक ठीक ज्ञान न होने का यह भी कारण है कि कई शताब्दियो पहिले ही से यह विषय बहुत कुछ विच्छेद हो चुका था। इस विषय के जो ग्रन्थ आज मिल रहे है उनके कर्ताओं के वक्त ही कोई इसका पूर्णज्ञानी न रहा था। यह आपको निम्न अवतरणो से मालूम होगा।

"त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे लिखा है कि—

संपइ कालवसेणं ताराणामाण णत्थि उवदेसो ॥३२॥
परिहीसु ते वरंते ताणं कणयाचलस्स विच्चालं।

अण्णंपि पुव्वभणिदकालवसादो पणट्ठउवएसं ॥४५७॥
ताणं णामप्पहुदी उवएसो संपइ पणट्ठो ॥४९४॥
—ज्योतिर्लोकाधिकार

अर्थ—कालवश से ताराओं के नामो का उपदेश वर्तमान में नहीं रहा है। ग्रहों की परिधियें, उनका मेरु से अंतराल तथा अन्य भी पहिले सूर्य चन्द्र का कहा हुआ जैसा कथन है यह सब उपदेश कालवश से नष्ट हो गया है। उन ताराओं के नामप्रभृतिका उपदेश वर्तमान में नष्ट हो गया है।

श्वेताम्बरो के 'लोकप्रकाश' नामक ग्रन्थ के २८८' वें पत्र मे भी लिखा है कि—

अनंतरं नरक्षेत्रात्सूर्यचन्द्राः कथं स्थिताः।
तदागमेषु गदितं साम्प्रतं नोपलभ्यते ॥

अर्थ—मनुष्यक्षेत्र के आगे सूर्य चन्द्रमा किस तरह स्थित हैं, तत्प्रतिपादक आगम इस समय उपलब्ध नहीं है।

इसी ग्रन्थमे "तत्तु संप्रदायगम्यं" 'तत्तु बहुश्रुतगम्यं' 'वेत्ति तत्त्वं तु केवली' इस प्रकार के शब्दो से कितनी ही जगह एतद्विषयक ज्ञान को कमी जाहिर की है।

ये सब अवतरण इस बात को सूचित करते हैं कि उस समय भी ज्योतिर्लोक को बहुत सी बाते लुप्त हो चुकी थी। और यही कारण है जो आज इन उपलब्ध ग्रन्थों मे यह बहुत कुछ मतभेद के साथ पाया जाता है जिसका कुछ दिग्दर्शन नीचे करा देना उचित होगा।

इस विषय के दिगम्बर, श्वेताम्बर ग्रन्थ जो हमारे देखने मे आये उनके नाम है—दिगम्बर ग्रन्थ जैसे—त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सिद्धान्तसारदीपक, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और हरिवंशपुराण। श्वेताम्बर ग्रन्थ जैसे—सूर्यप्रज्ञप्ति, लोकप्रकाश, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, बृहत्क्षेत्रसमास टीका,[1] और संग्रहणीसूत्र।

नीचे का जो कुछ वक्तव्य है वह इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर समझना चाहिये—

१—त्रिलोकसार गाथा ३३२ मे समतल भूमि से ज्योतिष्कों की ऊँचाई बताई है वहाँ चन्द्रमा से चार चार योजन ऊँचे नक्षत्र और बुध बताकर फिर उनसे तीन तीन योजन ऊँचे शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनि के विमान बताये है। किंतु राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक मे कुछ फर्क है। वहाँ चन्द्रमा से नक्षत्र, बुध, शुक्र और बृहस्पति को तीन-तीन योजन ऊँचे बताकर फिर उनसे मंगल, शनि को चार-चार योजन ऊँचे बताये हैं।

शेष सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दि० ग्रन्थो और कुछ एक श्वे० ग्रन्थों मे त्रिलोकसारवत् ही कथन हैं[1]। राजवार्तिकादि में जिस उक्तं च गाथा के आधार से उक्त कथन किया है वही गाथा सर्वार्थसिद्धि मे भी उक्तं च रूप से दी है। सिर्फ उसके दूसरे पाद के थोडे से अक्षरो के उलट फेर हो जाने से कथन भेद हो गया है।

२—ज्योतिष्क विमानों के नाप मे भी मतभेद है। त्रिलोकसार में राहु के विमान की चौड़ाई कुछ कम एक योजन की, बृहस्पति की कुछ कम एक कोशकी और तारो के विमानो की जघन्य पाव कोश, मध्यम आधकोश, उत्कृष्ट पौन कोश की बताई है। और जितनी जिसकी चौड़ाई है उससे आधी उसकी मोटाई निरूपण की हैं। किन्तु ग्रन्थातरों में इनका कुछ और ही प्रमाण लिखा है। राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और हरिवंश-पुराण मे राहु की चौडाई पूरे एक योजन की तथा मोटाई ढाईसौ धनुष की ही बताई है। हरिवंशपुराण और सिद्धातसार दीपक में बृहस्पति की

१. हरिवंशपुराण की हिन्दी टीका मे पं० गजाधरलाल जी शास्त्री ने मंगल से ऊपर शनिश्चर को चार योजन ऊँचा लिखकर शेष कथन त्रिलोकसार की तरह बताया हैं सो गलत है। मूल ग्रन्थ मे इस तरह है ही नही।

चौड़ाई पौन कोश की लिखी है। एवं हरिवंशपुराण और राजवार्तिक में तारो के विमानों का विस्तार जघन्य पाव कोश, मध्यम कुछ अधिक पाव कोश, और उत्कृष्ट आध कोश प्ररूपण किया है। यहीं पर राजवार्तिक मे लिखा है कि–"ज्योतिष्क-विमानानां सर्वजघन्यवैपुल्यं पंचधनुःशतानि।"

ज्योतिष्क विमानों का थोड़ा से थोड़ा विस्तार पाँचसौ धनुष का होता है इससे कम किसी का नहीं होता। (हिन्दी अनुवाद में जो यहाँ 'वैपुल्यं' का अर्थ मोटाई किया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोटाई तो पाँचसौ से भी कम ढाईसौ धनुष की राहु, शुक्र आदि की बता दी गई है) त्रिलोकसार मे शुक्र की मोटाई आधकोश, बृहस्पति की कुछ कम आध कोश और बुध, मंगल, शनि की पाव पाव कोश की प्रतिपादन की है। (दो हजार धनुष का एक कोश होता है इसी को राजवार्तिक में देखिये तो वहाँ इन सब की मोटाई मात्र ढाईसौ धनुष ही की लिखी है।

रही त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सो उसमे भी त्रिलोकसार की भाँति ही कथन है। हाँ, पाठांतर जो दिये है उनमें कुछ और कथन है। पाठांतर को ११५वीं और २०३वीं गाथा मे लिखा है कि–"सभी ज्योतिष्क विमानों का जो विष्कंभ है उतनी हो उनकी मोटाई है ऐसा लोक विभाग के कर्ता आचार्य कहते है। राहु की मोटाई ढाईसौ धनुष की लोकव्युच्छित्ति के कर्ताओं ने कही है।" ये दोनो गाथायें ऊपर उद्धृत हो चुकी हैं।

इस सम्बन्ध मे श्वेताबर आगमों मे निम्न प्रकार कथन मिलता है–

लोकप्रकाश मे लिखा है कि–"सर्वे ज्योतिर्विमाना हि निजव्यासार्द्ध-मुच्छ्रिताः" सभी ज्योतिष्क विमान अपने अपने विस्तार से आधे-आधे ऊँचे है। उत्कृष्ट आयुवाले ताराओं के विमान अर्धकोश चौडे और पाव कोश मोटे हैं। तथा जघन्य आयुवाले ताराओं के विमान पाव कोश चौड़े और ढाईसौ धनुष मोटे हैं। विदित हो कि शुक्र, बृहस्पति, बुध, शनि, मंगल की चौड़ाई मोटाई किसी भी श्वे० ग्रन्थ मे उक्त दि० ग्रंथों की तरह नहीं बताई है केवल सभी ग्रहों की चौड़ाई आध योजन और मोटाई

पाव योजन की वर्णन की है। इससे राहु की चौडाई भी आध योजन की ही हुई क्योकि राहु की गणना ग्रहो मे ही है। दि० ग्रन्थो मे राहु को एक योजन या उससे कम बताया है। दोनो सम्प्रदाय मे कितना फर्क पड गया है। शेष रहे सूर्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र सो इनके माप मे सभी जैनग्रन्थ एकमत है। सिर्फ ग्रह और तारो ही के माप मे मतभेद है।

३—त्रिलोकसार गाथा ३४२ में चन्द्रकला की हानि वृद्धि होनेमे आचार्यों के दो मत दिये है। एक मत तो यह है "चन्द्रमण्डल अपने सोलह भाग में से एक-दो भाग प्रतिदिन स्वयमेव कृष्ण और शुक्लरूप पन्द्रह दिन तक परिणमता रहता है।" दूसरा मत यह है कि 'उसका शुक्ल कृष्णत्व अध स्थित राहु विमान की गति विशेष से होता है।' यही दो मत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे भी दिये है। प्रथम मत का श्वेताम्बरो के किसी आगम मे उल्लेख नही है। इस सम्बन्ध मे उनके शास्त्रो मे इस प्रकार कथन है—

राहु के विमान दो प्रकार के है—एक नित्य राहु और दूसरा पर्व राहु। उसमे नित्य राहु कृष्ण और शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा के ६२ भाग मे से चार भाग को प्रतिदिन अपनी गति से क्रम से ढाँकता और उघाडता रहता है। होते-होते एक पक्ष मे अर्थात् अमावस को चन्द्रमा के ६२ भाग मे ६० भाग राहु से ढक जाते है। शेष दो भाग सदैव प्रकट रहते है वे कभी नही ढकते। पर्व राहु के कारण ग्रहण होता है। पर्व राहु का विमान जब चद्र सूर्य के नीचे आ जाता है तो ग्रहण होता है। सूर्य चद्र ग्रहण कम से कम ६ मास मे होता है। तथा अधिक से अधिक चद्रग्रहण ४२ मास मे और सूर्यग्रहण ४८ वर्ष मे होता है। सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि राहु के समान कभो कभो केनु से भी ग्रहण होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय मे अमावस को सोलह भाग मे एक भाग या यो कहो कि ६४ भाग मे चार भाग चद्रमा का अनावरण रहना बताया है जब कि श्वे० मे ६२ भाग मे दो भाग अनावरण रहना बताया है। इसके अलावा दि० मे चन्द्रमा ६४ भाग मे ४ भाग प्रतिदिन कृष्ण-शुक्ल

पक्ष में क्रम से ढकता उघड़ता रहता है। किन्तु श्वे० में ६२ भाग में ४ भाग ढकता उघड़ता रहता है। यानी वनिस्पत दि० के श्वे० मत में चन्द्रबिम्ब का वृद्धि-ह्रास अधिक होता रहता है। दि० के किसी ग्रन्थ में चन्द्र सूर्यग्रहण का जघन्योत्कृष्टकाल का व्याख्यान देखने मे नहीं आया। सूर्यग्रहण भी पर्व राहु से न बताकर केतु से बताया है। त्रिलोकसारादि में तो राहु के उक्त दो भेदों का भी कथन नहीं है। हाँ त्रिलोकप्रज्ञप्ति में दिन राहु और पर्व राहु का उल्लेख मिलता है।

४—त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि दि० ग्रन्थों में ताराओं का अन्तर (एक दूसरे से फासला) जघन्य एक कोशका ७वाँ भाग, मध्यम ५० योजन व उत्कृष्ट एक हजार योजन का लिखा है।

श्वेताम्बरमत में अन्तर दो प्रकार से बतलाया है—एक व्याघात और दूसरा निर्व्याघात। किसी चीज के बीच में आ जाने से जो अन्तर पड़ता है वह व्याघात अन्तर है इससे विपरीत निर्व्याघात अन्तर है। निषध, नील पर्वत चार-चारसौ योजन ऊँचे हैं। जिन पर पाँच-पाँच सौ योजन की ऊँचाई लिए नव नव कूट है, इससे कूट समेत ये दोनों पर्वत पृथ्वी से नौ-सौ योजन ऊँचे हो जाते हैं। इसी के कारण ताराओं मे व्याघात अन्तर पड़ जाता है। उन कूटों की अग्रभाग की चौड़ाई २५० योजन की है तथा कूटों के दोनों तरफ आठ-आठ योजन की दूरी पर तारों के विमान विचरते हैं अतः उनमे २६६ योजन का फासला रहता है।

यह अन्तर त्रिलोकसार में क्यों नहीं बतलाया ? इसलिए कि उसको गाथा ७२३ में उक्त कूटों की ऊँचाई केवल एक-सौ ही योजन की बताई है। जिससे व्याघात नहीं पड़ता[1] किन्तु आश्चर्य है कि राजवार्तिक में

---

१. त्रिलोक प्रज्ञप्ति में कूटो की ऊँचाई त्रिलोकसार जितनी ही लिखी होगी। अन्यथा ताराओं के अन्तर का कथन दोनों मे एक रूप से नहीं हो सकता था।

उन्ही कूटो की ऊँचाई श्वेताम्बरवत् बतलाई है। उसके अध्याय ३ सूत्र ११ की व्याख्या में न केवल निषध, नील के ही बल्कि छहों कुलाचलों के कूटों की ऊँचाई पाँच-पाँच सौ योजन और अग्रभाग की चौडाई २५० योजन की लिखी है। यह भी दि० आचार्यों मे बहुत बड़ा मतभेद समझना चाहिए। इससे भट्टारक अकलंकदेव के मत से ताराओं का अन्तर त्रिलोकप्रज्ञप्ति से भिन्न होगा।

५—सभी दि० ग्रन्थो मे पूर्व पश्चिम मध्यलोक के अंत घनोदधिवातवलय तक ज्योतिष्को का होना लिखा है। किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थों मे ऐसा नहीं है उनमे तिर्यक् मध्यलोक के अन्तर से ११११ योजन भीतर तक ही ज्योतिर्गण बताये है।

६—त्रिलोकसार मे ज्योतिर्लोकाधिकार की करीब १२५ गाथाओ में इस विषय का वर्णन है। जब कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे यही विषय छहसौ से ऊपर गाथाओ में निबद्ध किया गया है। तिस पर उसमें गद्यभाग फिर और है। इससे पाठक। यह न समझें कि 'प्रज्ञप्ति' की अपेक्षा त्रिलोकसार मे थोड़ा-सा कथन है। गाथा संख्या कम होते भी त्रिलोकसार में 'प्रज्ञप्ति' का कोई विशेष तात्त्विक कथन नही छूटा है। जिस किसी एक बात के कहने मे 'प्रज्ञप्ति' मे सौ-पचास गाथायें भरी है उन सब का तात्पर्य त्रिलोकसार मे पाँच-चार गाथा मे ही आ गया है। वास्तव मे नेमिचन्द्राचार्य की तमाम ही रचनाओ मे गागर मे सागर भरा हुआ है। उनके बनाये ग्रंथो को सूत्रग्रंथ कहना चाहिये और इसीलिए उनके ग्रन्थ नामो के अन्त मे सार शब्द लगा हुआ है। जैसे त्रिलोकसार, लब्धिसार, गोम्मटसार। कोई-कोई बात त्रिलोकसार मे त्रिलोकप्रज्ञप्ति से भी अधिक मिलती है। जैसे त्रिलोकसार गाथा ३७१–३७२ मे जंबूद्वीपवर्ती कुलाचलो और क्षेत्रों मे अलग-अलग तारासंख्या प्रतिपादन की है। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्ति तो क्या किसी भी दि० ग्रन्थ मे नहीं है और न श्वे० ग्रन्थो मे ही है। इसके विपरीत कोई कथन त्रिलोकसार मे भी

छूट गया है। ज्योतिष्कविमान किस मणिविशेष के बने हैं यह वर्णन प्रायः सभी दि० ग्रन्थों में है पर त्रिलोकसार में है ही नहीं।

७. निम्न कथन श्वेताम्बर शास्त्रों मे पाया जाता है पर दि० शास्त्रों में नहीं मिलता—

(क) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की टीका में लिखा है कि—

"तत्रैव स्थाने स ध्रुवः परिभ्राम्यति, न तु मेरोः प्रादक्षिण्येन गतिं प्रतिपद्यते, तथाहि तदद्यापि ध्रुवताराचक्रमाक्रांतोत्तरदिक्कं परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव।"

'चौथे अध्याय के १४ वें सूत्रकी व्याख्या'

अर्थ—उसी स्थान में वह ध्रुवतारा घूमता है उसकी गति मेरुप्रदक्षिणा रूप नही है। आज भी उत्तर दिशा को ओर घूमते हुए ध्रुव तारा की प्रत्यक्ष से उपलब्धि होती है।

(ख) ठाणांग सूत्रादिक मे लिखा है कि—

'जम्बूद्वीप के चतुर्दिग्वर्ती ,चार ध्रुवतारों के निकट जो सप्तऋषी आदि अन्य तारे है उनकी गति ध्रुवतारों की प्रदक्षिणारूप है न कि मेरु प्रदक्षिणा रूप।'

(ग) संग्रहणी सूत्र में लिखा है कि—

लवण समुद्र की शिखा सोलह हजार योजन ऊँची है और ज्योतिष्क विमान नवसौ योजन तक ही ऊँचे है। अतः वहां के ज्योतिष्क विमान सब उदकस्फटिक रत्न के है जिससे जल फट जाता है ताकि उन विमानों को फिरने मे कुछ बाधा नही पड़ती।

८. कुछ कथन ऐसा भी है जो दि० ग्रन्थों मे तो मिलता है पर श्वे० ग्रन्थों मे नहीं मिलता। जैसे ज्योतिष्कों की किरण संख्या का कथन आदि।

और भी बहुत-सी बातें हैं जो यहाँ संकीर्णस्थान में नहीं लिखी जा सकतीं। इतना सब कुछ होते भी वर्तमान मे जो कुछ बचा खुचा साहित्य

उपलब्ध है वह भी एकदम कम नहीं है। बल्कि आज तो उसके भी जानकार विरले ही हैं। इस विषय की सभी बातें किसी एक ही ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। इधर-उधर बिखरी हुई हैं। साथ ही किसी एक ग्रन्थ से बहुत-सी बातें स्पष्ट भी नहीं होतीं। अतः मैं बहुत अरसेसे एतद्विषयक एक ऐसी पुस्तक निकलने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा था जिसमे सारे ही ग्रन्थों का सार खींचकर नवीन ढंग से रख दिया गया हो। इसके लिए हमारे शास्त्री पंडितों से तो कुछ आशा करना फ़िजूल है। क्योकि इस विषय से उन्हें बहुत उपेक्षा है और उसी के कारण उनमें एतद्विषयक अज्ञान छाया हुआ है।

समाज के एक प्रसिद्ध विद्वान् का हाल सुनिये—न्यायतीर्थ पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुर ने तत्त्वार्थसार का हिन्दी अनुवाद किया है। उसके पृ० ११८ मे सूर्य विमान का विस्तार बताते हुए लिखा है कि—

"अड़तालीस योजन तथा एक योजनका इकसठवा भाग इतना व्यास है, कुछ इससे अधिक तिगुनी परिधि है। चौबीस योजन तथा एक योजन का इकसठवा भाग इतनी मोटाई ऊपर की तरफ है!" जैन ग्रन्थ चाहे वे श्वे० हो या दिगम्बर सभी मे सूर्य का एक योजन से भी कम व्यास लिखा है तब न जाने यह अड़तालीस योजन का सूर्य शास्त्रीजी ने कहाँ से लिख दिया। हद हो गई! जिन्हें इतनी मोटी-सी बात का ज्ञान नही उनसे और क्या आशा की जा सकती है?

●

गोत्रकर्म का संक्रमण

विश्व प्रचलित धर्मों में जैनधर्म के सिवाय ऐसा कोई धर्म नहीं जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त जीवों को समान बतला कर समस्त जीवों की रक्षा करने का उपदेश देता हो और न ही कोई ऐसा मत है जो जीवमात्र को परमात्मा बन सकने का प्रतिपादन करता हो। इस दशा में जैन धर्म से बढ़कर उदारता अन्यत्र कहीं नहीं पाई जा सकती।

किन्तु हमारे कतिपय महानुभाव इस उदारता में भी त्रुटिका अनुभव करते हुए नीच गोत्री मनुष्य को उसी भव मे ऊँचगोत्री बना देने की उदारता की इच्छा जैनधर्म से और चाहते है। उनकी इस चाहना मे प्रमुख कारण आधुनिक राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण है।

हमारे वे महानुभाव अपने विचारो की जड़ जमाने के लिये जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त का आश्रय टटोलते है। उनका खयाल है कि गोत्र कर्म मे संक्रमण हो जाया करता है। तदनुसार एक मनुष्य जो नीच गोत्र के उदय से नीचकुल मे पैदा हुआ है अपने सदाचार से उन्नति करता हुआ अपने नीच गोत्र का संक्रमण कर के ऊँचगोत्र रूप करके ऊँच गोत्री हो सकता है। कर्मसिद्धान्त यदि ऐसा स्पष्ट विधान करता तो उस से आनाकानी करने का किसी को स्थान न होता और न उस दशा मे इस विषय पर मतभेद या दलबन्दी ही होती। अस्तु।

श्रीमान् पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ एक उत्साही नवयुवक है। उन्होंने "जैनधर्म की उदारता" नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी है।

इस पुस्तक मे आप ने नीचकुली मनुष्य को उसी भव में ऊँचकुली हो सकने के लिये युक्ति और आगम उपस्थित किया है।

आप ने "जैनधर्म की उदारता" के पृष्ठ १६ मे गोम्मटसार कर्मकांड का प्रमाण देते हुये लिखा है कि—

"असाता वेदनीय, अशुभगति, ५ संस्थान, ५ संहनन, नीचगोत्र, अपर्याप्त, अस्थिरादि ६; इन २० प्रकृतियो के विध्यात, अधःप्रवृत्त और गुणसंक्रमण होते है। अतः जिस प्रकार असाता वेदनीय का साता के रूप में संक्रमण हो सकता है उसी प्रकार से नीच गोत्र का ऊंच गोत्र के रूप मे भी परिवर्तन होना सिद्धान्तशास्त्र से सिद्ध है। अतः किसी को जन्म से मरने तक नीच गोत्री ही मानना दयनीय अज्ञान है।"

इस प्रकार आपने वहाँ की डेढ़ गाथा से यह फलितार्थ निकाला है कि किसी नीच गोत्र वाले मनुष्य के नीच गोत्र कर्म पलट कर उच्च गोत्र हो जाने पर सत्ता मे उसके उच्च गोत्र कर्म ही विद्यमान रहेगा और तब वही उदय मे भी आवेगा। इस लिये नीच गोत्र वाला मनुष्य अपनी उसी पर्याय मे उच्च गोत्री भी बन सकता है। ऐसा आपका खयाल है।

गोम्मटसार का वह प्रकरण ध्यान से देखने पर आपका यह विचार मुझे भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। मालूम होता है आपने विध्यात, अधःप्रवृत्त और गुणसंक्रमण का मतलब यथार्थ नही समझा है। खाली संक्रमण के नाम से ही आप भूल मे पड गये दीखते है। अतः मै भी प्रथम संक्रमणो का स्वरूप यहाँ बतला देना आवश्यक समझता हूँ।

संक्रमण के ५ भेद होते है। उनके नाम और स्वरूप इस प्रकार है— उद्वेलन-प्रकृति की परमाणुओ मे उद्वेलन भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतनी परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप होना 'उद्वेलन संक्रमण' कहलाता है। मन्दविशुद्धि धारी जीव के जिसका बन्ध न पाया जावे ऐसी विवक्षित कर्म प्रकृति के परमाणुओ मे विध्यात भागहार का भाग देने से

जो लब्ध आवे उतनी परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप होना 'विध्यात संक्रमण' कहलाता है। कर्म की ऐसी विवक्षित प्रकृति जिसका कि वहाँ बन्ध सम्भव हो उसके परमाणुओं में अधःप्रवृत्त भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप होना 'अधः प्रवृत्त संक्रमण' कहलाता है। किसी विवक्षित अशुभ प्रकृति के परमाणुओं में संक्रमण भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना और यह परिणमन आगे प्रत्येक समय मे उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे होते जाना इस प्रकार का गुणाकार परिणमन 'गुणसंक्रमण' कहलाता है तथा विवक्षित प्रकृति के परमाणुओ में से अन्य प्रकृति रूप परमाणुओ के होते होते आखिर अन्त मे फालि रूप ही परमाणु बच रहें उनका भी अन्य प्रकृति रूप हो जाना 'सर्व संक्रमण' कहलाता है।

विध्यात, अध·प्रवृत्त आदि नाम किसी संख्या विशेष के है। इन नामों वाली संख्यायें कितनी कितनी होती हैं? यह वर्णन कर्म कांड गाथा ४३० से ४३५ तक है वहाँ देख लेवें। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा जाता। गाथा ४०९ की टीका मे भी इन्हें भागहारों के नाम से ही उल्लिखित किया है। यथा—

"यैः भागहारैः शुभाशुभं कर्म परप्रकृतिरूपेण परिणमति ते भागहाराः उद्वेल्लनविध्याताधःप्रवृत्तगुणसर्वसंक्रमनामानः पंच संभवन्ति।"

अर्थ—जिन भागहारों से शुभाशुभकर्म परप्रकृति रूप से परिणमता है वे भागहार उद्वेलन विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुण, सर्व ऐसे पाँच संक्रमण नाम के होते हैं।

संक्रमणों के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आदि के ४ संक्रमण ऐसे हैं जिनमे किसी प्रकृति का पूरा संक्रमण नहीं होता है किन्तु उसके उतने ही हिस्से का संक्रमण होता है जितना कि ऊपर लिखित भागहार के भाग देने से लब्ध आता है। बाकी हिस्सा उस प्रकृति का बगैर संक्र-

मण हुये रहता है। ऐसी हालत में आपने प्रमाण देकर जो नतीजा निकाला है वह सचमुच भूलभरा ही कहना चाहिये। तमाम संक्रमणों में केवल एक सर्वसंक्रमण ही ऐसा है जिसमे विवक्षित कर्मप्रकृति का पूरा पूरा संक्रमण हो सकता है। ऐशी सर्वसंक्रमणवाली ५२ कर्म प्रकृतियां है जिनके नाम गाथा ४१४, ४१५, ४१७ में दिये है। उन नामों मे नीचगोत्र का नाम कतई नही आया है अगर नीचगोत्र का सर्वसंक्रमण हो सकता होता तो इसका नाम भी जरूर दिया जाता।

इसके अलावा गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे जहाँ गुणस्थानो मे गोत्रकर्म के बन्धोदयसत्त्व को लेकर भंग बताये गये है वह भी आपके मंतव्य के विरुद्ध ही पडता है। वह प्रकरण यो है—

मिच्छादि गोदभंगा पण चदु तिसु दोण्णि अट्ठाणेसु।
एक्केक्का जोगिजिणे दो भंगा होंति णियमेण ॥६३८॥

इसकी संस्कृत टीका का अविकल अनुवाद निम्न प्रकार है— "मिथ्यात्व गुणस्थान मे गोत्रकर्म के पाँच भंग है—१–नीच का बन्ध, नीच का उदय, नीच-उच्च दोनों का सत्त्व, २–नीच का बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का, ३–उच्चका बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का, ४–उच्चका बन्ध, नीचका उदय, सत्त्व दोनो का। ५–नीच का बंध, नीच का उदय, नीच का सत्त्व।

सासादन मे उक्त पाँचो मे अन्तिम भंग नही है। शेष चार भंग है। क्योकि उच्च गोत्र की उद्वेलनावाले तेजकायिक, वातकायिक जीवों के सासादन का अभाव है। मिश्र, अविरत और देशविरत गुणस्थानो में १–उच्चका बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का २–उच्चका बन्ध, नीच का उदय, सत्त्व दोनो का ऐसे दो दो भंग है। प्रमत्त से लेकर सूक्ष्मसांपराय तक के गुणस्थानो मे उच्चका बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का ऐसा एक एक भंग है। आगे सयोगकेवली तक गुणस्थानो मे बन्ध का अभाव होने से उच्चका उदय सत्त्व दोनो का ऐसा एक एक ही भंग है।

१४ वें गुणस्थान में १–उच्चका उदय-सत्त्व दोनों का २–उच्चका उदय उच्चका सत्त्व ऐसे दो भंग हैं।

इस कथन से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि पहिले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक ऐसा कोई भी गुणस्थान नहीं है जिसमे अकेले उच्चगोत्र का सत्त्व पाया जाता हो। ऐसी अवस्था में गोत्र संक्रमण का सहारा लेकर नीच का उच्च होना जो सिद्धांत दृष्टि से सिद्ध किया जाता है वह कितना अयुक्त और पोच है, यह हरएक के हृदयंगम हो सकता है। दूसरे से १३वें गुणस्थान धारी जीवो में कोई ऐसा जीव ही नही हो सकता कि जिसके नीच उच्च दोनों गोत्रकर्मकी सत्ता न पाई जाती हो। बल्कि १४वें गुणस्थान में भी द्विचरमसमय तक दोनों गोत्र की सत्ता पाई जाती है। देखो गाथा ३५ वी। अब रहा प्रथम गुणस्थान सो उसमे जरूर एक गोत्र की सत्ता बताई गई है, लेकिन बताई गई है नीच गोत्र ही की। इससे नीच का उच्च होना तो वहाँ भी सिद्ध नहीं हो सकता। तथापि आप "जैनधर्म की उदारता" पुस्तक मे नीच का उच्च होना सिद्ध करते है।

यदि कोई कहे कि नीच का उच्च होना सिद्ध नही होता तो न सही, लेकिन उच्च का नीच होना तो सिद्ध होता है क्योकि प्रथम गुण स्थान मे अकेले नीच गोत्र की सत्ता वाला भी भंग बताया है और सर्व संक्रमण वाली प्रकृतियो मे भी उच्च गोच का नाम दिया है। इससे उच्चकुली मिथ्यादृष्टि पुरुष का उसी पर्याय मे नीचगोत्री हो सकने मे तो कोई बाधा नही है। इसका समाधान यह है कि—मिथ्यात्व मे केवल नीच गोत्र की सत्ता और उच्च गोत्र का संक्रमण जो सिद्धान्त मे बताया है वह तेज-कायिक, वातकायिक जीवो की अपेक्षा से बताया गया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे लिखा है कि—

उच्चुव्वेल्लिद तेऊ वाउम्मि य णीचमेव सत्तं तु। अर्थात्—उच्च

गोत्र की उद्वेलना वाले तेजकायिक वातकायिक जीवों के नीच गोत्र की सत्ता होती है।

तथा ऊपर गाथा ६३८ की टीका में सासादन गुणस्थान में अकेले नीच गोत्र की सत्ता वाला भंग न होने का कारण बताते हुये लिखा है कि तेजकायिक, वातकायिक जीवो के सासादन गुणस्थान न होने से उस गुण-स्थान में वह भंग नही होता है।

इससे साबित होता है कि अकेले नीच गोत्र की सत्ता सिर्फ तेज-कायिक, वातकायिक जीवो में ही पाई जा सकती है, दूसरो में नहीं। अगर अन्यत्र भी पाई जाती होती तो उनका नाम नही दिया जाता और जो मनुष्य मे पाई जा सकती होती तब तो सासादन गुणस्थान में उसका निषेध कभी किया ही नही जाता।

ऊपर के इस सारे विवेचन का मतलब यह हुआ कि गोत्र कर्म का संक्रमण होता है यह ठीक है पर पूरा संक्रमण उसकी उच्चगोत्र प्रकृति का ही होता है, नीच गोत्र प्रकृति का नही। और उच्च का भी पूरा संक्रमण तेजकायिक, वातकायिक जीवो को छोड़कर दूसरों में नही होता है। अतः यह दृढता के साथ कहा जा सकता है कि मनुष्यों में प्रायः गोत्र की नीच उच्च प्रकृतियो की एक साथ सत्ता सदैव नियम से पाई जाती है और तब उनके दोनों मे से कोई सा भी गोत्र आजीवन रह सकता है। इसमे कोई आपत्ति सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं आ सकती है।

इसके सिवाय नीच गोत्र कर्म का नोकर्म नीच गोत्री माता-पिता के रज-वीर्य से बना हुआ शरीर है जो कि उसी भव भव में किसी तरह बदल शरीर के बिना बदले नीच गोत्री का भुज्यमान नहीं सकता है। नीचगोत्र कर्म उच्चगोत्र रूप नहीं हो सकता है।

●

चौबीस यक्ष यक्षियाँ

चौबीस तीर्थंकरों के गौमुख, महायक्ष, त्रिमुख, तुंबर, मातंग आदि २४ देव क्रमशः यक्ष कहलाते हैं। और चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, चामुंडा आदि २४ देवियाँ वर्तमानकाल के प्रत्येक तीर्थंकर की एक-एक यक्षिणी कही जाती हैं। यह याद रहे कि इन यक्षियों को ही 'शासन देवता' नाम से कहा गया है। अन्य देव-देवियो की शासन देव-देवी संज्ञा नही है ऐसा आशाधर ने अपने प्रतिष्ठा-शास्त्र मे निरूपण किया है। किन्तु यह स्पष्ट कहीं नहीं किया गया कि इन यक्षियो को यह खिताब क्यों मिला? अन्य महर्द्धिक इंद्रादिकों तक को भी इस पद से वंचित क्यों रक्खा गया?

इन देवों की पूजा करनी चाहिये या न करनी चाहिये यह सवाल तो बाद का है। पहिले हमे यह देखना है कि इनके अस्तित्व की सिद्धि भी प्राचीन और समीचीन जैन वाङ्मय से होती है या नहीं।

पहिले हमने जैन सदेश मे दश दिग्पालों के विषय मे लिखा था और विद्वानों से यह जानना चाहा था कि इन दिग्पालो के अस्तित्व की सिद्धि करणानुयोगी प्राचीन जैन साहित्य से बताई जावे। उस लेख में कितना ही ऊहापोह किया गया था "उसमे उठाये गये कितने ही प्रश्नों का उत्तर न देकर चूड़ीवाल जी ने मंगलाष्टक व आदिपुराण का प्रमाण देकर सिर्फ दिग्पालों की दश संख्या बताने का उद्यम किया है। मंगलाष्टक का कर्ता कौन है? और वह किस समय की रचना है? ऐसा कुछ बताये बिना उसका प्रमाण देना बेकार है। रहा आदि-पुराण का प्रमाण सो उसका जो पद्य प्रमाण मे पेश किया है उसमे न तो दिग्पालों के नाम हैं और न दश संख्या ही। वह श्लोक भगवान् के जन्माभिषेक के समय का है उसमे इतना ही लिखा है कि

"उस समय दिग्पाल देव भी दिशा-विदिशाओं मे स्थित थे।" इस कथन से चूड़ीवाल जी ने दिग्पालों की दश संख्या कैसे समझी ? कहीं लिखा हो कि "उस प्रतापी राजा के भय से उसके शत्रु दिशा-विदिशाओं में भाग गये।" इस इबारत का अर्थ यह नही है कि उस राजा के दश ही शत्रु थे। चूड़ीवालजी को जान लेना चाहिये कि करणानुयोगी ग्रन्थो में लिखा मिलता है कि देवो की इन्द्र सामानिक आदि जातियाँ होती हैं जिनमे से लोकपाल अपर नाम दिग्पाल नाम की भी जाति होती है और इस जाति के देवो की भी कितनी ही संख्या होती है। वे सब भी उस वक्त भगवान् के जन्माभिषेक के अवसर में दिशाविदिशाओं में यानी इधर-उधर खड़े थे ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आदिपुराण का है। इस प्रमाण से दिग्पालो की दश संख्या को सिद्धि कदापि नही हो सकती है। अस्तु,

आज हम इस लेख मे यक्ष-यक्षियो के सम्बन्ध मे भी नीचे लिखे विकल्प विद्वानों के सामने जिज्ञासा भाव से रखते हैं और आशा करते हैं कि वे उन पर गंभीरता से विचार कर समाधान करेंगे कि ये यक्ष-यक्षियाँ काल्पनिक है या वास्तविक ? (१) ये यक्ष-यक्षियाँ पूर्वजन्म मे कौन थी ? और ये जिस तीर्थकर की कहलाती है उनके साथ इन्होने कौन सा ऐसा विशिष्ट कार्य किया जिससे उनकी कहलाई इत्यादि इनका कोई चरित्र आगम मे लिखा क्यो नही मिलता है। धरणेन्द्र और उसकी देवी श्री पार्श्वनाथ स्वामी का उपसर्ग निवारणार्थ आई थी यह कथा भी पार्श्वनाथ की यक्ष-यक्षी की नही है। धरणेन्द्र और उसकी देवी ये पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी है ही नहीं। पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम तो धरण या मातंग है न कि धरणेन्द्र और पद्मावती। यह नाम पार्श्वनाथ की यक्षिणी का है न कि धरणेन्द्र की देवी का। धरणेन्द्र की देवी का नाम किसी भी करणानुयोगी ग्रन्थ मे पद्मावती लिखा नही मिलता है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विचार हमने इसी पुस्तक मे अन्यत्र किया है।

२—यह भी बताया जावे कि क्या इन यक्ष-यक्षियों का परस्पर मे दाम्पत्य सम्बन्ध है या सम्बन्धित नहीं है ?

३—जब कि महापुराण में चौबीस ही तीर्थंकरों का विस्तृत चरित्र लिखा मिलता है। यहाँ तक कि प्रत्येक तीर्थंकर को आहारदान देने वाले तक का भी नाम, ग्राम लिखा मिलता है तो महापुराण में किसी भी तीर्थंकर के चरित्र में इन यक्ष-यक्षियों मे से जो कि बहुत अधिक जिनभक्त और शासनदेवता कही जाती हैं किसी एक का भी उल्लेख क्यों नहीं है ?

४—तीर्थंकर की माता की सेवा मे आने वाली षट्कुलाचलवासिनी और रुचकवासिनी आदि देव-देवियों के जैसे नाम आते है वैसे इन यक्ष-यक्षियों के भी अगर वास्तव में ये होते तो अवश्य कहीं न कहीं नाम आते।

५—क्रियाकांडी जैनसाहित्य को छोड़कर शेष करणानुयोगी आदि साहित्य मे इनका उल्लेख क्यों नहीं है ? यह खास विचारणीय है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जरूर इनके नाम मात्र लिखे मिलते हैं। किंतु त्रिलोक-प्रज्ञप्ति की श्लोक संख्या स्वयं ग्रंथकार ने आठ हजार प्रमाण लिखी है जबकि उपलब्ध त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे नव हजार श्लोक संख्या पाई जाती है। अतः यह अवश्य मानन पड़ेगा कि उसका बढा हुआ अंश प्रक्षिप्त है। संभव है यक्ष-यक्षियों की नामनिर्देशक गाथायें उसमे क्षेपक हों। यह संभावना इसलिए भी ठीक कही जा सकती है कि ये गाथायें प्रक्षिप्त नही होतीं तो इनका अनुसरण इसके उत्तरवर्ती त्रिलोकसार राजवार्तिक आदि ग्रंथो मे भी किया जाता। अलावा इसके त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे जहाँ ये गाथायें दी हैं वह प्रकरण समवशरण का है। विषय चल रहा है कि "कोठों मे बैठने वाले प्राणियो के भगवान् के माहात्म्य से रोग, मरण, पीड़ा आदि नहीं होते है।" इसी के आगे बिना प्रकरण के ही इन यक्ष-यक्षियों के नाम लिख दिये गये है। समवशरण में कोई इनका काम भी

यहाँ नहीं बताया गया है, यों ही खाली इनके नाम गिना दिये गये हैं। इस प्रकार ये गाथायें यहाँ बिलकुल बेतुकी सी जंचती है और साफतौर पर क्षेपक होने की आशंका पैदा करती है। (देखो चौथे अधिकार की गाथा नं० ९३४ आदि)

६—अन्य मत मे काली, महाकाली, चामुण्डा आदि अद्‌भुत शक्ति-शालिनी देवियो की मान्यता की ओर जनता को आकर्षित होता देख कर जैनमत मे भी उन्हीं के कुछ नामों मे अपने नये नाम मिलाकर और उनके साथ तीर्थङ्करों का सम्बन्ध जोडकर इन चौबीस यक्षियों की कल्पना कर डाली है। यह बात इनके 'जिन शासन देवता' इस नामकरण से ही प्रकट हो जाती है। सोमदेव ने भी यशस्तिलक मे 'ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।" वाक्य लिखकर इनको कल्पित ही बताया है। पं० पन्नालालजी सोनी को उक्त वाक्य मे आया 'कल्पिताः' शब्द खटका है इसलिये उन्होने 'शासन देव पूजा के अनुकूल अभिप्राय' नामक पुस्तक मे 'कल्पिताः परमागमे' के स्थान मे 'मानिताः परमागमे' पाठ बदलकर रखा है जो नितान्त अनुचित है। श्री मुख्तार साहब ने यशस्तिलक के 'चत्वारश्च विघोचिताः' पाठ के स्थान मे 'चतुर्थश्च विघोचितः' पाठ बदल कर लिखा सो उन्होंने तो अर्थ समझ मे न आने के कारण भ्रान्ति से उसे अशुद्ध खयाल कर अपनी तरफ से शुद्ध पाठ बनाकर लिख दिया जिस पर तो विपक्षी पण्डितो ने होहल्ला मचाया परन्तु सोनीजी ने जो उक्त वाक्य बदला वह क्या समझकर बदला सो भी तो बताया जावे जिसका प्रतिवाद आज तक इन पण्डितों में से किसी एक ने भी नहीं किया है।

७—भगवान् की सेवा मे भाग लेने वाले सौधर्मेन्द्र, कुबेर, अग्नीन्द्र-कुमार आदिकों के नाम तो तीर्थङ्करो के चरित्रों में मिलते है। किन्तु इन चौबीस यक्ष-यक्षियो ने भगवान की किसी सेवा मे भाग लिया हो ऐसा-कुछ भी लिखा मिलता नहीं है तब यह कैसे माना जाये कि ये यक्ष-यक्षियाँ भगवान की बड़ी भक्त हुई हैं।

८—अकृत्रिम प्रतिमाओं के अगल-बगल में हाथ में चामर लिये इन यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ होती हैं यह कहना भी गलत है। त्रिलोकसार, राजवार्तिक, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों मे तो अकृत्रिम प्रतिमाओं के दोनों बाजुओं में ३२ नागकुमारों व यक्षों को चामर हाथों में लेकर पंक्तिबद्ध खड़े रहना बताया है। वहाँ न चौबीस संख्या का निर्देश है न यक्षियों का उल्लेख ही। आदिनाथ पुराण मे जहाँ कि श्री जिनसेन स्वामी ने श्री ऋषभदेव के समवशरण और उनके प्रातिहार्यों का विस्तृत वर्णन किया है वहाँ भी श्री ऋषभदेव की यक्षिणी चक्रेश्वरी और यक्ष गौमुख का कहीं नाम तक नहीं लिखा है। चामर ढुरानेवालों की संख्या भी वहाँ दो लिख देते तो कदाचित् इनकी उपपत्ति किसी तरह बैठाई जा सकती परन्तु वहाँ तो चामर ढोरने वाले भी ६४ यक्ष लिखे है।

९—वर्तमान चौबीसी के तीर्थङ्करों मे से कितने ही तीर्थङ्करों को हुये सैकड़ों हजारों सागर काल व्यतीत हो चुका है। उनसे सम्बन्धित इन यक्ष-यक्षियों मे से कइयों की अपनी-अपनी पर्याय भी कभी की खतम हो चुकी ऐसी हालत मे जब वे रहे ही नहीं तो उनका आह्वानादि कर उनसे विघ्ननिवारण की आशा रखना वृथा है। यदि कहो कि उनके स्थान में दूसरे जीवों ने आकर जन्म लिया, वे ही फिर ये यक्ष-यक्षी कहलाने लगे तो यह भी बात बनने जैसी नही है क्योंकि जिन्होंने भगवान् की कोई विशिष्ट भक्ति आदि ही नहीं की वे उस स्थान में जन्म लेने मात्र से ही आदर के पात्र कैसे हो सकते है?

ऐसा मालूम पड़ता है कि इन क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों को छोड़कर बाकी किन्हीं भी मूलसंघ के प्राचीन जैनग्रन्थों मे इन चौबीस यक्षों और चौबीस यक्षियों का कहीं भी नाम निशान नहीं है। जबतक ऊपरलिखित मुद्दों के सन्तोषजनक उत्तर न हो जायें तब तक इन्हे काल्पनिक ही माना जायेगा। और जबकि इनका अस्तित्व ही खपुष्पवत् है तो ऐसी अवस्था

में इनका आदर सत्कार करने न करने का तो हाल सवाल ही उठाना निरर्थक है।

आशाधर प्रतिष्ठापाठ अध्याय १ श्लोक ७७ मे लिखा है कि–प्रतिमा के सामने भाग पर तीर्थङ्कर का चिह्न हो, दक्षिणी पसवाड़े मे यक्ष और वाम पसवाडे मे यक्षिणी हो। इस विषय में और भी आगे बढ़ते हुए अन्य क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों मे लिखा है कि–प्रतिमा के अघोभाग मे नवग्रह, मध्य में क्षेत्रपाल, बाई ओर यक्षी और दक्षिण में यक्ष हो। (देखो चर्चा-सागर पृ० ४४)

इस प्रकार इन ग्रन्थो मे वीतराग प्रतिमा के चारों ओर सरागी व काल्पनिक देवो का घेरा डालकर एक तरह से जैनधर्म का आदर्श और मूर्ति-पूजा का उद्देश्य ही खत्म कर डाला गया है। आशाधर आदि ने यहाँ इन यक्ष-यक्षियों के हाथ मे चामर लेकर खडे रहने की बात भी नही लिखी है। फिर जिनबिम्ब के अगल-बगल मे इनको यों ही खाली खड़े रखने का क्या तात्पर्य है यह कुछ समझ में नही आता है। अकृत्रिम प्रतिमाओं के वर्णन में तो न कही यक्षिणी लिखी है न नवग्रह क्षेत्रपाल ही। वहाँ तो भगवान् की महिमा के द्योतन के लिये चामर हाथ मे लिये देवों का खड़ा रहना बताया गया है। यही चीज हम वर्तमान मे उपलब्ध कुछ खड्गा-सन मूर्तियो के साथ भी देखते है कि चामर लिये हुये दो देव प्रतिमा के अगल-बगल में खडे है।

मूलसंघ के ग्रन्थो मे कहीं भी इन शासन देव-देवियों का उल्लेख नहीं है। पं० आशाधरजी ने इनका प्रतिपादन किया भी है तो साथ ही उन्होने अपने बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय ३ श्लोक १२७ मे ऐसा लिखा है—"इन यक्षो की पूजा ऐहिक फल प्राप्ति की इच्छा से वे करते है जो अव्युत्पन्नसम्यग्दृष्टि है।" तथा यही बात उन्होने उसी प्रतिष्ठा-सारोद्धार के ६वें अध्याय श्लोक ४३ मे लिखी है। सागार धर्मामृत में भी इन्होने ऐसा लिखा है कि—"आपदाकुलितोऽपि दार्शनिकः शासन-

देवतादीन् कदापि न भजते ।" अर्थात् आपदा आ पड़ने पर भी सम्यग्दृष्टि श्रावक शासन देवों की कदापि आराधना नहीं करता है ।

इसी तरह श्रुतसागर ने अभिषेक पाठ संग्रह के पृष्ठ १६८ पर प्राकृत गद्य में आये अरिहंत के विशेषण "देवपरिपुज्जिदाय" शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"अदेवाः—हरिहरहिरण्यगर्भादयः, कुदेवाः—व्यंतरादयः, देवाः—कल्पवास्यादयः एतेषां त्रिविधानामपि देवाना परि समंतात् पूजितस्तस्मै ।" इसमे हरि हर ब्रह्मा को अदेव, कल्पवासी-कल्पातीत देवों को देव और व्यंतरादिकों को कुदेव बताया है । और इस तरह श्रुतसागर ने स्पष्टतया व्यंतरादि भवनत्रिक देवों की गणना कुदेवों मे की है । धरणेन्द्र, क्षेत्रपाल, नवग्रह, यक्ष, पद्मावती-चक्रेश्वरी आदि यक्षिणियाँ जयादि व रोहिणी आदि देवियाँ इत्यादिकों का अन्तर्भाव भवनत्रिकों में ही किया जाता है । इस कथन से जो इनकी पूजा करते है वे कुदेवपूजक ही कहलावेंगे । किन्तु श्रुतसागर इनको कुदेव बताते हुए भी इनकी आराधना का विधान करते है यह उनकी बेढंगी कथन शैली है । आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी तो रागी-द्वेषी देवों की उपासना करने को देवमूढता बताते है और कुदेव पूजा के निषेध में यहाँ तक लिखते हैं कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

—रत्नकरंड श्रावकाचार

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि हैं वे भय-आशा-स्नेह और लोभ से भी कुदेव कुशास्त्र और कुसाधुओं का प्रणाम विनय नहीं करते हैं ।

जैनतिथि और व्रततिथि

बाजारो मे मिलने वाले पचागो मे जो तिथियाँ लिखी हुई रहती है वे ही क्या जैन तिथियाँ है? या जैन तिथियाँ अन्य तरह से होती है ? और वे कैसे होती है ? तथा जैनतिथि और व्रततिथि मे क्या कुछ भेद है ? इन्ही विषयो पर नीचे कुछ प्रकाश डाला जाता है। इस विषय मे "जैन-गजट वष ३८ अक ९ और १६ मे हमने पहले बहुत कुछ लिखा है।[१]

पचागो मे जो तिथियाँ लिखी रहती है वे मात्र सूर्योदय की अपेक्षा को लेकर होती है। यानी सूर्योदय के वक्त जो तिथि होगी वही सारे दिन मानी जायेगी चाहे वह कुछ पलो ही की क्यो न हो। और जो तिथि सूर्योदय के बाद शुरू होकर अगले दिन के सूर्योदय से पहिले ही खतम हो जाती है वह पचागो मे क्षय कर दी जाती है। तथा जो एक ही तिथि दोनो दिन के सूर्योदय के वक्त पाई जाती है तो वह पचाग मे दोनो दिन मानी जाती है। इसे ही वृद्धि तिथि कहते है। ६० घडी का अहोरात्र (दिनरात) होता है। अगर सब ही तिथियाँ साठ-साठ घडियो की होती तो तिथि की क्षय वृद्धि का अवसर ही नही आता। हरएक तिथि का प्रमाण ५४ से ६६ घडियो के बीच होता है अर्थात् कम से कम ५४ घडी और कुछ पलो की व अधिक से अधिक ६५ घडी और कुल एक पलो की एक तिथि होती है। इसके लिए

१ उस वक्त सम्पादक प० खूबचन्दजी ने हमारे लेख पर जो अपना अभिमत प्रकाशित किया है वह इस प्रकार है —लेखक महोदयने जो रीति लिखी है वह सचमुच मे निदाप, सरल और आगम तथा जैनाम्नाय के अनुकूल है। इन्दौरवाले गोधाजी के जैनतिथिदर्पण की जो लेखक ने समालोचना की है वह भी हमारी समझ से बहुत उचित ह। गोधाजी, कटारिया जी के लेख का आशय भले प्रकार समझे नही है।

ज्योतिष में एक सूत्र भी है—"बाण (५) वृद्धि रस (६) क्षयः।" इसी से कभी-कभी तिथि का वृद्धिह्रास हो जाया करता है।

जैनमत मे तिथि व्यवस्था उपर्युक्त प्रकार से नहीं मानी जाती है। तिथि की मान्यता उसमें इस प्रकार है कि—सूर्योदय के बाद छह घड़ी या उससे ऊपर तक जो तिथि रहती है वह जैनमत मे उस सारे दिन मानी जाती है। जो तिथि सूर्योदय के बाद ६ घड़ियों से कम रहती है तो वह जैनमत में कतई नही मानी जा सकती। पंचांग में जिस प्रकार सूर्योदयको आधार मानकर ऊपर तिथि का वृद्धिह्रास बताया गया है, उसी प्रकार जैनमत मे उदय की ६ घड़ी के आधार पर तिथि का वृद्धि-ह्रास होता है। अर्थात् जैसे पंचांग में प्रथम दिन सूर्योदय के बाद से शुरू होकर अगले दिन के सूर्योदय से पहिले ही पूर्ण हो जाने वाली तिथि क्षय तिथि मानी जाती है, उसी तरह जैनमत में जो तिथि प्रथम दिन मे सूर्योदय से ६ घड़ी बाद शुरू होकर अगले दिन सूर्योदय के ६ घड़ी बाद से पहिले ही पूर्ण हो जाती है वह क्षय तिथि मानी जाती है। किन्तु जैनमत की वृद्धि तिथि समझना जरा कठिन है। कारण कि पंचांग मे जो वृद्धि तिथि होती है वह दोनों दिन सूर्योदय के वक्त आ जाने से होती है। इसी तरह जैनमत मे भी प्रथम दिन सूर्योदय से ६ घड़ी या उससे ऊपर तक अगर एक ही तिथि आ सकती होती तो वृद्धि तिथि हो जाती और यह तब हो सकता था जब कि तिथि का प्रमाण ६६ या उससे ऊपर की घड़ियों का होता। परन्तु किसी भी तिथि का प्रमाण अधिक से अधिक ६५ घड़ियो और कुछ पलो से अधिक नही होता है पूरी ६६ घड़ियों की भी कोई तिथि नहीं होती। इसलिए जैनमत मे दो तिथि किसी दूसरे ही ढंग से होती है। उसे बतलाने के पहिले मैं यह समझा देना चाहता हूँ कि तिथि का अधिक से अधिक प्रमाण जैसे ऊपर बताया गया है उसी तरह हर एक तिथि का कम से कम प्रमाण ५४ घड़ियो और कुछ पलों का होता है।

इससे कम तिथि नहीं होती है। मतलब यह है कि तिथि ५४ से ऊपर और ६६ से नीचे बीच में कितनी भी घड़ियों की हो सकती है। किन्तु हर एक तिथि पूरी की पूरी अहोरात्र भर मे कभी आ भी सकती है और नहीं भी आ सकती है। कितनी ही बार एक ही अहोरात्र में कुछ भाग एक तिथि का रहता है और कुछ भाग दूसरी तिथि का। शेष भाग उनके अगले पिछले दिन मे भुगतते रहते है। जैसे शुक्रवार को अष्टमी १५ घड़ियों की है अर्थात् सूर्योदय से लेकर १५ घडियो तक अष्टमी रही, ४५ घड़ियो तक इसी शुक्रवार को नवमी रहेगी। अष्टमी का शेष भाग पूर्व दिन बृहस्पतिवार को भुगता है और नवमी का शेष भाग अगले दिन शनिवार को भुगतेगा। इस उदाहरण में अष्टमी उदय तिथि कहलायेगी क्योंकि वह शुक्रवार को सूर्योदय के वक्त थी। तथा नवमी अस्ततिथि कहलायेगी क्योकि वह शुक्रवार को सूर्यास्तके वक्त रही है। इस तरह कई दिनों तक लगातार प्रत्येक-प्रत्येक दिन मे दो-दो तिथि चला करती है। ऐसी हालत में दो तिथि मे एक दिन कौन-सी तिथि मानी जावे यह समस्या आके खड़ी हो जाती है। इस समस्या को हल करने के लिए पंचागों मे तो यह नियम रक्खा गया कि जो तिथि सूर्योदय के वक्त पाई जावे वही उस अहोरात्रभर में मानी जावे और जैनमत में यह नियम रक्खा कि सूर्योदय वाली तिथि उस हालत मे उस दिन मानी जावे जब कि वह कम से कम उस दिन छह घड़ी तक रहती हो। जैसा कि शास्त्र के निम्न पद्यों से प्रकट है—

सूर्योदयात्षड्घटिकाप्रमा चेत् तिथिस्तदा स्यात् सकला व्रतेषु।
धर्मादिकार्येष्वखिलेषु गण्या·वदंति तां धर्मविदो यतीन्द्राः ॥
मुहूर्तैश्च त्रिभिर्न्यूना तिथिर्यत्र भवेत् खलु।
सा तिथिर्नैव मान्या हि जैनमार्गानुयायिभिः ॥

अर्थ—यदि सूर्योदय से ६ घड़ी प्रमाण तिथि हो तो उसे धर्मज्ञ यतीश्वरों ने व्रत और सभी धर्मादि कार्यों में पूर्ण मानी है।

और जो तीन मुहूर्त कहिये ६ घड़ी से कम उदय तिथि हो तो उसे जैनियों को नहीं मानना चाहिये ।

यहाँ यह विचारणीय है कि जिस दिन ६ घड़ी की उदय तिथि आवेगी उसी दिन ५४ घड़ी की अस्त तिथि आवेगी तो उसे नहीं माना जावेगा । किन्तु जब किसी दिन ६ घड़ी से कम उदय तिथि आवेगी तो उसी दिन ५४ घड़ी से ऊपर अस्ततिथि आवेगी वह मान ली जायेगी । इसका फलितार्थ यह हुआ कि जैनमत में दो प्रकार की तिथि मानी जाती हैं । एक तो छह घड़ी की या इस से ऊपर की उदय तिथि और दूसरी तरफ ५४ घड़ी से ऊपर की अस्ततिथि । यद्यपि ६ घड़ी से कम की उदय तिथि नहीं मानने से ही यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि उस दिन की अस्ततिथि मानना । फिर भी हम अस्ततिथि माननेका शास्त्र प्रमाण दे देते हैं—

त्रिमुहूर्तेषु यत्रार्क उदेत्यस्तं समेति च ।
सा तिथिः सकला ज्ञेया उपवासादिकर्मणि ।।

—पद्मदेवकृतव्रतविधाने

अर्थ—उपवासादिकार्य में वह तिथि पूर्ण मानी जाती है जिसमें तीन मुहूर्त तक सूर्य उदय रहता है । अथवा जिस तिथि मे सूर्यास्त रहता है ।

इसी अर्थ का द्योतक श्लोक नं० ५१ पं० आशाधर जी कृत "अनगारधर्मामृत" के ९वें अध्याय में भी है । वर्तमान के कुछ पंडितोने इस श्लोकका उदयकी तरह अस्त मे भी तीन मुहूर्त होना अर्थ किया है सो गलत है । ऐसे अर्थ की कुछ संगति नहीं बैठती है ।

जो तिथि ५४ घड़ियो से ऊपर की होती है वह एक तरह से पूर्ण तिथि ही है क्योंकि तिथि का कम से कम प्रमाण ५४ घडी और कुछ पलों का होता है जैसा कि ऊपर बताया गया है । ऐसी पूर्ण तिथि जब एक ही अहोरात्र के अन्दर आ जाती है तो वह मानी जानी चाहिये ही ।

इस के लिए तो ६ घडी से कम की उदय तिथि अमान्य ठहराई गई है ताकि इसके स्थान मे उस दिन वह मानी जा सके। अगर ६ घडी से कम की उदयतिथि भी मान ली जाती तो अस्त की पूर्ण तिथि जो उसी दिन है छूट जाती। बस यही रहस्य छह घडी उदय तिथि मानने का है जो बडी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का सूचक है।

शका—एक ही दिन मे आनेवाली दो तिथियो मे छह घडी की तिथि तो मान लेना और ५४ घडी की तिथि छोड देना ऐसा क्यो ?

समाधान—लगातार कई दिनो तक प्रतिदिन दो-दो तिथि होने पर दोनो मे से किसी एक को मानने से ही तिथि का सिलसिला बराबर आगे तक चल सकता है इसलिये दोनो मे एक को मान लो चाहे वह थोडी ही घडियो की हो।

शका—दोनो मे जो अधिक घडियो की हो उसे मान लेने पर भी तिथि का सिलसिला तो चल सकता था।

समाधान—जब एक ही दिन मे बराबर की घडियो की दो तिथि आती तो किसे मानते। इसलिये किसी एक ही को सदा मानने का नियम तो होना ही चाहिये।

शका—यदि ऐसा है तो उदय तिथि को ही प्रधानता क्यो दी ?

समाधान—इसका कारण यह है कि विशेष कर नित्य कर्म, धार्मिक अनुष्ठान व लौकिक व्यवहार भी दिन ही मे हुआ करते है रात्रि तो अधिकतया शयन मे ही बीतती है। इसलिए उदय तिथि को प्रधानता दी है।

शका—छह घडी से कम की उदय तिथि न मानने का ही नियम क्यो रक्खा गया ? सात आठ आदि घडियो से कम की उदय तिथि न मानने का रखते तो क्या हर्ज था ?

समाधान—किसी एक अधूरी तिथि को पूरी माने विना आगे तक तिथियो का सिलसिला बराबर चल नही सकता इसलिये ऐसी एक उदय तिथि ६ घडी को मान ली। बाकी तिथि पूरी ही मानी गई। अगर सात

आठ आदि घड़ियों से कम की उदय तिथि भी न मानी जाती तो उस दिन अधूरी अस्ततिथि माननी पड़ती। तब उदय और अस्त दोनों ही तिथियाँ अपूर्ण मानने मे आतीं जो ठीक नहीं होता।

शंका—पंचांग की तरह केवल उदय मात्र तिथि मानने में क्या खराबी है?

समाधान—यह कि उस दिन की पूर्ण अस्ततिथि उसी दिन नहीं मानी जाती। इसलिये तिथि विधान मे जैन आम्नाय ही ठीक मालूम होती हैं।

ऊपर हमने जैन क्षय तिथि कैसी होती है यह बतलाया था। अब हम इस विवेचन के बाद जैन सम्मत वृद्धि तिथि होना बताते हैं—

ऊपर यह बतलाया गया है कि—सूर्योदय के बाद छह घड़ी पहिले जो तिथि लगती है वह अस्ततिथि कहलाती है और वही उसी दिन मानी जाती है। फिर वही तिथि अगर अगले दिन भी सूर्योदय से छह घडी या उसके बाद तक चली जाती है तो वह दूसरे दिन भी मानी जाती है। बस यही हिसाब जैनमत मे दो तिथि होने का है।

पंचाग से जैन तिथि निकालने का तरीका—

किसी इच्छित पंचाग को खोलकर देखिये उसमें प्रत्येक तिथि के आगे एक खाने मे उसकी घड़ियाँ लिखी मिलेंगी। जिस तिथि के सामने जितनी घड़ियाँ लिखी है उसका मतलब है कि वह तिथि उस दिन सूर्योदय के बाद उतनी घडियो तक रही है। बाद मे उसी दिन अगली तिथि लग गई है। अगर किसी वार को तिथि के आगे छह या छह से अधिक घडियाँ लिखी हो तो उस वार को वही तिथि समझना चाहिये। और जो किसी वार

---

१. सोदयं दिवसं ग्राह्यं कुलाद्रिघटिका प्रमम्।
अर्थात्—कुलाद्रि (षट्कुलाचल) यानी ६ घड़ी प्रमाण उदय तिथि माननी चाहिए। यह तिथि नियमन के लिए जैनसूत्र है।

को तिथि के आगे छह से कम घड़ियाँ लिखी हों तो उस वार को अगली तिथि माननी चाहिये। मतलब कि जिस तिथि के सामने कम से कम छह घड़ी हों तो वह पंचांग की तिथि ही जैन तिथि हो जावेगी। किन्तु जिस तिथि के आगे ६ से कम घड़ियाँ लिखी होंगी तो पंचाग की वह तिथि जैन तिथि न होकर उस दिन उसकी अगली तिथि होगी। इस दृष्टि को ध्यान मे रखने से अपने आप क्षयतिथि और वृद्धि तिथि भी निकल आवेगी। जैन तिथि निकालते वक्त यह बात ध्यान मे रखने की है कि—पंचागों मे जो तिथि क्षय बताई हो उसे छोड़ देना चाहिए क्योकि उसका वार (दिन) वही यिया रहता है जो उससे पूर्व की तिथि का है अतः उसे छोडकर ही चलना चाहिए ताकि भ्रम मे न पड़े। पंचागो मे जो तिथि क्षय बताई जाती है उसके 'योग' के खाने मे सदा 'क्षय' लिखा रहता है और उस तिथि के आगे अनेक शून्य ० दी हुई रहती है यह पंचाग की क्षय तिथि की पहचान है।

तिथि क्षय वृद्धि के विषय मे एक निष्कर्ष यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि—पचागो मे जिस तिथि को क्षय बताई हो जैनाम्नाय मे सदा उससे पूर्व की १-२ तिथियो मे ही क्षय तिथि आती है और पंचागो मे जो तिथि वृद्धिगत बताई हो जैनाम्नाय मे सदा उसके आगे की १-२ तिथियो मे ही वृद्धि तिथि आती है।

ऊपर भी हमने तिथि के वृद्धिह्रास के बाबत खूब स्पष्ट कर दिया है। उसे भी ध्यान मे रख लेना चाहिये। जैन तिथि निकालने की यह ऐसी सरल तरकीब है कि कोई भी सज्जन पंचांग को देख कर बड़ी आसानी से जैन तिथि निकाल सकता है पहिले इसी तरह सब निकालते थे। अब तो लोग सीधे बने तिथि दर्पणो को देखकर ही काम चलाने लगे है। जिससे भारी हानि यह हुई कि जैन जनता जैन तिथि निकालने की विधि ही भूल बैठी। जिसका फल यह हुआ कि कतिपय तिथि दर्पणों की गलत तिथियाँ भी मानी जाने लगी है।

अब हम पंचांग से एक नमूना दिये देते है और उसी के आगे जैन मान्यतानुसार फलित होने वाली जैन तिथि और जैन-क्षय-वृद्धि तिथि भी एक कोष्ठक मे बता देते है इससे आप इस विषय को भली भाँति समझ सकेंगे और इसी रीति से पंचांगों की तिथियों से जैन तिथियां अनायास निकाल सकेंगे।

—श्रावण शुक्ल पक्ष सं० २०१३—

योग	तिथि	वार	घडी	पल	वार	जैन तिथि—
	३	गुरु	७	२६	गुरु	३
					गुरु	चौथ क्षय
	४	शुक्र	३	२६	शुक्र	५
	५	शनि	०	३२	शनि	६
क्षय	६	शनि	५८	४५००००००००००००००००		+
	७	रवि	५८	१२	रवि	७
	८	चंद्र	५८	५८	चंद्र	८
	९	मंगल	६०	०	मंगल	९
	९	बुध	१	०	बुध	१०
	१०.	गुरु	४	१०	गुरु	११ दो ग्यारस
	११	शुक्र	८	१६	शुक्र	११

जैन तिथियो के लिये अलग जैन पंचाग निकालने की भी कोई जरूरत मालूम नही होती है। प्रचलित पंचाग ज्योतिष शास्त्र के अनुसार ही निकलते है और उन्ही से जैन तिथियाँ निकाली जा सकती है। इसके अलावा सारे जैन समाज मे एक व्रत तिथि मानना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि दूरवर्ती देशभेद के कारण सब पंचागो की तिथियाँ समान घड़ियों की नहीं हो सकतीं और अपने अलग-अलग देशो मे अलग-अलग पंचाग मानने से तिथियो में फर्क भी अवश्य रहेगा ही। हाँ पंचांग से

जैनतिथि निकालने की जो विधि है उसमे विद्वानो को एकमत हो जाना चाहिये। इस सम्बन्ध मे जो गल्ती पर है उन्हे युक्त्यागम से निर्णय कर अपनी गल्ती सुधार लेना चाहिए।

कुछ लोग जैन तिथि को ही व्रततिथि समझते है सो भी ठीक नही है। जैनतिथि लोक व्यवहार मे काम आने के लिए होती है और व्रततिथि व्रतादि धर्म कार्यो के लिए। जैनियो की अल्प सख्या के कारण लोक व्यवहार मे खुद जैनियो को भी बहुसख्यक हिन्दुओके देन-लेन (व्यापारादि) मे अधुना पचाग की तिथियाँ ही मानने को बाध्य होना पडता है और इसीलिए जैनतिथियाँ अब मात्र व्रतादि धर्मकार्यों ही के काम की रह गयी है। जिसे देख लोग जैनतिथि और व्रततिथि को एक ही समझ बैठे है। यह मालूम होना चाहिए कि दो तिथियो मे कौन-सी तिथि व्रत के लिए मानी जावे और क्षयतिथि का व्रत किस तिथि को किया जावे इत्यादि विचार व्रततिथि मे ही किया जाता है, जैनतिथि मे नही। हाँ यह बात जरूर है कि व्रततिथि का मूल जैनतिथि ही रहता है।

वृद्धितिथि मे व्रतविधान करने की शास्त्राज्ञा निम्न प्रकार है—

तिथिवृद्धिर्यत्र पक्षे तस्यामुक्त व्रत हि यत्।
तत्पूवस्या तिथौ कुर्यादुत्तरस्या तिथौ नहि ॥

—व्रतनिर्णय

अर्थ—जिस पक्ष मे तिथि की वृद्धि हो और उस तिथि मे जो व्रत कहा हो उसे पहली तिथि मे करना चाहिए, अगली मे नही।

युक्ति से विचार करने से भी प्रथम तिथि ही ठीक यो बैठती है कि ५४ घडियो से अधिक की पूण तिथि प्रथम दिन मे ही रहती है।[१]

---

१ जैनी जियालाल जी के पचाग मे एक अलग खाना जैन तिथियो का रहता है। उसकी जैनतिथियाँ ठीक विधि से निकली हुई रहती हैं। किन्तु दो तिथिया मे वहाँ दूसरी तिथि मानी जाती है यह ठीक नही है।

क्षय तिथि पूर्व दिन मे शामिल की जाती है क्योंकि उसका बहु भाग उसी दिन रहता है। इसलिए व्रत भी उसका उसी दिन करना चाहिए यह स्पष्ट है अतः शास्त्र प्रमाण देने की जरूरत नही है।

दो मास हों तो कौन सा मानना इसके लिए आगमप्रमाण यों है—

संवत्सरे यदि भवेन्मासो वै चाधिकस्तदा।
पूर्वस्मिन् न व्रतं कार्यमपरस्मिन् कृतं शुभम् ॥

—व्रततिथि निर्णय

अर्थ—यदि वर्ष मे अधिक मास हो तो पहले मे व्रत न करके दूसरे मास मे करना शुभ है।

दश लक्षणिकादि व्रत दूसरे भादवे मे करने चाहिये। तिथि पहली और मास दूसरा मानना यह जैन आम्नाय है। ढाई वर्ष मे एक मास बढा करता है। तिथियों के कारण पैदा हुई कमी मास बढाकर पूर्ण की जाती है। दूसरा मास ही पूर्णता के नजदीक रहता है इसलिए व्रतादि के लिए दूसरा मास मानना युक्ति से भी ठीक है।[1]

व्रत दो प्रकार के होते है—तिथि प्रधान और दिन प्रधान। जिन व्रतों मे आदि अंत की कोई खास तिथि नियत रहती है वे तिथि प्रधान व्रत कहलाते है। जैसे दशलाक्षणिक, पंचमेरु, लब्धिविधान, षोडश कारण, नंदीश्वर आदि। और जिनमे दिन संख्या की प्रधानता रहती है वे दिन

उसीके आधार पर बना तिथिदर्पण हर वर्ष 'दिगम्बर जैन' और 'जैनमित्र' के ग्राहकों को भेट दिया जाता है। उसमे भी तिथि की वृद्धि होने पर दूसरी तिथि ही तथा क्षय होने पर आगे की तिथि ही मानी जाने का उल्लेख रहता है। उसके संपादक जो को चाहिए कि यह गल्ती सुधार लें या अपने मन्तव्य की पुष्टि मे आगम प्रमाण पेश करें।

१. विद्वज्जन बोधक के चतुर्थ खंड मे भी तिथि पहली और मास दूसरा मानना जैनों मे अनादि की रीति लिखी है।

प्रधान व्रत कहलाते है। जैसे सिंहनिष्क्रीड़ित, सर्वतोभद्र, कनकावली आदि। इन व्रतों मे किसी तिथि का बंधन नही है जब कभी भी शुरू किये जा सकते है। और दिनों की संख्या से धारणे पारणें इनमे हुआ करते है। तिथि प्रधान व्रतों में किसी व्रत का प्रारम्भ खास नियत तिथि में हुआ करता है पर जब व्रत के दिनो मे कोई क्षयतिथि आ जाती है तो एक दूसरा अपवाद नियम भी है और वह इस प्रकार है।

यावत्सु वासरेपूच्चैर्यद् व्रतं च प्ररूपितम्।
तिथिक्षयश्चेदत्रास्ति तत्र पूर्वं दिनं भजेत्॥

—व्रतनिर्णय

अर्थ—जितने दिनो का जो व्रत कहा है इसमे यदि तिथि का चय हो तो उसे पूर्वदिन ग्रहण करना चाहिये।

उदाहरण के लिये जैसे दशलक्षण व्रत के दिनो मे एकादशी आदि कोई तिथि क्षय हो जावे तो उसे पंचमी के पूर्व चतुर्थी से शुरू किया जावे और यही वर्तमान मे किया भी जाता है। यह नियम सोलहकारणव्रत के लिये भी लागू होना चाहिये। किंतु कुछ महाशय इसे मासिक व्रत बतलाकर इस नियम से उसे बाहर रखना चाहते है। हमारी समझ से यह अनुचित है। जिस प्रकार दशलाक्षणिकादि व्रतो की आदि अंत की तिथि नियत है उसी तरह इसकी भी नियत है तब वह उक्त अपवाद नियम से कैसे बच सकता है। यह दूसरी बात है कि सोलहकारणव्रत की आदि अन्त की तिथि के भीतर मास भर भाद्रपद का आ गया है इससे यह नही कहा जा सकता कि तिथिक्षय होने पर भी वह भाद्रपद के पूर्व दिन मे प्रारम्भ नही किया जाता। मतलब यह है कि जैसे दूसरे व्रतों की प्रारम्भिक तिथि नियत होने पर भी तिथिचय होने पर वे पूर्व दिन से शुरू किये जाते है उसी तरह सोलहकारणव्रत पूरे भाद्रपद मास मे नियत रहने पर भी वह तिथिक्षय होने पर श्रावण शुक्ला १५ को शुरू किया जाना चाहिये यही ठीक है।

यहाँ जैसे क्षयतिथि मे पूर्वदिन शुरू करके दिन बढ़ा लिया गया है उसी तरह यह न समझ लेना चाहिये कि इन व्रतों मे कहीं वृद्धितिथि हो जावे तो इन्हे इनकी नियत तिथि से अगले दिन शुरू कर दिन घटा लिया जावे। शास्त्रकारों की आज्ञा वृद्धितिथि मे दिन घटाने की नहीं है। 'अधिकस्याधिकं फलं' कहकर उन्होने तिथिवृद्धि में बढता हुआ दिन रखना ही प्रायः प्रतिपादन किया है[1]।

●

---

१. ज्योतिष व्यवहार कालः—

६० पल (२४ मिनट) = १ घड़ी।

२ घड़ी (४८ मिनट) = १ मुहूर्त।

२॥ घड़ी (६० मिनट) = १ घंटा।

७॥ घड़ी (३ घंटा) = १ पहर।

६० घड़ी (८ पहर या २४ घंटा) = १ अहोरात्र (दिनरात)।

नोटः—दिगम्बर आम्नाय में उदयात् छह घड़ी की मान्यता है।

श्वेतांबर ,, ,, ,, ,, एक घड़ी ,, ,, ,, ,,

वैदिक ,, ,, ,, ,, मात्र उदयात् ,, ,, ,,

'व्रततिथि निर्णय' ग्रन्थ का निरीक्षण

यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन, विवेचन और अनुवाद श्री नेमिचन्द्र जी शास्त्री, आरा निवासी ने किया है। अनेक सिंहनन्दियो मे से प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता १८वी सदी में होनेवाले कोई सिंहनन्दि नाम के भट्टारक है। सम्पादक जी ने इनका समय १७वी सदी लिखा है वह ठीक नही है चूँकि इस ग्रन्थ के पृ० २२२ मे ग्रन्थकार ने दामोदर, देवेन्द्रकीर्ति और हेमकीर्ति को अपने समय मे होना बताया है। दामोदर ने चद्रप्रभ-चरित की रचना स० १७२७ मे की है। और देवेन्द्रकीर्ति और हेमकीर्ति का भी यही समय है। (देखो भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ८३–१२२) अत इन सिंहनन्दि का समय १८वी सदी का दूसरा, तीसरा चरण से पहिले नही हो सकता है। एक सिंहनन्दि वे हैं जिन्होने 'पचनमस्कारदीपिका' नामक ग्रन्थ सवत् १६६७ मे बनाया है जिनका उल्लेख इसी ग्रन्थ के पृ० १३२ पर हुआ है वे इनसे जुदे और पूर्व के है। एक और सिंहनन्दि १६वी सदी मे भी हुए है जिनका उल्लेख श्रुतसागर ने किया है। प्रस्तावना पृ० ११ मे सम्पादक जी ने इसका प्रभाव जमाने के लिये झूठ-मूठ ही इसे प्राचीन बता दिया है। ग्रन्थ की समाप्ति मे सिंहनन्दि का नाम ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप मे स्पष्ट लिख रखा है ऐसी हालत मे ग्रन्थ को सकलित कहकर ग्रन्थ-कर्त्ता को अनिर्णीत लिख देना कुछ मतलब नही रखता है जब कि आपने स्वय ही ग्रन्थ की विवेचना करते हुये कई जगह सिंहनन्दि का नामोल्लेख कर्त्तारूप से किया है। देखो पृ० १०६, १३२, ६६, १४५, २६६।

यद्यपि मूलग्रन्थ छोटा-सा बीस, तीस पेजो मे लिखा जा सके जितना ही है, किन्तु ग्रन्थ का कलेवर २८० पृष्ठो मे बढा दिया है। तिस पर

भी कहीं-कहीं मूल ग्रन्थ के पद्यो और गद्यों के संशोधन की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया गया है। उन्हे यों ही जैसे मिले वैसे ही प्रकाशित कर दिये हैं। अशुद्धि के कारण अर्थ ठीक तौर से न बैठ सका तो उसका भी कुछ खयाल नही किया गया है। यहाँ तक कि अशुद्धि के कारण छन्द भंग हो रहा है तो उस पर भी दृष्टि डालने की आवश्यकता नही समझी गई है। उदाहरण के तौर पर देखिये—

(१) "त्रिविधातिथिसमायते........" पृ० ७६ (२) "व्रते वटोपमा-गत्यं...." पृ० ८० (३) "ये गृह्लंति सूर्योदयं शुभदिनमसद्दृष्टिपूर्वा नराः। तेषा कार्यमनेकधा व्रतविधिमार्गमेवेति च॥" पृ० ८६। ये सब पाठ छपी हुई प्रति के है और अशुद्ध है। अशुद्ध होने के कारण ही इनका अर्थ भी ऊटपटाग ही किया गया है। ऐसी अशुद्धियाँ ग्रन्थ मे अन्यत्र भी यत्र-तत्र पाई जाती है। उक्त अशुद्ध पाठों के स्थान मे शुद्ध पाठ क्रमशः निम्न प्रकार जानने चाहिये—

(१) "वेधातिथिसमायाते।
(२) "व्रते वटोऽथ मागल्ये।"
(३) "ये गृह्लंति सदोदयं शुभदिनेऽसद्दृष्टिपूर्वा नराः।"
तेषा कार्यमनेकधाव्रतविधिर्मांगल्यतामेति न।"

भट्टारकी साहित्य की जैसी रूपरेखा हुआ करती है वही इसकी भी है। पृ-१६० पर मुकुटसप्तमीव्रत का कथन करते हुये लिखा है कि—

"आदिनाथस्य वा पार्श्वनाथस्य मुनिसुव्रतस्य च पूजां विधाय कंठे मालारोप·।" इसका अर्थ अनुवादकजी ने यों किया है—"आदिनाथ या पार्श्वनाथ और मुनिसुव्रत का पूजन कर जयमाला को भगवान का आशीर्वाद समझ कर गले मे धारण करना चाहिये।" यहाँ व्रत करने वाला भगवान की पूजा करने के अनन्तर माला को अपने गले मे पहिने ऐसा अर्थ दर्शाकर अनुवादक ने मूल ग्रन्थकार को आक्षेप से बचाने की कोशिश

है किंतु ग्रन्थकार आगे पृ० १३१ पर इसी मुकुटसप्तमीव्रत का फिर कथन करते हैं, वहाँ स्पष्टतौर पर वीतराग-भगवान के गले में माला और मस्तक पर मुकुट पहिनाने का विधान करते हैं। कुछ लोग ऐसी अयुक्त बातों की भी संगति वीतराग-देव के साथ लगाने के लिये अपनी विलक्षण प्रतिभा दिखाते हुये कहते हैं कि "अष्टप्रातिहार्यों मे भगवान पर पुष्पवृष्टि होना बताया है वे पुष्प भी तो भगवान के गले मस्तक पर गिरते हैं तो फूलो की मुकुटमाला किसी व्रतविशेष मे भगवान को पहिनाना बता दिया तो इसमे क्या अनुचित बता दिया ?" ऐसा कहने वालों की अक्ल को अजीर्ण हो गया है, उन्हे समझ लेना चाहिये कि भगवान पर पुष्पवृष्टि उनके गले मस्तक पर नही गिरती है, क्योकि मस्तक पर छत्र-त्रय लगे रहते हैं। अत. पुष्पवृष्टि भगवान के आगे सामने होती है, जैसा कि आदि पुराण पर्व २३ श्लोक ३५ में कहा गया है।

इस व्रततिथिनिर्णय ग्रन्थ मे और भी कितना ही कथन आपत्ति के योग्य है जिसे लेख विस्तार के भय से छोडा जाता है। मूल ग्रन्थकार ने विषय को ऐसे ढंग से चर्चा है कि उससे पाठको को किसी निश्चितमत का पता ही नही लगता है कि वे खास बात क्या मानें और क्या न मानें। इसी प्रवाह मे अनुवादकजी भी बह गये है वे भी कहीं क्या लिखते और कही क्या। उदाहरण के तौर पर देखिये—

पृ० १०७ पर मुनिसुव्रतपुराण का एक पद्य देकर षष्ठांशरूप में उदयतिथि के मानने को कहा गया है। जिसका अर्थ अनुवादक ने "दश घड़ी करीब की उदयतिथि से कमतिथि न मानी जावे" किया है। जब कि इसके पहिले ६ घड़ी की उदयतिथि मानने को कहा गया है फिर यहाँ १० घडी का कथन क्यों किया गया ? यह कुछ समझ मे नही आता है। ग्रन्थकार ने इसे मतातर भी नहीं बताया है और न इसका विरोध ही किया है। ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने षष्ठांश का अर्थ यहाँ छह घड़ी समझा हो। इसी प्रकार पृ० ८९ में छह से बारह घड़ी तक

की उदयतिथि के मानने को कहा है। और पृ० १३० में छह घड़ी से कम उदयतिथि को ग्रहण करना भी लिख दिया है। तथा पृ० १२२ में ६ घड़ी प्रमाण उदयतिथि को भी अमान्य बता दिया। एवं पृ० ६२, ६३ मे किसी व्रत के दिनो में तिथिक्षय होने पर उसे प्रारम्भ से पूर्व दिन में करने का विधान कर व्रत के दिनों मे कमी न की जाये ऐसा कहा गया है। यही बात पृ० १२८ मे 'दशलक्षणव्रत कभी भी ९ दिन नही किया जाता है' इन शब्दों मे कह कर भी इसी के विरुद्ध पृ० १३० में लिखा है कि—"अन्तिमतिथि के क्षय होने पर दशलक्षण व्रत ६ दिन तथा अष्टान्हिका व्रत ७ दिन तक ही करने चाहिये, एक दिन पहले से व्रत करने लग जाना ठीक नही है।" फिर आगे पृ० १४३, १४४ में वही पृ० ६२ वाला कथन किया है कि—"यदि आदि मध्य और अन्त मे तिथिहानि हो तो एक दिन पहले से व्रत का प्रारम्भ किया जावे।': इसी तरह रत्नत्रयव्रत मे दिनहानि होने पर पृ० १६५ और ९३ में एक दिन पूर्व व्रत करने का विधान करके पृ० २२६ मे इसके विरुद्ध कहा गया है। पृ० ८६ मे दैवसिकव्रतों के लिए उदय तिथि ६ घड़ी की और नैशिकव्रतों के लिये अस्ततिथि मानने का कथन करके पृ० १४७ में इसके विरुद्ध लिखा है कि—

"दैवसिक व नैशिक दोनो ही प्रकार के व्रतो के लिये छह घड़ी की उदय तिथि ग्राह्य है।" इस प्रकार इस ग्रन्थ मे कई जगह पूर्वापर विरुद्ध कथन किया हुआ मिलता है जिससे पाठक किसी खास निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते हैं।

कहीं-कहीं तो अनुवादक ने मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को ठीक न समझने के कारण भी अंटसंट विवेचना की है। जैसा कि पृ० १४६ मे किया गया है। वहाँ टीका मे लिखा है कि—

"यथापूर्वमुदयकालव्यापिनी तिथि र्गृहीता चकारात्........तथैवात्रापि अवधेयं।" इसका ठीक अर्थ तो यों होता है कि—"जैसे पहिले (यहाँ पूर्व

शब्द से ग्रन्थकार का संकेत पृ० ८८ के कथन से है) उदय तिथि और चकार से अस्ततिथि के ग्रहण का कथन किया है वही यहाँ भी समझना चाहिये।" किन्तु अनुवादक जी इसका तात्पर्य यों लिखते हैं कि—

"सूर्योदय के पूर्व तीन मुहूर्त रहने वाली तिथि भी नैशिकव्रतों के लिये ग्राह्य है।" कहने की आवश्यकता नही कि अनुवादक जी के इस तात्पर्य का समर्थन ग्रन्थ भर के किसी भी स्थल से नही होता है।

संपादक जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना मे भगवान के जन्म-मोक्ष आदि कल्याणको की तिथियों को नक्षत्र के अनुसार मानने के लिये जोर दिया है और इसके लिये वीरजयन्ती की तिथि मे छह घड़ी से कम की उदय तिथि के मानने की भी स्वीकृति दे दी है। यह सब लिखना हम तो संपादक जी की खुद ही की कल्पना समझते है। क्योंकि इन्द्रनंदि ने नीतिसार मे स्पष्ट लिखा है कि—

जिनजन्मादिका: सर्वाः क्रिया मासतिथिप्रमा.।
नक्षत्रयोगकरणं तु न प्रधानं यतश्चलम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जिस मासतिथि मे भगवान के जन्मादि हुए हैं उसी मासतिथि मे जन्मादि कल्याणकों की क्रियायें करनी चाहिये। उनके लिये नक्षत्र का योग मिलाना प्रधान नही है क्योकि वह अस्थिर है यानी कथित मासतिथि के साथ सदा ही कथित नक्षत्र का मेल नही बैठता है।

इस ग्रन्थ के पृ० ८८ पर ग्रन्थकर्त्ता का ११वाँ श्लोक मय व्याख्या के पाया जाता है। यहाँ पर जो व्याख्या की गई है वह ऐसी अजीब है कि जिसका तात्पर्य ही समझ मे नहीं आता है। न अनुवादक जी ने ही उसका खुलासा किया है। इस तरह के स्थल, ग्रन्थ मे अन्यत्र भी है। यहाँ लिखा है कि—उदय तिथि दैवसिक व्रतों के लिये और अस्ततिथि नैशिकव्रतों के लिये मानी जाती है।"इस प्रकार का कथन भी भट्टारक जी सिंहनंदि की अपनी खुद की सूझ को ही सूचित करती है। क्योंकि जिस श्लोक के आधार पर ऐसा कहा गया है वह श्लोक ही दर असल पं० आशा-

धरजी का है जो अनगारधर्मामृत के ६वें अध्याय में ५१वें नम्बर पर पाया जाता है। जिसे कुछ रद्दो-बदल करके सिंहनंदि जी ने अपना बना लिया है। इसी तरह इन्द्रनन्दि के नीतिसार का श्लोक नं० १०४ को भी इसमे पृ० १२७ पर कुछ पाठ-भेद करके अपना बना लिया है जिसका नं० १६ दिया हुआ है, जिसे अनुवादक जी ने पृ० १३२ पर जोर देकर सिंहनन्दिकृत होना घोषित किया है। अनगार धर्मामृत में उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए आशाधरजी ने तो यह कही नही लिखा है, कि अस्ततिथि नैशिकव्रतो के लिये मानी जाती है। तिथिक्रम का विचार करने से भी यही सिद्ध होता है कि हर व्रत के लिये छह घड़ी उदय तिथि अथवा अस्ततिथि मानना अति जरूरी है, दोनों के माने बिना निर्वाह ही नहीं हो सकता है। व्रतों के साथ नैशिक नामकरण भी विलक्षण ही है। इसे भट्टारकजी की मनगढ़न्त के सिवा और क्या कहा जावे ?

इस ग्रन्थ के पृ० १८१ पर ग्रन्थकर्त्ता ने तिथि का प्रमाण कम से कम ५४ घड़ी और अधिक ६७ घड़ी का लिखा है। इस विषय मे हमने ज्योतिष के विशेषज्ञो से दरयाफ्त किया तो उन्होंने कहा कि सूक्ष्म गणित के हिसाब से कम से कम तिथि ५० घड़ी की और अधिक से अधिक ६७ घड़ी की हो सकती है किन्तु ग्रहलाघव मकरन्द आदि प्रसिद्ध ज्योतिष के ग्रन्थो मे "बाणवृद्धिरसक्षय" इस मुख्य सिद्धान्त से अहोरात्र ६० घड़ी मे ५ की वृद्धि और ६ का क्षय अर्थात् कम से कम तिथि ५४ घड़ी की और अधिक ६५ घड़ी की तिथि होना बताया है और इसी आधार पर पंचागो का अधिक प्रचार है। हमने भी वृद्ध पंडितों के मुख से ऐसा ही सुना है और जैन समाज मे जिन पंचांगो का प्रचार है, उनमे भी तिथि का दण्डात्मक मान कम से कम ५४ घड़ी और अधिक से अधिक ६५ से ऊपर व ६६ से कमका ही बैठता है यही बात पं० भूधरदास जी ने भी 'चर्चासमाधान' ग्रन्थ में चर्चा नं० ११८ में कही है। यथा—

'तिथि का प्रमाण चौवन घड़ी सूं लेय पैंसठ घड़ी ताई होई, तथा

कुछ घाटि छासठ घड़ी होइ पूरो छासठ न होइ। तहाँ जो पहिले दिन साठ घड़ी और अगले दिन पाँच घड़ी होइ तो पहिले दिन उपवास आरंभ कीजे। ईहाँ कोई कहे—अगले दिन छह घड़ी होइ तब क्या करे? तिसका उत्तर-पैंसठ घड़ी सों तिथि का प्रमाण बढती होइ नाहीं यातैं अगले दिन मे छह घड़ी कहाँ से आवे जो पहिले दिन साठ घड़ी सो कोई तिथि घटती होइ तो अगले दिन उदय काल मे छह घड़ी पाइये सो तिथि उपवास कों योग्य है यातैं तीन मुहूर्त की उदय तिथि जैन मे लीन कही है। आशाधर कृत यत्याचार मे कही है।"

सिंहनन्दि ने तिथि का अधिक मान ६७ घड़ी का लिखा वह सूक्ष्म गणित की अपेक्षा ठीक कहा जा सकता है किन्तु जब सूक्ष्म गणित ही से तिथि मान बताना था तो कम से कम तिथि का मान भी सिंहनन्दि को ५० घड़ी का ही बताना चाहिये था, न कि ५४ घड़ी का। इसमे भी एक रहस्य है-ग्रन्थकार यह समझ रहा था कि तिथि का मान ६७ घड़ी माने बिना दो तिथि कैसे हो सकेगो। इस लिये उनने तिथि का अल्प मान तो प्रचलित व्यवहार से बता दिया और अधिक मान सूक्ष्म गणित से बता दिया जिसका कि खासतौर से कोई प्रचार नहीं है। किन्तु ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी। दो तिथि तो एक अस्त और ६ घड़ी उदय तिथि मिलकर भी हो सकती है जैसे मंगलवार को सप्तमी उदय मे ५ घड़ी होने से मंगल को सप्तमी न मानकर इस दिन ५ घडी बाद आने वाली अष्टमो मानी जावेगी और यही अष्टमी अगले दिन बुधवार की उदय मे ६ घडी या इससे अधिक होगी तो बुधवार को भी अष्टमी मानी जायेगी इस तरह दो तिथि हो सकती है। दो तिथि होने की यह विधि न मानी जावेगी तो "व्रत तिथि निर्णय" ग्रन्थ मे दस व बारह घड़ी की उदय तिथि मानने के मतान्तर दिये है जो कि कर्णाटक आदि प्रान्तों मे माने जाते है। उनके यहाँ दो तिथि कैसे होगी? तिथि का मान ७० या ७२ घड़ी का तो हो ही नहीं सकता। "उनके यहाँ दो तिथि होती

ही नहीं" ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है। लेखवृद्धि के भय से अभी हम और अधिक लिखना नहीं चाहते है। अन्त में हमारा इस ग्रन्थ के सम्पादक महोदय ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्र जी साहब शास्त्री से सविनय निवेदन हैं कि वे इस पर ठण्डे दिल से गम्भीरता के साथ विचार कर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

●

भक्तामर स्तोत्र

स्तोत्र-पाठ साधु और श्रावक दोनो के लिये जिनपूजा का एक प्रशस्त प्रकार है।

भक्तामर स्तोत्र दि० श्वे० दोनो सप्रदायो मे काफी लोकप्रिय है इसकी महत्ता इसी से आँकी जा सकती है कि—तत्त्वार्थ सूत्र के साथ मे इसका भी जैन लोग प्रति दिन पाठ करते हैं।

इस स्तोत्र के प्रारम्भ मे 'भक्तामर' शब्द होने से इसका नाम "भक्तामर स्तोत्र" प्रसिद्ध हो गया है वैसे यह आदिनाथ (ऋषभ) स्तोत्र भी कहलाता है जैसा कि इसके श्लोक १ मे प्रयुक्त "युगादौ" श्लोक २ मे प्रयुक्त "प्रथम जिनेन्द्र" तथा श्लोक २४ मे प्रयुक्त "आद्य" वाक्यो से सूचित होता है।

इस स्तोत्र पर अनेक सस्कृत टीकाएँ पायी जाती है एव हिन्दी आदि लोक भाषाओ मे भी विविध गद्य पद्यानुवाद उपलब्ध है इससे यह काफी प्रसिद्ध और प्राचीन स्तोत्र जान पडता है। इस स्तोत्र पर नीचे कुछ विचार किया जाता है —

१—श्लोक ४२ मे "बलवतामपि भूपतीना" पाठ प्रचलित है जिससे इस श्लोक का अर्थ यह होता है कि—"युद्ध मे बलवान् राजाओ की भी सेना आप के स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है।" इस पर स्वभावत यह शका होती है कि—बलवान् राजा तो स्वपक्ष मे और स्वय भी हो सकते है फिर स्तुतिकार उनका विनाश कैसे चाहेगा ? इसका समाधान हमारे पास के वि० स० १५६३ के बसवा ग्राम के एक गुटके से होता है उसमे "बलवतामरिभूपतीना" शुद्ध पाठ पाया गया है[1] जिससे श्लो-

१ यही शुद्ध पाठ दौसा ग्राम के एक गुटके मे भी हमने देखा है।

कार्य इस प्रकार होता है कि—"युद्ध में बलवान् शत्रु राजाओं की सेना आप के स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है।" 'अपि' की जगह 'अरि' शुद्ध पाठ होने से श्लोक कितना सुसंगत और निर्दोष हो गया है यह बताने की विशेष जरूरत नहीं है। विज्ञ पाठक इसकी खूबी का स्वयं अनुभव कर सकते हैं फिर भी एक बात मैं यहाँ और बता देना चाहता हूँ कि—प्राकृत मे २३ गाथात्मक एक "भयहर स्तोत्र" पाया जाता है जो श्वेताम्बरों के यहाँ से "जैन स्तोत्र संदोह" द्वितीय भाग में प्रकाशित हुआ है। यह स्तोत्र भी मानतुंग की ही कृति बतलाया जाता है क्योंकि 'भक्तामर स्तोत्र' की तरह इसके भी अंतिम श्लोक मे (श्लेषात्मक) मानतुंग शब्द पाया जाता है। भक्तामर स्तोत्र मे जिस तरह ८ भयों का वर्णन है उसी तरह 'भयहर स्तोत्र' मे भी है। इसकी गाथा १७ मे 'रण' भय के अन्तर्गत रिउणरिन्द (रिपुनरेन्द्र) शब्द पाये जाते है उनसे भक्तामर स्तोत्र के 'अरिभूपतीना' शुद्ध पाठ का अच्छा समर्थन होता है।

२—श्लोक ३५—'स्वर्गापवर्गगममार्ग' मे 'गम' की जगह धुआँ ग्राम के एक प्राचीन गुटके मे 'यम' पाठ पाया जाता है 'यम' का अर्थ द्वय = दो होता है[1] जिससे श्लोक का अर्थ "स्वर्ग और मोक्ष दोनो मार्ग" रूप संगत हो जाता है। किन्तु 'यम' की बजाय भी प्रचलित 'गम' पाठ ज्यादा वजनदार है क्योकि 'गम' मे एक तो 'ग' का शब्दालंकार बन जाता है दूसरा 'गम' के जो गमन; प्रवेश, प्राप्ति अर्थ होते है वे यहाँ विशेष सुसंगत है जिनसे यह भी फलित होता है कि "स्वर्ग-मोक्ष मे जाने का मार्ग" ही कवि ने बताया है 'गम' शब्द रख कर आने के मार्ग का निषेध किया है। ठीक यही बात 'गम' शब्द की जगह 'पुर' (प्रवेशार्थक)

---

१. देखो धनंजय नाममाला—

द्वय द्वितयमुभयं यमलं युगलं युगम्।
युग्मं द्वन्द्वं यमं द्वैतं पादयोः पातु जैनयोः॥ २॥

शब्द रख कर यशस्तिलक चंपू मे इस प्रकार व्यक्त की है :—(ज्ञानपीठ काशी के 'उपासकाध्ययन' मे श्लोक नं० ४६६)

मिथ्यातमःपटलभेदनकारणाय, स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमनाः प्रणमामि नित्यं, त्रैलोक्यमगलकराय जिनागमाय ॥
—ज्ञानभक्तिः

३—श्लोक ६ मे "तच्चारुचाम्रकलिका" पाठ प्रचलित है यह पाठ मूल ग्रन्थकार कृत नही है । प्राचीन प्रतियों मे "तच्चारुचूतकलिका" पाठ ही पाया जाता है । प्राणप्रिय काव्य जिसमे भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक श्लोकका का अन्तिम चरण समस्या पूर्ति के रूप मे ग्रहण किया है उसमे भी "तच्चारुचूतकलिका" पाठ ही उपलब्ध होता है अतः यही पाठ मूल-ग्रन्थकार कृत ज्ञात होता है लेकिन इसमे 'चूत' शब्द को अश्लील समझ कर उसकी जगह 'चाम्र' पाठ का परिवर्तन कर दिया यह परिवर्त्तन भी ३००,४०० वर्ष प्राचीन प्रतियोंमे पाया जाता है किन्तु 'चाम्र' मे जो 'च' है वह समासादि की दृष्टि से सदोष है अत आज के युग मे उसे भी संशोधित कर 'तच्चाम्रचारुकलिका' पाठ बना दिया गया है इसमे 'चाम्र' को पहिले रख दिया है और 'चारु' को बाद मे । इससे समास सम्बन्धी दोष तो दूर हो गया हैं किन्तु इसमे भी 'च' शब्द व्यर्थ रह गया है ।

मूल स्तोत्रकार ने 'चूत' शब्द का प्रयोग 'आम्र' अर्थ मे किया है किसी अश्लील अर्थ मे नही अतः किसी प्रान्तीय अर्थ को लेकर किसी शब्द विशेषमे अश्लीलता का आरोप समुचित नही ।

४—श्लोक ४८ मे "तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः" पद का साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जी आदि ने इस प्रकार अर्थ दिया है : "उस

देखो—अमरकोप :—आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः । ये आम के पर्यायवाची नाम है जिनमे 'चूत' भी एक नाम है ।

मानतुंग को लक्ष्मी (स्वर्ग मोक्ष विभूति) 'अवशा' सती—स्वतन्त्र होती हुई प्राप्त होती है।"

पर यह शब्दार्थ ठीक प्रतीत नहीं होता सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है :—उस मानतुंग को अवशालक्ष्मी = स्वातन्त्र्यमोक्षलक्ष्मी (मुक्तिरमा) प्राप्त होती है। यहाँ 'अवशा' शब्द लक्ष्मी का विशेषण है अतः ऊपर से 'सती' पद जोड़ना व्यर्थ है।

५—अब मैं विविध प्राचीन प्रतियों से संचित कुछ महत्त्वपूर्ण पाठान्तर नीचे प्रस्तुत करता हूँ, इन पाठों में कौन पाठ वस्तुत: मूल ग्रन्थकार कृत है इसका निर्णय गवेषक विद्वान् करें :—

श्लोक नं०	चरण नं०	प्रचलित पाठ	पाठान्तर
३	ए	पीठ (सम्बोधन)	पीठं (कर्म)
५	सी	मृगो	मृगी
८	बी	प्रभावात्	प्रसादात्
१६	ए	रपवर्जित	रपि वर्जित
२०	सी	तेज स्फुरन्मणिषु	तेजो महामणिषु
२०	डी	नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि	काचोद्भवेषु न तथैव विकासकत्वं
२३	ए	पुमाम–	पवित्र–
२६ सी, ३१ डी		त्रिजगत·	त्रिजगतो (समास)
२७	ए	को विस्मयोऽत्र	चित्रं किमत्र
२७	सी	विविध	विबुध
३२	बी	शुभ	शिव, सुख
३२	बी	भूति	भूरि (अत्यन्त)
३३	सी	प्रपाता	प्रयाता
३३	डी	वचसा (प्राणप्रिय काव्य मे भी)	वयसा

३५	डी	गुणैः प्रयोज्यः	गुणप्रयोज्यः (प्राणप्रिय काव्य मे भी)
३६	सी	क्रमगतं	क्रतगतान् (बहुवचन)
३९	डी	चलसंश्रितं ते	चलसंश्रितास्ते ,,
४१	डी	नागदमनी (स्त्रीलिंग)	नागदमनो (पुल्लिंग)
४४	ए	चक्र	चक्रे
४४	डी	भवत. स्मरणाद्	तव संस्मरणाद्
४५	डी	मर्त्याः	सद्यो
४६	सी	स्मरन्तः	स्मरंति
४६	डी	सद्यः	नाथ (सम्बोधन)
४७	सी	तस्याशुनाश	तस्य प्रणाश
४७	डी	यस्तावकं	यस्तेऽनिशं
४८	बी	विविध	रुचिर

६—इस स्तोत्र के कर्त्ता मानतुंग कविको कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों ने हर्षवर्धन के समकालीन बताया है। सम्राट् हर्ष का समय ७वी शती है इसीलिये पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने भी महापुराण-प्रस्तावना पृ० २२ मे आचार्य मानतुंग को ७वी शताब्दी का लिखा है अगर यह ठीक है तो आदिपुराण पर्व ७ श्लोक २९३ से ३११ का जो वर्णन भक्तामरस्तोत्र से मिलता हुआ है वह आचार्य जिनसेन ने सम्भव है भक्तामरस्तोत्र से लिया हो।

७—श्वे० सम्प्रदाय भक्तामर के ३२ से ३५ तक के चार श्लोक नहीं मानता है कुल ४४ श्लोक ही मानता है इससे चार प्रातिहार्यो का वर्णन छूट जाता है जब कि श्वे० सम्प्रदाय मे भी पूरे ८ प्रातिहार्य माने है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे भी 'भक्तामर' की तरह पूरे ८ प्रातिहार्यों का वर्णन है और उसे श्वे० सम्प्रदाय भी अविकल रूपसे मानता है तब फिर भक्तामरस्तोत्र के उक्त चार श्लोकों को श्वे० सम्प्रदाय क्यों नही मानता ?

शायद यह कहा जाता है कि कल्याणमन्दिर में ४४ श्लोक हैं अतः भक्तामर में भी ४४ ही होने चाहिए, अगर यह कहा जाता है तो यह अजीब तुक है। ऐसी तुक मिलाने वालों को चाहिये कि—जिस तरह कल्याणमन्दिर मे ८ प्रातिहार्यों का वर्णन है उसी तरह भक्तामर में भी ८ प्रातिहार्य के वर्णन वाले पूरे श्लोक मानें, व्यर्थ के श्लोक संख्या साम्य में पड़कर ४ प्रातिहार्यों को न छोड़ें।

श्वे० स्थानकवासी कविवर मुनि अमरचन्दजी ने पूरे ४८ श्लोक मानकर ही भक्तामर का हिन्दी पद्यानुवाद किया है दूसरे भी श्वे० विद्वानों को इसका अनुसरण करना चाहिए।

८—भक्तामर स्तोत्र के ४८ श्लोक के अतिरिक्त ४ श्लोक और भी मिलते हैं देखो अनेकान्त वर्ष २ किरण १—

नातः परः परमवचोभिधेयो,
लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्व.।
उच्चैरितीव भवतः परिघोषयन्त-
स्तेदुर्गभीरसुरदुन्दुभय. सभायाम् ॥ १ ॥

वृष्टिर्दिव· सुमनसा परित. पपात,
प्रीतिप्रदा सुमनसा च मधुव्रतानाम्।
राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा,
सामोदसम्पदमदाज्जिन ते सुदृश्यः ॥ २ ॥

पृष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या-
भाजा प्रभाः प्रसरमन्वहया वहन्ति।
अन्तस्तमःपटलभेदमशक्तिहीनं,
जैनी तनुद्युतिरशेषतमोऽपि हन्ति ॥ ३ ॥

देव त्वदीयसकलामलकेवलाय,
बोधातिगाधनिरुपप्लवरत्नराशेः।

घोष स एव इति सज्जनतानुमेते,
गम्भीरभारभरित तव दिव्यघोष ॥ ४ ॥

किन्तु इन श्लोको मे भी प्रातिहार्यों का ही वणन होने से य पुनरुक्त हैं और असगत है। 'जैनमित्र फाल्गुन सुदी ६ वीर स० २४८६ के अक मे भी इन से भिन्न चार श्लोक छपे है। हमार पास के १-२ गुटको म भी ये ४ श्लोक हैं—

य सस्तुव गुणभृता सुमनो विभाति
य तस्करा विलयता बिबुधा स्तुवन्ति।
आनदक द हृदयाम्बुजकोशदश
भव्या व्रर्जा त किऽ या मग दवताभि ॥१॥
इत्थ जिनश्वर सुकीतयता जिनोति
ध्यायन राजसुखवस्तुगुणा स्तुर्वा त।
प्रारम्भभार भवतो जपरापरा या
सा साक्षणी शभवन्ना प्रणमामि भक्त्या ॥२॥
नानाविध प्रभुगुण गुणरत्न गुण्या
रामा रमति सुरसु दर सौम्यर्मात ।
धर्माथकाम मनयो गिरिहमरत्ना
उघ्यापदो प्रभगण विभव भवन्तु ॥३॥
कर्णो स्तवन नभवानभवत्यधीश
यस्य स्वय सुरगुरु प्रणनो सि भक्त्या।
शर्माधनोक यशसा मुनिपद्मरगा
मायागतो जिनगति प्रथमो जिनश ॥४॥

पर ये भी मूल ग्रन्थकार कृत नही है क्याकि भक्तामर स्तोत्र के पठन का फल बताकर स्तोत्र को वही समाप्त कर दिया है अत ये अतिरिक्त श्लोक किसी न बाद म बनाय है इनकी रचना भी ठीक नही है और अथ भी सुसगत नही है।

इनके सिवा भी हमारे पास के १ गुटके में ४ श्लोक और पाये जाते है जिन्हें बीज काव्य[1] लिखा है इनकी भी स्थिति उपरोक्त ही है वे भी मूल स्तोत्रकार कृत नहीं है।

९—ग्रन्थ प्रकाशकों से निवेदन है कि वे छेदक नं० १ में सुझाये गये 'बलवतामरि' शुद्ध पाठक को अपनाने की कृपा करें। तथा छेदक नं० ४ मे सुझाये गए शुद्ध शब्दार्थ को देने का कष्ट करें।

ग्रन्थों का शुद्ध प्रकाशन पाठकों के लिए ही लाभप्रद नहीं है किन्तु

बीजकं काव्यम् :—

ओं आदिनाथ अर्हन्सुकुलेवतंस,
श्रीनाभिराज निजवंश शशिप्रताप।
इक्ष्वाकुंवश रिपुमर्दन श्रीविभोगी,
शाखा कलापकलितो शिव शुद्धमार्गः ॥१॥

कष्ट प्रणाश दुरिताप समावनाहि—
अंभोनिधौ दुखय तारक विघ्नहर्ता।
दु खाविनारि भय भग्नति लोह कष्टं—
तालोर्द्धघाट भयभीत समुत्कलापाः ॥२॥

श्रीमानतुंग गुरुणा कृत बीज मंत्र,
यात्रा स्तुतिः किरण पूज्य सुपादपीठ.।
भक्तिभरो हृदयपूर विशाल गात्रा—
कौ घौ दिवाकर समा वनिताजनांह्री ॥३॥

त्वं विश्वनाथ पुरुषोत्तम वीतरागः—
त्वं जैन राग कथिता शिवशुद्धमार्गा।
त्वौच्चाट भंज नव पुःखल दुखटालान्—
त्वं मुक्तिरूप सुदया पर धर्मपालान् ॥४॥

वह ग्रन्थ और ग्रन्थकार एवं प्रकाशक के गौरव को भी अभिवृद्ध करने वाला है।

१०—भट्टारकादिकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्रतंत्रादि और उनकी कथाओ के जाल से गूंथकर जटिल और सराग बना दिया है तथा इसके निर्माण के सम्बन्ध मे प्रायः मनगढ़ंत कथायें रच डाली है। ये निर्माण-कथायें कितनी असंगत, परस्पर विरुद्ध, और अस्वाभाविक है यह विचारकों से छिपा नहीं है।

किसी कथा मे मानतुग को राजा भोज के समय मे बताया है किसी मे कालिदास के तो किसी मे बाण, मयूर आदि के समय मे बताया है जो परस्पर विरुद्ध है।

राजा ने कुपित होकर मानतुंग को ऐसे कारागृह मे बन्द करवा दिया जिसमे ४८ कोठे थे और प्रत्येक कोठे के एक एक ताला था, ऐसा कथा मे बताया है पर सोचने की बात है कि–एक वीतराग जैन साधु को जिसके पास कोई शस्त्रास्त्रादि नही कैसे कोई राजा ऐसा अद्भुत दंड दे सकता है ? और फिर ऐसा विलक्षण कारागार भी संभव नही। सही बात तो यह है कि ४८ श्लोक होने से ४८ कोठे और ४८ ताले की बात गढ़ी गई है अगर कम ज्यादा श्लोक होते तो कोठों और तालो की संख्या भी कम ज्यादा हो जाती। श्वेताबर ४४ श्लोक ही मानते है–अतः उन्होने बन्धन भी ४४ ही बताये है। इस तरह इन कथाओं मे और भी पद पद पर अनेकानेक बेतुकापन पाया जाता है जो थोड़े से विचार से ही पाठक समझ सकते है।

११—यह लेख लिखने का उत्साह मुझे माननीय श्री ए० एन० उपाध्ये के ३–१–५९ के उस पत्र से हुआ जिसमे उन्होंने मेरे द्वारा सुझाये गए 'भक्तामर' के "बलवतामरि" पाठको सुन्दर Really nice बताते हुए मुझे इस विषय मे एक लेख लिखने की प्रेरणा की थी।

●

तेरा पंथ और बीस पंथ

हम शादी में फाल्गुण कृष्णा ४ वि० सं० २०१४ को माधोराजपुरा गये थे। वहाँ तीन जैन मन्दिर हैं। वहाँ के शास्त्र भण्डारों का पं० दीपचन्द जी पाडया और हमने अच्छी तरह अवलोकन किया। बाबू रतनलालजी पापड़ीवाल जो वहाँ के सेवाभावी कर्मठ सज्जन है उनका हमें पर्याप्त सहयोग रहा। दो मन्दिरों के शास्त्रों की तो अच्छी व्यवस्था और सुन्दर सूची बनी हुई थी पर एक अग्रवाल मन्दिर के शास्त्रों की कोई सूची नहीं थी। हमने उनकी सूची बनाई।[1] तीनों मन्दिरों में कुल मिलाकर २५० करीब हस्तलिखित ग्रन्थ हैं पर उनमें कोई महत्त्वपूर्ण और अज्ञात ग्रन्थ हमे उपलब्ध नहीं हुआ। फिर भी एक बात ऐसी ज्ञात हुई जिसने हमारे परिश्रम को बहुत कुछ सफल कर दिया। जब हम तीन लोक पूजा की प्रति उसके कर्त्ता का नाम ढूँढ़ने के लिये देख रहे थे तो प्रशस्ति गत निम्न वाक्यो ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया—

मिती अषाढ़ दूसरो जानि, पहल पक्ष की चौथ बखानि।
संवत् अष्टादश शत जोय, और अठाइस ऊपर होय॥
ता दिन पाठ समापत कियो, अपनो नर भव को फल लियो।
भयो हरष बढ़ो चित चाव, विषम पंथ अब सुगम कराव॥
तीन लोक जिन पूजा सोय, देख्यो पाठ अशुद्ध सु जोय।
तिनमे रागी जीवनी तनी, पूजा देखी हमने घनी॥
तब हम पाठ अशुद्ध सु जानि, मनमे मतो करयो इम आनि।
पाठ संस्कृत मे विपरीत, जिन भाषित देखी नही रीत॥

---

१. कवि झलूरामजी अग्रवाल यहीं के निवासी थे उनका साहित्य यहाँ अच्छी मात्रा में पाया जाता है।

राग दोष मद मोहित जीव, तिन पद पूजा अर्घ चढीव।
तब हम जानि तुछ बुद्धि न जीव, एक सरे पावे न सदीव॥
तातै तुछ बुद्धिन के काज, भाषा पाठ भलो सुख साज।[१]

"इसमें बताया गया है कि–१८२८ सवत् मे तीन लोक पूजा ग्रन्थ समाप्त करके कवि (टेकचन्द जी) को वड़ा हर्ष हुआ कि विषम (बीस) पन्थ अब सुगम हो गया। तीन लोक पूजा पहले संस्कृत में थी जिसमे पाठ अशुद्ध थे और रागी द्वेषी जीवो (क्षेत्रपालादि (को अर्घ चढ़ाने व उनकी पूजा करने का जिसमे विधान था जो जिनमत विरुद्ध था अत (बीस पन्थ की) इन विषम–जिनमत से साम्य नही रखने वाली बातो को कवि ने अपनी भाषा पूजा द्वारा तुच्छ बुद्धि प्राणियो के लिये सुगम (ठीक) किया।" इससे स्पष्ट जाना जाता है कि पहले बीस पन्थ का असली नाम विषम पथ था जिसका विगडा हुआ रूप बीस पन्थ है। इसी तरह तेरा पन्थ का अर्थ भी तेरा यानि जिनेन्द्र का पन्थ है जैसा कि ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृ० १११ और ११५ मे लिखा है—"हे भगवान म्हा तो थाका बचना के अनुसार चलां हो ता तै तेरा पन्थी हो ते सिवाय और कुदेवादिक को हम नहीं सेवै हैं……… तुम ही ने सेवौ सो तेरा पन्थी सो म्हा तुम्हारौ आज्ञाकारी सेवक हौं।" श्वेताबर स्थानकवासियो मे भी 'तेरा पन्थ' सम्प्रदाय है। उसके मानने वालो ने भी शायद अपने पन्थ का नामकरण इसी उपपत्ति को लेकर किया है। एक बात और है 'तेरा' और 'विषम' यह नाम (Title) अध्यात्ममती-वाराणसी मतवालो ने ही रखा प्रतीत होता[२] है। जब उन्होने भट्टारको और

---

१. जोधराज जी गोदीका के प्रवचनसार के अंत मे एक सवैया दिया हुआ है उसमे लिखा है :—

कहे जोध अहो जिन तेरापन्थ तेरा है।

२. कवि टेकचन्द जी की 'तीनलोक पूजा' वीर प्रेस जयपुर से प्रकाशित हो गई है, इसमे प्रशस्ति कुछ अशुद्ध छपी है।

शिथिलाचारियों की वीतरागता व अहिंसा से हीन जिनमत विरुद्ध प्रवृत्तियों को देखा तो अपने को तेरा पन्थी = जिनेन्द्र के मत के अनुसार चलने वाला तथा अपने से भिन्न को विषम पन्थी = जिनमत से साम्य नही रखने वाला घोषित किया ज्ञात होता है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि—'बीस' पन्थ का नाम संख्यावाची न होकर 'विषम' शब्द से बिगड़ा हुआ है। इसी तरह 'तेरा पन्थ' नाम भी १३ की संख्या वाला न 'होकर' तेरा, यानी जिनेन्द्र का पन्थ वाची है। बहुत वर्षों से जो 'तेरा' और 'बीस' नाम की संगति नहीं बैठ रही थी हमारे खयाल से वह इन प्रमाणों के प्रकाश में अब ठीक बैठ गई है।

माधोराजपुरा के पास ही मौजाद (मौजमाबाद) नाम का प्राचीन ग्राम है वहाँ भी हम दर्शनार्थ गये थे। वहाँ दो मन्दिर और एक नाशियाँ है। जिसमें एक मन्दिर काफी मनोज्ञ और कलात्मक है। इसमें दो भोहरे (भूगृह) है। एक में अनेक छोटी-छोटी प्रतिमायें है, दूसरे मे तीन विशाल पद्मासनस्थ आदमकद मूर्तियाँ हैं। प्रायः सब मूर्तियाँ १७वीं शताब्दी की है। उन पर 'वि० सं० १६६४ मानसिंह राज्य प्रवर्त्तमाने मौजाबाद' लिखा हुआ है। दूसरे मन्दिर में सिर्फ एक भोंहरा (भूगृह) है जिसमे दो-तीन प्रतिमाये हैं जो सं० १९८५ की प्रतिष्ठित है। यही एक शिलालेख पड़ा हुआ है जिसमे (केकडी के) पं० धन्नालाल जी के द्वारा सं० १६८५ के फाल्गुण बुध में हुई बिम्ब प्रतिष्ठा का उल्लेख है। मौजाद के मन्दिरो में कुल मिलाकर छोटी-बड़ी २००-२२५ प्रतिमायें है। समयाभाव से हम यहाँ का शास्त्रभण्डार नही देख सके।

●

पंचास्तिकाय को १११ वां गाथा प्रक्षिप्त है

रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई से प्रकाशित भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत पचास्तिकाय के द्वितीय सस्करण मे गाथा न० १११ इस प्रकार है —

तिरथावर तणु जोगा, अणिलाणल काइया य तेसु तसा ।
मण परिणाम विरहिदा, जीवा एइदिया रोया ॥१११॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, वनस्पति—तीन स्थावर है और वायु, अग्नि त्रस हैं। (ये) मनोभाव से रहित एकेन्द्रिय जीव जानने चाहिए ॥१११॥

इस गाथा मे अमृतचन्द्र के टीका रूप वाक्य इस प्रकार दिये हुए हैं—

"पृथ्वीकायिकादीना पचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽय" ।

परन्तु ये वाक्य टीका रूप नही है, ये तो ११२ वी गाथा के उत्थानिका वाक्य है क्योकि ११२ वी गाथा पर अमृतचन्द्र के और कोई दूसरे उत्थानिका वाक्य नही पाये जाते। इसके सिवा जयसेनाचार्य ने भी अपनी टीका मे ये वाक्य ११२ वी गाथा पर ही दिये है जो इस रूप मे है "अथ पृथ्वीकायिकादीना पचानामेकेन्द्रियत्व नियमयति" ।

इस प्रकार इस १११ वी गाथा पर अमृतचन्द्र की कोई टीका नही पाई जाती और न कोई उत्थानिका वाक्य पाये जाते है अत यह गाथा साफ प्रक्षिप्त मालूम होती है। अगर मूल ग्रन्थकार कृत होती तो अमृत-चन्द्राचार्य जरूर इस पर उत्थानिका वाक्य और टीका लिखते, कम से कम तेजोवायु के त्रसत्व का तो समाधान अवश्य ही करते ।

(२) धवलाकार वीरसेनाचार्य ने भी पचास्तिकाय की गाथाओ को अनेक जगह प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है इससे यह ग्रन्थ धवलाकार को भी मान्य रहा है। अगर पचास्तिकाय मे १११ वी गाथा होती तो

धवलाकार कभी तेजोवायु के त्रसत्व का खंडन नहीं करते जैसा कि धवला पुस्तक १ पृष्ठ २६६ और २७६ तथा पुस्तक १३ पृष्ठ ३६५ पर पाया जाता है।

(३) दिगम्बर सम्प्रदाय में कुन्दकुन्द बहुत ही प्राचीन और सर्वाधिक मान्य आचार्य रहे हैं अगर तेजोवायु को त्रस मानने का उनका मत होता तो बाद के अनेक दि० ग्रन्थकार इसका जरूर अनुसरण करते किन्तु किसी ने भी इसका अनुसरण नही किया है प्रत्युत अनेक दि० ग्रन्थकारो ने इस मान्यता का खण्डन ही किया है। उदाहरण के लिए मोक्षशास्त्र अ० २ सूत्र १२ का अकलकदेव कृत राजवार्तिक भाष्य देखो।

(४) भगवद् कुन्द-कुन्द ने अपने किसी अन्य ग्रन्थ मे भी तेजोवायु को त्रस नही लिखा है। प्रत्युत 'त्रस' द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय जीवो को ही बताया है। देखो मूलाचार अ० ५ गाथा ८ और २१।

(५) 'पचास्तिकाय' की गाथा ३९ मे स्थावर और त्रस जीवो का लक्षण इस प्रकार दिया है—स्थावरो के कर्मफल चेतना होती है अर्थात् स्थावर कर्मोदय के द्वारा आत्मशक्ति से हीन-निरुद्यमी—विकल्प रूप कार्य करने मे असमर्थ होकर अप्रगट रूप से कर्मों के फल को भोगते है। त्रस: रागद्वेष मोह की विशेषता लिए उद्यमी होकर इष्टानिष्ट कार्य करने मे समर्थ होते है, इनके कर्म चेतना होती है।

इस कथन से गाथा १११ का कथन विरुद्ध पडता है अर्थात् तेजोवायु त्रस नही हो सकते है। अत १११ वी गाथा क्षेपक प्रमाणित होती है। अगर उसे क्षेपक नही माना जायगा तो ग्रन्थ मे परस्पर विरुद्धता का दोष उत्पन्न होगा।

(६) गाथा ११२ के 'एदे' आदि वाक्यो का सम्बन्ध गाथा ११० से ही ज्यादा उपयुक्त बैठता है १११ से नही, इससे भी यह १११ वी गाथा बीच मे प्रक्षिप्त हो गई सिद्ध होती है।

(७) गाथा १११ की दूसरी लाइन शब्दश वही है जो ११२ वीं

गाथा की दूसरी लाइन है। इस प्रकार ग्रन्थ में पुनरुक्ति दोष भी आता है जो मूल ग्रन्थकार कुन्द-कुन्द के इस ग्रन्थ में कहीं नहीं पाया जाता। इससे भी १११ वीं गाथा प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

(८) अगर १११ वीं गाथा को हटा दिया जाय तो ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में कोई खामी नहीं आती प्रत्युत पुनरुक्ति और परस्पर विरुद्धतादि के दोष भी मिट जाते हैं।

शंका—इस गाथा को हटाने पर त्रस और स्थावर के कथन का ग्रन्थ में अभाव होगा।

समाधान—त्रस और स्थावर का कथन तो गाथा ३९ में पहिले ही कर दिया गया है। इसके सिवा त्रस और स्थावर का कथन करना इस ग्रन्थ के लिए कोई आवश्यक अंग नहीं है। दूसरे अधिकार में जीवों का इन्द्रिय भेद से कथन किया है त्रस स्थावर रूप से नहीं जैसा कि गाथा १२१ से लक्षित होता है यही बात अमृतचन्द्र ने गाथा ११८ के उत्थानिका वाक्य में कही है।

शंका—बालावबोध हिन्दी टीका मे—"आगे पृथ्वीकायादि पांच थावरो को एकेन्द्रिय जाति का नियम करते है" ऐसा उत्थानिका वाक्य देकर गाथा, १११-११२ को युग्म रूप दिया है अतः ये गाथाएँ युग्म होनी चाहिए। अन्य हस्तलिखित प्रतियो में भी इन्हे युग्म ही प्रकट किया है और पूर्वोक्त "पृथ्वीकायिकादीना पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयं" अमृतचन्द्र के इन वाक्यो को उत्थानिका रूप मे—गाथा नं० १११ पर दिया है।

समाधान—ये प्रतियाँ ज्यादा प्राचीन नही है। जयसेनाचार्य (वि० सं० १३६९) ने इन दोनों गाथाओं को अलग-अलग माना है, युग्म नही क्योंकि उन्होंने इनके उत्थानिका वाक्य और टीका वाक्य अलग अलग दिये है। इन गाथाओं को युग्म मानने पर भी जो दोष पहिले बता आये हैं उनका कोई निरसन नहीं होता।

शंका—जयसेनाचार्य ने १११ वीं गाथा के कथन में व्यवहार से तेजोवायु को त्रस मानना बताया है इसमें क्या बाधा है ?

समाधान—धवलाकार और राजवार्तिककार ने तेजोवायु के त्रसत्व का खण्डन किया है वह व्यवहार से ही किया है अतः व्यवहार से भी तेजोवायु का त्रसत्व उचित नहीं है। मूल गाथा में भी व्यवहार से मानने की कोई बात नही है। अगर फिर भी व्यवहार का ही आग्रह हो तो जल को भी त्रस बताना चाहिए था उसे स्थावर क्यों बताया ? क्या कुन्द-कुन्द ऐसा स्खलन कर सकते हैं ?

इसके सिवा इस कथन मे एक आपत्ति और है वह यह कि आगे जो द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों का वर्णन है उन्हें क्या माना जाय ? त्रस या स्थावर ? या कोई अन्य ? यह कुछ नहीं बताया गया है।

इस प्रकार के युक्ति और आगम से विरुद्ध तथा अनेक दोषों से युक्त कथन कुन्द-कुन्द के नही हो सकते।

(९) मोक्षशास्त्र अ० २ सूत्र १४ का दिगंबरीय पाठ "द्वीन्द्रिया-दयस्त्रसाः' है किन्तु श्वेताबरीय पाठ "तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः" है इससे तेजोवायु को त्रस कहने की मान्यता श्वेतांबरीय ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि—किसी श्वे० विद्वान् ने ११२ वी गाथा के पूर्वार्ध मे अपने मत के अनुसार "तित्थावर तणु जोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा" ये वाक्य बढा दिये। प्रतिलिपिकारादि के द्वारा फिर वे ही २ अलग-अलग गाथाओं के रूप मे निबद्ध हो गये। यह सब अमृतचन्द्र के बाद हुआ है, जयसेन के निम्नांकित कथन से भी इसकी सूचना मिलती है :—

जयसेन ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति पृ० ६ पर उपोद्घात में लिखा है—"मेरे पाठक्रम से पहिले अधिकार मे १११ गाथा है और अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार १०३ गाथाएँ हैं। दूसरे अधिकार मे मेरे

पाठक्रम से ५० गाथाएँ हैं और अमृतचन्द्र की टीकानुसार ४८ गाथाएँ हैं और चूलिका रूप तीसरे अधिकार में २० गाथायें हैं"।

इस उपोद्घात से साफ लक्षित होता है कि—अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार दूसरे अधिकार मे सिर्फ ४८ गाथायें ही जयसेन के वक्त थीं जब कि मुद्रित में दूसरे अधिकार की गाथाये ४९ दी हुई फलित होती है। इस तरह यह एक बढी हुई गाथा वही १११ वी होनी चाहिए जिस पर न तो अमृतचन्द्र की कोई टीका है और न उत्थानिका वाक्य, (पहले अधिकार मे भी एक गाथा बढी हुई है क्योंकि जयसेन ने अमृतचन्द्र के मत से प्रथम अधिकार मे १०३ ही गाथायें सूचित की है जबकि मुद्रित संस्करण मे १०४ दी गई है।

इस तरह पंचास्तिकाय की गाथा नं० १११ क्षेपक है यह सिद्ध होता है। अगर प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियो की खोज की जाय तो उसमें यह गाथा कभी नही मिलेगी।

(१०) प्रसंगोपात्त त्रस और स्थावर के विषय में नीचे कुछ ज्ञातव्य विवेचन किया जाता है :—

(क) "त्रस त्रसनाली मे ही होते है बाहर नही, स्थावर सारे लोक मे व्याप्त है" ऐसा शास्त्रनियम है। अगर तेजोवायु को त्रस माना जायेगा तो शास्त्रनियम गलत हो जायगा क्योंकि फिर त्रस भी सारे लोक मे व्याप्त हो जायेंगे। इस तरह त्रस स्थावर की भेद रेखा रूप त्रस-नाली ही व्यर्थ हो जायगी अतः तेजोवायु को दि० आचार्यों ने त्रस नहीं माना है।

(ख) कर्म ग्रन्थो में नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ बताई है उनमें त्रस, स्थावर तथा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ५ जातिनामकर्म ये ७ अलग-अलग भेद बताये है। तब प्रश्न होता है कि—द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ४ भेद अलग क्यों बताये वे तो "द्वीन्द्रियादयस्त्रसा." इस सूत्र के अनुसार त्रस में आ जाते हैं। इसी तरह एकेन्द्रिय जातिनामकर्म भी अलग क्यों

बताया वह भी स्थावर मे आ जाता है। यह मूल कर्म फिलासफी में ही गड़बड़ क्यो हैं ?

समाधान—जो जातिनामकर्म के ५ इन्द्रियभेद बताये हैं वे पाँचों पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ है। और त्रस तथा स्थावर ये २ अलग नामकर्म बताये है वे जीवविपाकी प्रकृतियाँ है। यही इन दोनो मे खास अन्तर है। इसी को लक्ष्यकर पंचास्तिकाय की गाथा ३९ मे स्थावर का लक्षण कर्मफलचेतना का भोक्ता और त्रस का लक्षण कार्य चेतना का भोक्ता बताया गया है जो जीवविपाकित्व की दृष्टि से है। इसमे 'एकेन्द्रिय को स्थावर और २ से ५ इन्द्रिय को त्रस कहते हैं' इसका भी अन्तर्भाव हो जाता है। पंचास्तिकाय का लक्षण सूक्ष्म—आभ्यंतरिक है। षट्खंडागम तत्त्वार्थसूत्रादि मे द्वीन्द्रियादि को त्रस और एकेन्द्रिय को स्थावर लिखा है वह स्थूल (बाह्य) कथन है लक्षण नही, उसे फलितार्थ मात्र समझना चाहिए। इस प्रकार दोनों कथनों मे कोई विरोध नही है, दोनों अलग-अलग विवक्षा से है।

पं० कैलाशचन्द जी का सम्पादकीय नोट—विद्वान् लेखक ने पञ्चास्तिकाय की १११ वी गाथा के प्रक्षिप्त होने के सम्बन्ध में जो उपपत्तियाँ दी है वे विचारणीय है। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्र के सामने यह गाथा नही थी, अथवा इसे उन्होंने मान्य नही किया था। इस गाथा के नीचे जो एक वाक्य छपा है वह आगे की गाथा का उत्थानिका वाक्य ही होना चाहिए। गाथा १११ से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

●

तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है ?

केवलज्ञान के १० अतिशयों मे एक अतिशय "सुभिक्ष" बताया है इस विषय मे जैन शास्त्रो मे दो प्रकार के मतभेद पाये जाते हैं—एक के अनुसार यह सुभिक्ष एक सौ योजन (चार सौ कोश) तक होता है और दूसरे के अनुसार दो सौ योजन (आठ सौ कोश) तक होता है।

यह मान्यता भेद कैसे हुआ इस पर नोचे कुछ विचार किया जाता है। पहिले उन ग्रन्थो के उद्धरण दिये जाते है जिनमे एक सौ योजन तक सुभिक्ष होना बताया है :—

१—तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ कृत) अधिकार ४ गाथा ८९९।

जोयण सद मज्जादं सुभिक्खदा चउ दिसासु णियथाणा।

(जहाँ तीर्थकर बैठे हो वहाँ से एक सौ योजन की सीमा मे चारो दिशाओं मे सुभिक्ष होता है)।

२—जम्बू दीव पण्णत्ति (पद्मनन्दि कृत) उद्देश १३, गाथा ९८

गाउय तह सय चउरो सुभिक्ख णिरुवद्दओ हवइ देसो।

जहिं-जहिं विहरइ अरहो तहिं-तहिं होइ णायव्वो॥

(जहाँ-जहाँ अरहंत भगवान् विहार करते हैं वहाँ-वहाँ चार सौ कोश (एक सौ योजन) प्रमाण देश सुभिक्ष से संयुक्त और निरुपद्रव होता है)।

गाउय (गव्यूत) का यहाँ जो एक कोश अर्थ लिया है वह ग्रन्थानुसार लिया है देखो उद्देश्य १३, गाथा ३४ जहाँ 'गाउय' का १ कोश ही अर्थ दिया है—

३—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधर कृत)

सौभिक्षं भवतिस्म योजनशतं यत्संसदं सर्वतः ॥ अ० ४, श्लो० १८६

(समवशरण सभा के सब ओर सौ योजन तक सुभिक्ष होता है)

४—पद्म चरित (रविषेण कृत) सर्ग ४, श्लोक ५५

यं यं देशं स सर्वज्ञः प्रयाति गति योगतः।
योजनानां शतं तत्र जायते स्वर्गविभ्रमम् ॥

(गति योग से जहाँ-जहाँ सर्वज्ञ जाते हैं वहाँ-वहाँ सौ योजन तक का क्षेत्र स्वर्ग तुल्य हो जाता है)

५—पउम चरिय (विमलसूरि)

(क) जोयण सयं समंता मारीइ विवज्जिओ देसो ॥उ० २, गा० ३२

(ख) विहरइ जत्थ जिणिंदो सो देसो सग्ग संनिहो होई।
जोयण सयं समंता रोगादि विवज्जिओ रम्मो ॥ पर्व ४ गा० ३४

(ग) जोयणसयं अणूणं जत्थ छइ केवली समुद्देसे।
वेराणुबंधरहिया हवंति निययं णरवरिंदा ॥ (पर्व ७५, गाथा २५)

(जहाँ जिनेन्द्र विहार करते है वहाँ सौ योजन तक का क्षेत्र स्वर्गतुल्य और रोगरहित हो जाता है एवं मनुष्यों के सब वैरभाव मिट जाते है)

६—नन्दीश्वर भक्ति (पूज्यपाद कृत)

गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता (गव्यूतिः क्रोशमेकं गव्यूतीना शतचतुष्टये सुभिक्षता,—प्रभाचन्द्रकृत टीका) चार सौ कोश तक सुभिक्ष।

७—त्वदास्थानास्थितोद्देशं परितः शतयोजनम्।
सुलभासनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ॥३६॥ (पर्व २५ आदि पुराण)

आदिपुराण (जिनसेन कृत) पर्व २५, श्लोक २७०।

सुभिक्षक्षेत्रमारोग्यं गव्यूतीनां चतुःशती।
भेजे भूजिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ॥

(जिनेन्द्र के माहात्म्य से चार सौ कोश तक सुभिक्ष और आरोग्य था)

८—पार्श्वपुराण (पं० भूधरदास कृत) ९ वाँ अधिकार।

चहुँ दिशि चार-चार सौ कोश होय सुभिच्छ सदा निर्दोष।

९—इष्टछत्तीसी (बुधजनजी कृत) योजन शत इक मे सुभिख।

१०—रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वचनिका (पं० सदासुखजी सा० कृत) "चारो तरफ सौ-सौ योजन सुभिक्षता' (वीरसेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थमाला पृ० ४०६)

११—तिलोयसार वचनिका के अन्त मे समोसरण वर्णन (स्थानीय हस्तलिखित प्रति—पडित प्रवर टोडरमलजी सा० कृत)

'अर चौगिरद सौ-सौ योजन पर्यत दुर्भिक्ष आदि ईतिभीति का न होना इत्यादि अतिशय वर्ते है।' (पत्र ३३७)

१२—महापुराण-अपभ्रंश (पुष्पदन्त कृत) गव्वूइ सयाइं चयारिजाम।
विरथरइ सुहिक्खु सुखेउ ताम ॥ संधि १०, कडवक २

अब उन ग्रन्थो के उद्धरण दिये जाते है जिनमे दो सौ योजन तक सुभिक्ष होना बताया है.—

१३—हरिवंशपुराण (जिनसेनकृत)

(क) द्वियोजनशतक्षोणी सुभिक्षत्वोपपादकं। सर्ग ३, श्लोक १४

(ख) विहारानुग्रहीताया भूमौ न डमरादयः।
दशाभ्यस्तयुगं भर्तुरहोऽत्र महिमा महान् ॥ १०८ ॥

(द्विशत-योजनं, इति टिप्पणे) सर्ग ५९

(यह भगवान की महान् महिमा है कि—जहाँ वे विहार करते है वहाँ दो सौ योजन तक उपद्रवादि नही होते)

१४—चन्द्रप्रभ चरित (वीरनन्दि कृत) सर्ग १८, श्लोक १३४

व्यहरद् यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुभिक्षता।
अजायत जनप्रीत्यै योजनाना शतद्वये।

(जहाँ जहाँ भगवान ने विहार किया वहाँ वहाँ दो सौ योजन तक सुभिक्ष हो गया)

१५—धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र कृत) सर्ग २०, श्लोक ६६

नो दौर्भिक्ष्यं नेतयो नोपसर्गा नो दारिद्र्यं नोपघातो न रोगाः ॥

तन्माहात्म्याद् योजनानां शते द्वे नाभूत् किंचित्क्वापि कर्माऽप्यनिष्टम् ॥

(भगवान के माहात्म्य से दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष, ईति, उपसर्ग, दारिद्रय, उपघात, रोग यानी कुछ भी अनिष्टकर्म कही भी नहीं होते थे ।)

१६—पद्मचरित (रविषेण कृत)

(क) यस्मिन्विहरणप्राप्ते योजनाना शतद्वये ।
दुर्भिक्षपरपीड़ानामीतीना च न संभवः ॥
(सर्ग २, श्लोक ९१)

(ख) तिष्ठंति मुनयो यस्मिन्देशे परमलब्धयः ।
तथा केवलिनस्तत्र योजनानां शतद्वयम् ॥
पृथ्वी स्वर्गसंकाशा जायते निरुपद्रवा ।
वैरानुबन्धमुक्ताश्च भवन्ति निकटे नृपाः ॥
(सर्ग ७८, श्लोक ५५-५६)

जहाँ केवली रहते हैं वहाँ दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष, परपीड़ा, ईति नही होती है तथा पृथ्वी स्वर्गतुल्य और निरुपद्रव हो जाती है तथा राजाओं के बैर छूट जाते है)

१७—पंचमंगल (रूपचंद पांडेकृत) दुइ सै जोजन मान सुभिच्छ चऊँदिसी ॥

अब मान्यता भेद के कारण पर प्रकाश डाला जाता है:—

उपर्युक्त प्रमाण नं० २, ६, ७, १२ मे प्रयुक्त 'गाउय' (गव्यूत) 'गव्यूति' 'गव्वुइ' शब्दो के कोशग्रन्थों मे २ अर्थ पाये जाते हैः—एक कोस एवं दो कोस । और इसी से एक सौ योजन व दो सौ योजन की भिन्न-भिन्न मान्यताये प्रचलित हो गई है । गव्यूति का व्युत्पत्ति परक अर्थ यह है कि—'जहाँ गायें मिलें' और यह दो कोस तथा एक कोस दोनो संभव है इसलिये कोष और साहित्य ग्रन्थों मे उक्त दोनो अर्थ पाये जाते है देखो—'अमर कोष, काड २ भूमिवर्ग श्लोक १८—'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगं'' (दो कोस को गव्यूति कहते हैं)

अभिघान चिन्तामणि (हेमचन्द्र कृत) काड ३, श्लोक ५५१-५५२

चतुर्विंशत्यंगुलानां, हस्तः दंडश्चतुष्करः। तत्सहस्रौ तु गव्यूतं, क्रोशः तौ द्वौ तु गोरुतं ॥ गव्या गव्यूतगव्यूती चतुष्क्रोशं तु भोजनम् ।

(चार हाथ का एक दंड, दो हजार दंडों का एक गव्यूत = कोस तथा दो कोस को 'गोरुत' व 'गव्यूति' आदि कहते हैं और चार कोस का एक योजन होता है)

'शब्दार्णव कोश—

द्वाभ्या धनु. सहस्राभ्या गव्यूतिः पुंसि भाषितम् ।

(दो हजार धनुष अर्थात् एक कोश को 'गव्यूति' कहते हैं)

वाचस्पति कोश—

धन्वन्तरसहस्रं तु क्रोशः क्रोशद्वयं पुन. ।

गव्यूतं तु गव्यूति. गोरुतं गोमतं च तत् ॥

(दो हजार धनुष को एक कोस तथा दो कोस को 'गव्यूत' 'गव्यूति' 'गोरुत' 'गोमत' कहते है)

—शब्दादर्श कोश (संस्कृत गुजराती)

गव्यूत = एक कोश, दो कोस। गव्यूति = दो कोस, दो हजार धनुष की लम्बाई (एक कोस) इसी तरह 'गोरुत' और 'गोमत' शब्द का अर्थ हैं।

प्राकृतशब्दमहार्णव—गाउ, गाउअ, (गव्यूत) कोस—दो हजार धनुष प्रमाण (औपपादिक सूत्र, जीव विचार गाथा १८, विशेषावश्यक ८२ टीका) २ कोस क्रोशयुग्म (ओघ निर्युक्ति गाथा १२)

—तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागर कृत) अध्याय ३, सूत्र ३८,

पृ० १५२)

(ए) द्विसहस्रदण्डैर्मपिता एका प्रमाणगव्यूतिः (बी) द्विसहस्रदण्डैः गव्यूतिरुच्यते, चतुर्गव्यूतिभिर्मानवयोजनं भवति ॥ (दो हजार दण्डो की एक गव्यूति (एक कोस) होता है और चार गव्यूति (चार कोस) का एक योजन होता है)

ऐसा ही राजवार्तिक में लिखा है—"द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतं चतुर्गव्यूतं योजनं" । षट् खंडागम पुस्तक १३, पृ० ३३९ पर भी यही लिखा है—बेहि दंडसहस्सेहि एवं गाउअं होदि । अट्ठाहि दण्डसहस्से हि जोयणं ॥

वरांग चरित, सर्ग ५, श्लोक ८—योजकार्धं च गव्यूतिर्गव्यूत्यर्धं च मस्तके ॥

इसमे भी 'गव्यूति, शब्द का प्रयोग एक कोस के अर्थ मे है, 'तत्वार्थ वृत्ति' श्रुतसागर कृत के पृष्ठ ११२ से मिलान करो

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि—गव्यूति, गव्यूत, गोरुत, गोमत आदि शब्द एकार्थवाची है और इनके एक कोस दो कोस ये दोनों अर्थ होते है । और इन्हीं शब्दों के आधार से एक सौ योजन या दो सौ-योजन तक सुभिक्ष होने की दो मान्यतायें प्रचलित हुई है । यह मान्यता भेद कितना प्राचीन है इसका पता ऊपर दिये 'पद्मचरित' के नं० ४ तथा १६ से लगता है जिनमे एक जगह तो रविषेण ने एक सौ योजन बतायी है और दूसरी जगह दो सौ योजन बतायी है । इस तरह दोनों मान्यताओं का उल्लेख उन्होंने किया है ।

इन दोनो मान्यताओं मे 'एक सौ योजन' वाली मान्यता ज्यादा ठीक और बहु मान्य प्रतीत होती है वह प्राचीन भी है जैसी कि तिलोय पण्णत्ति, जम्बू दीव पण्णत्ती और पउम चरिय के प्रमाण नं १, २ से विदित होता है । श्वेतांबर सम्प्रदाय मे भी एक सौ योजन की मान्यता है देखो—

१—योगशास्त्र (हेमचन्द्र कृत) ११ वाँ प्रकाश, श्लोक २९—

आयोजनशतमुग्रा रोगा. शाम्यन्ति तत्प्रभावेण ॥

(तीर्थंकर के प्रभाव से एक सौ योजन तक के उग्र रोगादि शान्त हो जाते है)

समवायागसूत्र मे २५ योजन तक दुर्भिक्षादि का निषेध किया । जैन तत्वादर्श (आत्मारामजी कृत) में २५॥ योजन तक चारों ओर दुर्भिक्ष न होने का कथन किया है ।

जैनधर्ममीमांसा (सत्यभक्त कृत) प्रथम भाग पृ० १५६ पर २५ योजन तक रोगादि न होने का उल्लेख किया है।

पहिले, चारो ओर २५ योजन ही मिलकर कुल १०० योजन की मान्यता हो फिर १०० योजन भी चारो ओर माने जाने लगे हो)

२—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित (हेमचन्द्र कृत) पर्व १, सर्ग ६, श्लोक ५३—

अथ साग्र योजना शत लोकान् रुजा क्षयात।
अनुगृह्यास्तापशात्या, प्रावृषेण्य इवाम्बुद ॥

३—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) काड १, श्लोक ६०—

साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा, वैरेतयो मार्यतिवृष्टयवृष्टय ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भय, स्यान्नैत एकादश कर्मघातजा ॥

(स्वोपज्ञ टीका-साग्रे पचविंशति योजनाधिके गव्यूति क्रोशद्वयं, गव्यूतीनां शतद्वये योजनशत इत्यथ रुजा रोगो ज्वरादिर्न स्यात्)

टीका मे सवासौ (१२५) योजन का उल्लेख है यह मान्यता भेद है या कवि की अतिरिक्त कल्पना है कुछ कह नही सकते। मश्वराज गुण-कल्पमहोदधि पृ० १७६ पर भी १२५ योजन तक दुर्भिक्षादि का न होना बताया है। फिर भी श्व० सप्रदाय मे एक सौ योजन की ही प्रसिद्ध मान्यता है। इसके लिये पडितवय्य कैलाशचन्द्र जी शास्त्री कृत 'नमस्कार मन्त्र पुस्तिका का पृष्ठ ५५ देखो।

शास्त्रो मे जो अनेक प्रकार के मान्यता भेद देखे जाते है उनमे से बहुत से इसी तरह शब्दार्थो के भेद से उत्पन्न हुए है।

●

कल्याणक रास और कल्याण माला

विनयचन्द्र मुनिकृत कल्याणक रासु (अपभ्रंश)

सिद्धि सुहंकर सिद्धिपहु, पणविवि तिजय-पयासण केवल।

(दोहा) (चौपाई)

सिद्धिहि कारणि थुणमि हउं, सयलवि जिण-कल्यान णिहयमल ।।

(दोहा) (चौपाई) (-ध्रुवक)

१—पढम पक्खि दुइजहि आसाढहि (चौपाई)

रिसह-गब्भु तह उत्तरसाढहि (चौपाई)

अंधारी छट्ठिहि तिहिमि, वंदमि वासुपुज्ज-गब्भुच्छउ

(दोहा) (चौपाई)

विमलु सु सिद्धउ अट्ठमिहि, दसमिहि णमिजिण जम्मणु तह तउ

(दोहा) (चौपाई)

—सिद्धि सुहंकर सिद्धि पहु—

२—धवल पक्खि तहु मासहु छट्ठिहि

पणवहु-गब्भु बीर-परमेट्ठिहि

णेमि भडारउ अट्ठमिहि, गउ णिव्वाणहि हरिकुल मंडणु

सत्त महामह छह दिवस, भवियहो करहु मोहमय खंडणु

३—सावण बहल दुइज दिणि सरियउ

गब्भहि सुव्वउ जिणु संचरियउ

दसमिहि कुंथु तिलोयपहु, जणणिहि उवरि सुहासरा वसियउ

मुत्ताहलु जिम सिप्पि-उडि, णियतणुतेएँ णिरु उल्लसियउ

४—धवलिय दुइज दिवसि जगणेसहु

वंदहु गब्भुच्छउ सुमईसहु

छट्ठिहि णेमिहि जम्मु तउ, पुणु सत्तमिहि पासु जिणु सिद्धउ
पुण्णिम दिणि सेयंससिउ, छहदिण रिसि[1] कल्याणउ सिद्धउ

५—भद्दवि जा अंधारी सत्तमि
संति-गब्भु तहि नवहु महातमि
गब्भु सुपासहु छट्ठि सिय, सिद्धउ णवमउ बारहमउ जिणु
धवलिय-अट्ठमि-चउदसिहि चारि महा-मह एक्केक्कउ दिणु

६—मास कुवारहु दुइज अधारी
णमिजिण गब्भदिवसि सा सारी
णेमि-णाणु सिय पडिव दिणि अट्ठमि दिवसहि सिद्धउ सीयलु,
तिहिं दिवसहिं कल्लाणतउ अस्सिण मासि महहु सुह सीयलु ।

७—कत्तिय गब्भु अणंतहु पडिवहि
संभव णाणु चउत्थिहि तमवहि
पउमप्पह जिण जम्मुतउ अंधारी तेरसिहि णमंसहु,
वीरजिणिंदहु सिव गमणु सिट्ठउ देवालिय अम्मावसि ।

८—णिम्मल दुइजहि सुविहि सु केवलु
णेमिहि छट्ठिहि गब्भु सुमंगलु ।
अरजिण-णाणु दुवारसिहि संभव-संभउ पुण्णिम वासरि
णव कल्लाणहं अट्ठ दिण इय बिहिं पक्खहि कत्तिय अवसरि

९—अगहणि बहुल दसमि तउ वीरहु
सुविहि जम्मु तउ सिव पडिवहि तहु
दसमिहि संजमु अरजिणहु एयारसिहि मल्लितउ-जम्मणु
णमि केवलु तत्थइ दिवसि अरजिण जम्मु चउद्दसि सासणु

१०—तहिमि मासि आगहणि पसिद्धउ
संभव-तउ पुण्णिमदिणि सिद्धउ

---

१. रिसि = सप्तर्षि ७

कल्लाणइं णव दिवस छह मग्गसिरह दुहु पक्खहिं आयइं
भावें वंदहु जिणवरहं अक्खयसोक्खहेउ संजायइं

११—पूस-तिमिरभर दुइजहि केवलु
मल्लिजिणहु समदंसण सुह बलु
एयारसिहि सु जम्मु-तउ दुण्हवि जिण चंदप्पह पासहु
सीयल-केवलु चउदसिहि भावें पूज करेवि पसंसहु

१२—संतिणाणु सिय दसमिहि पूसहु
अजियहु एयारसिहि सुहासहु
लद्धउ चउदसि पुण्णिमहि अहिणंदण जिणधम्महिं केवलु
दस जिण-उच्छव सन्त दिण वंदिवि माणहु सिवसुह अविचलु

१३—माहहु छट्ठि गब्भु पउमाहहु
सयिल जम्मुदिक्ख बारसि तहु
रिसह मोक्खु तम-चउदसिहि अमावसि केवलु सेयंसह
अवर पक्खि सिय दुइजदिणि केवल दिवसु वासुपुज्जेसहु

१४—विमल जम्मु तउ विमल चउत्थिहि
तासु जि केवलु उज्जल छट्ठिहि
णवमि दसमि अजियहु भणमि तउ जम्मु वि बारसि अहिणंदहु
तेरसि धम्महु जम्मु तउ दिणएयारह उच्छव पणरह

१५—कसिण चउत्थिहि सिउ पउमाहहु
फग्गुण छट्ठिहि णाणु सुपासहु
णाणु मोक्खु चंदप्पहहु मोक्खु सुपासहु सत्तमि तिण्णिवि
सुविहि-गब्भु णवमिहि तिहिमि तिमिर पक्खि जिसुखाहु मह अण्णवि

१६—सेयंसहु तउ जम्मु वि पविमलु
एयारसिहि रिसह जिण केवलु
सुव्वउ सिद्धउ बारसिहि चउदसि वासुपुज्ज तउ जम्मणु
धवल तीजि अर-गब्भु पुणु पंचमि मल्लि मोक्खु हयकम्मणु

१७—ससि णिम्मलयरि फग्गुणि अक्खमि
संभव गब्भ-दिवसु सिय अट्ठमि
उच्छव पणरह दिवस दस ण्हवण पुज्ज समलहणु करेप्पिणु
पणवहु भावे तित्थयर मन्थय मंडलि कर जोडेप्पिणु
१८—चइति चउत्थिहि केवलु पासहु
पंचमि गब्भासउ ससिभासहु
अट्ठमि सीयल गब्भदिणु णवमिहि रिसह जम्मु संजमु तहु,
अरणिव्वाणु अणंतजिण-णाणु मोक्खु पणरसि तम चइतहु
१९—सिय पडिवहि मल्लिहि गब्भुच्छउ
कुंथुहि केवलु तीजहि सुच्छउ
अजियहु पंचमि मोक्ख दिणु सिद्धउ संभव जिणु सिय छट्ठिहि
जम्मु णाणु णिव्वाणु तसु सुमईसहु एयारसि दिट्ठउ
२०—तहिमि मासि चइतहि सिय पक्खहु
वीरजम्मु तेरसिहि णमंसहु
पउमप्पह जिण णाणु तहि पुण्णिम वासरि भावें वंदहु
बारस दिवसहं जिणवरह सत्तारह उच्छव अहिणंदहु
२१—दुइजहि पास गब्भु वइसाहहु
णवमिहि सुव्वय णाणु तमाहहु
दसमिहि सुव्वय जम्मु तउ णमिहि मोक्खु चउदसिहि कहिज्जइ
वइसाहहु सिय पडिवदिणि कुंथु जम्मु तउ मोक्खु णविज्जइ
२२—छट्ठिहि गब्भु मोक्खु अहिणदहु धम्मु गब्भु अट्ठमिहि पवदहु
सुमइहि संजमु णवमि दिणि वीरणाणु दसमिहि उप्पण्णउ
लोयालोय पयासयरु णवदिण तेरह उच्छव पुण्णउ
२३—जेट्ठ कसिण छट्ठिहि सेयंसहु गब्भु विमल जिण दसमि पसंसहु
दिक्ख जम्मु पुणु बारसिहि देव अणंतहु भणइ महामुणि
जम्मु सिद्धि तउ चउदसिहि संतिहि अजिय गब्भु पणरसिदिणि

२४—धवल चउत्थि मोक्खु धम्मेसहु तउ जम्मु वि बारसिहि सुपासहु
एयारह मह सत्तदिण विहिं पक्खहिं जेट्ठहु गणि कहियइं
ऊणणवदि दिण जिणवरह वीसोत्तरु सउ उच्छव महियइं
२५—एयभत्तु एक्किजि कल्लाणइ, चिहि णिव्वियड्डि अहव इग ठाणइ।
तिहि आयबिलु जिणु भणइ, चउहि होइ उववासु गिहत्थह।
अहवा सयलह खवणविहि, विणयचदमुणि कहिउ समत्थहं ॥
सिद्धि सुहंकर सिद्धिपहु०

(अर्थ—एक मिती मे अगर एक कल्याणक हो तो 'एक भक्त' करे दो कल्याणक हो तो 'निर्विकृति' या 'एकस्थानक' करे। तीन हो तो 'आचाम्ल' करे। चार हो तो उपवास करे। अथवा सभी कल्याणक दिवस मे एक उपवास ही करें यह उपवास का कथन समर्थ-सबल के लिये है)

॥ इति कल्याणक विधि समाप्त ॥

मास नाम	कल्याणक संख्या	दिन (मिती) संख्या
आषाढ	७	६
श्रावण	७	६
भाद्रपद	४	४
आश्विन	३	३
कार्तिक	९	८
मार्गशीर्ष	९	६
पौष	१०	७
माघ	१५	११
फाल्गुण	१५	१०
चैत्र	१७	१२
वैशाख	१३	९
ज्येष्ठ	११	७
कुल योग—	१२०	८९

नोट:—यह दोहा चौपाई के मेल से बनाया गया रासा (गेय काव्य) आशाधर से कुछ पूर्व १३ वी शताब्दी की रचना है ।

यह कृति डेरांटू ग्राम के वि० सं० १५२६ के एक गुटके से तथा वि० सं० १४५५ के एक अन्य गुटके से उतारी गई है इसके सहयोग के लिए हम पं० दीपचन्द जी पांड्या के आभारी हैं ।

श्रीमत्पंडिताशाधरविरचिता कल्याण-माला

पुरुदेवादिवीरान्तजिनेन्द्राणा ददातु नः ।
श्रीमद्गर्भादिकल्याणश्रेणी निश्रेयसः श्रियम् ॥ १ ॥
शुचौ कृष्णे द्वितीयायां वृषभो गर्भमाविशत् ।
वासुपूज्यस्तथा षष्ठ्यामष्टम्या विमलः शिवम् ॥ २ ॥
दशम्यां जन्मतपसी नमेः शुक्ले तु सन्मतेः ।
षष्ठ्यां गर्भोऽभवन्नेमेः सप्तम्या मोक्षमाविशत् ॥ ३ ॥
सुव्रतः श्रावणे कृष्णे द्वितीयाया दिवच्युत. ।
कुन्थुर्दशम्या शुक्ले तु द्वितीये सुमतिस्थितौ ॥ ४ ॥
जन्मनिष्क्रमणे षष्ठ्या नेमेः पार्श्वः सुनिर्वृतः ।
सप्तम्यां पूर्णिमायां तु श्रेयान्निःश्रेयसं गतः ॥ ५ ॥
भाद्रे कृष्णस्य सप्तम्या गर्भं शान्तिरवातरत् ।
गर्भावतरणं षष्ठ्या सुपार्श्वस्य सितेऽभवत् ॥ ६ ॥
पुष्पदन्तस्य निर्वाणं शुक्लाष्टम्यामजायत ।
श्रितः शुक्लचतुर्दश्यां वासुपूज्य. परं पदम् ॥ ७ ॥
आश्विनेऽभूद्द्वितीयाया कृष्णे गर्भो नमे. सिते ।
नेमेः प्रतिपदि ज्ञानं सिद्धोऽष्टम्या च शीतलः ॥ ८ ॥
अनन्तः कार्तिके कृष्णे गर्भेऽभूत्प्रतिपद्दिने ।
चतुर्थ्यां शंभवाधीशः केवलज्ञानमाप्तिवान् ॥ ९ ॥

पद्मप्रभस्त्रयोदश्या प्राप्तो जन्मव्रते शिवम् ।
दर्शे वीरो द्वितीयाया कैवल्य सुविधि स्थित ॥ १० ॥
षष्ठ्या गर्भोऽभवन्नेमेर्द्वादश्या केवलोद्भव ।
अरनाथस्य पक्षान्ते सभवेशस्य जन्म च ॥ ११ ॥
मार्गे दशम्या कृष्णेऽगाद्वीरो दीक्षा जनिव्रते ।
सुविधे पक्षतौ शुक्ले दशम्या त्वरदीक्षणम् ॥ १२ ॥
एकादश्या जनुर्दीक्षे मल्लेर्ज्ञान नमेस्तथा ।
अरजन्म चतुदश्या पद्मान्ते सम्भवव्रतम ॥ १३ ॥
पौषकृष्णे द्वितीयाया मल्लि कैवल्यमासदत ।
चद्रप्रभस्तथा पार्श्व एकादश्या जनिव्रते ॥ १४ ॥
शीतलस्तु चतुदश्या कैवल्यमुदमीमिलत् ।
शातिनाथो दशम्यान्तु शुक्ले कैवल्यमापिवान् ॥ १५ ॥
एकादश्यान्तु कैवल्यमजितेशोऽभिनन्दन ।
चतुर्दश्या पूणिमाया धम्मश्च लभते स्म तत ॥ १६ ॥
माघे पद्मप्रभ कृष्णे षष्ठ्या गर्भमवातरत् ।
शीतलस्य जनुर्दीक्षे द्वादश्या वृषभस्य तु ॥ १७ ॥
मोक्षोऽभवच्चतुदश्या दर्शे श्रेयासकेवलम् ।
शुक्लपक्षे द्वितीयाया वासुपूज्यस्य केवलम् ॥ १८ ॥
चतुर्थ्या विमलो जन्मदीक्ष षष्ठ्या च केवलम् ।
नवम्यामजितो दीक्षा दशम्या जन्म चासदत् ॥ १६ ॥
अभिनदननाथस्य द्वादश्या जन्मनिष्क्रमौ ।
धर्म्मस्य जन्मतपसी त्रयोदश्या बभूवतु ॥ २० ॥
चतुर्थ्या फाल्गुने कृष्णे मुक्ति पद्मप्रभो गत ।
षष्ठ्या सुपार्श्व कैवल्य सप्तम्या चाप निर्वृतिम् ॥ २१ ॥
सप्तम्यामेव कैवल्यमोक्षौ चन्द्रप्रभोऽभजत् ।
नवम्या सुविधिर्गर्भमेकादश्या तु केवलम् ॥२२॥

वृषो, जन्मव्रते तद्वच्छ्रेयान्मुक्तिं तु सुव्रतः ।
द्वादश्या वासुपूज्यस्तु चतुर्दश्या जनिव्रते ॥२३॥
अरः शुक्ले तृतीयाया गर्भं मल्लिस्तु निर्वृतिम् ।
पंचम्या प्रापदष्टम्यां गर्भं श्रीसभवोऽपि च ॥२४॥

चैत्रे चतुर्थ्यां कृष्णेऽभूत्पार्श्वनाथस्य केवलम् ।
पंचम्या चन्द्रभो गर्भमष्टम्या शीतलोऽश्रयत् ॥२५॥

नवम्या जन्मतपसी वृषभस्य बभूवतुः ।
दर्शेऽनंतस्य कैवल्यं मोक्षोऽरस्याऽभवत्तथा ॥२६॥

शुक्लप्रतिपदा गर्भं मल्लि. कुन्थुस्तृतीयया ।
ज्ञानेऽजितोऽभूत्पंचम्या मोक्षे षष्ठ्या च संभवः ॥२७॥

एकादश्या जनिर्ज्ञानमोक्षान्सुमतिरुद्भवम् ।
वीरः प्राप्तस्त्रयोदश्या पद्माभोऽत्येऽह्नि केवलम् ॥२८॥

पार्श्व. कृष्णे द्वितीयाया वैशाखे गर्भमाविशत् ।
नवम्या सुव्रतो ज्ञानं दशम्या च जनिव्रते ॥२९॥

धर्मो गर्भं त्रयोदश्या चतुर्दश्या नमिः शिवम् ।
शुक्ले प्रतिपदि प्राप कुन्थुर्जन्मतपः शिवम् ॥३०॥

प्राप्तोऽभिनन्दनः षष्ठ्यां गर्भमोक्षे तु दीक्षणम् ।
नवम्या सुमतिर्वीरो दशम्या ज्ञानमक्षयम् ॥३१॥

श्रेयान् ज्येष्ठेऽसिते षष्ठ्या दशम्या विमलोऽपि च ।
गर्भं समाश्रितोऽनन्तो द्वादश्या जन्मनिष्क्रमौ ॥३२ ॥

शान्तिः श्रितश्चतुर्दश्या जन्मदीक्षाशिवश्रिय. ।
अमावास्या दिने गर्भमवतीर्णोऽजितेश्वरः ॥३३॥

शुक्ले चतुर्थ्यां निर्वाणं प्राप्तो धर्मो जिनेश्वरः ।
सुपार्श्वनाथो द्वादश्या जनिप्रव्रजिते स्थितः ॥३४॥

इतीमां वृषभादीनां पुष्यत्कल्याणमालिकाम् ।
करोति कण्ठे भूषा यः स स्यादाशाधरेडितः ॥३५॥

॥ इत्याशाधरविरचिता कल्याणमाला ॥

यह कल्याणमाला १३ वीं शताब्दी के अंत की रचना है और कल्याण रास इससे पहिले की १३ वीं शताब्दी के मध्यान्तर की रचना है। दोनो की वर्णनशैली एक सी है सिर्फ भाषा का भेद है। दोनो में क्रमशः (आषाढादि) मास (कृष्ण शुक्ल) पक्ष और (प्रतिपदादि) तिथिया दी है जिससे मास पक्ष तिथि की कोई इधर-उधर गड़-बड़ हो तो झट पकड़ मे आ सकती है। कल्याणक रास मे इसके सिवा एक खूबी और पाई जाती है—उसमे प्रत्येक मास की साथ-साथ कल्याणक संख्या और दिन संख्या भी दे दी है।

दोनों रचनाओं मे पंच कल्याणक तिथियाँ समान होते हुए भी एक जगह अन्तर पाया जाता है—कल्याणक रास में धर्मनाथ का गर्भ वैशाख शुक्ला ८ दिया है जब कि कल्याणमाला मे वैशाख कृष्ण १३ दिया है। वैशाख कृष्ण १३ (रेवती नक्षत्र) ही उत्तर पुराण और धर्मशर्माभ्युदय मे दिया है अतः यही प्रामाणिक है। उत्तर पुराण मे तिथि के साथ नक्षत्र भी दिये हैं जिनके द्वारा—ज्ञानपीठादि से प्रकाशित उत्तर पुराण के एतद्विषयक पाठ और अर्थ मे जो कही-कही गलतियाँ पाई जाती हैं उनका समुचित संशोधन हो सकता है।

आशाधर ने उत्तर पुराण ही की तिथियो को उनके साथ दिये नक्षत्र से मिलान कर अपनी कल्याणमाला मे दिया है अतः कल्याणमाला का पाठ शुद्ध और प्रामाणिक है।

हिन्दी संस्कृतादि के पूजा पाठों और नकशो आदि मे परस्पर विभिन्न पंचकल्याणक तिथियाँ पाई जाती है वे काफी अशुद्ध है आगे पंचकल्याणक तिथियों का एक शुद्ध नकशा दिया जाता है पाठक लाभ उठावें :—

—पचकल्याणक शुद्ध तिथियाँ—

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष
ऋषभ	आषा कृ २	चै कृ ९	चै कृ ९	फा कृ ११	मा कृ १४
अजित	जे कृ १५	मा शु १०	मा शु ९	पौ शु ११	चै शु ५
सभव	फा शु ८	का शु १५	मृग शु १५	का कृ ४	चै शु ६
अभि	वै शु ६	मा शु १२	मा शु १२	पौ शु १४	वै शु ६
सुमति	श्रा शु २	चै शु ११	वै शु ९	चै शु ११	च शु ११
पद्म	मा कृ ६	का कृ १३	का कृ १३	च शु १५	फा कृ ४
सुपार्श्व	भा शु ६	ज्ये शु १२	ज्ये शु १२	फा कृ ६	फा कृ ७
चन्द्र	चै कृ ५	पौ कृ ११	पौ कृ ११	फा कृ ७	,, ,, ,,
पुष्प	फा कृ ९	मृग शु १	मृग शु १	का शु २	भा शु ८
शीतल	चै कृ ८	मा कृ १२	मा कृ १२	पौ कृ १४	आश्वि शु ८
श्रेयास	ज्ये कृ ६	फा कृ ११	फा कृ ११	मा कृ १५	श्रा शु १५
वासु	आषा कृ ६	फा कृ १४	फा कृ १४	मा शु २	भा शु १४
विमल	ज्ये कृ १०	मा शु ४	मा शु ४	मा शु ६	आषा कृ ८
अनत	का कृ १	ज्ये कृ १२	ज्ये कृ १२	चै कृ १५	चै कृ १५
धर्म	वै०कृ०१३	मा शु १३	मा शु १३	पौ शु १५	ज्ये शु ४
शाति	भा कृ ७	ज्ये कृ १४	ज्ये कृ १४	पौ शु १०	ज्ये कृ १४
कुन्थु	श्रा कृ १०	वै शु १	वै०शु०१	चै शु ३	चै शु १
अर	फा शु ३	मृग शु १४	मृग शु १०	का शु १२	चै कृ १५
मल्लि	चै शु १	मृग शु ११	मृग शु ११	पौ कृ २	फा शु ५
सुव्रत	श्रा कृ २	वै कृ १०	वै कृ १०	वै कृ ९	फा कृ १२
नमि	आश्वि कृ २	आषा कृ १०	आषा कृ १०	मृग शु ११	वै कृ १४
नेमि	का शु ६	श्रा शु ६	श्रा शु ६	आश्वि शु १	आषा शु ७
पार्श्व	वै कृ २	पौ कृ ११	पौ कृ ११	चै कृ ४	श्रा शु ७
वीर	आषा शु ६	चै शु १३	मृग कृ १०	वै शु १०	का कृ १५

कुछ श्लोकों के अर्थ पर विचार

१—दीक्षा योग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः ।
मनोवाक्कायधर्माय, मता. सर्वेऽपि जंतवः ॥ ७९१ ॥
(यशस्तिलक चंपू उत्तरखंड—पृष्ठ ४०५)

पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने इस श्लोक के द्वितीय चरण को "चतुर्थश्च विधोचितः" इस रूप में बदल कर अनेकात वर्ष १ पृ० ११, वर्ष ११ पृष्ठ १३ एवं 'महावीर का सर्वोदय तीर्थ' पुस्तिका पृष्ठ २१–२२ तथा 'सूर्य प्रकाश परीक्षा' पृष्ठ ११८ मे निम्न प्रकार अर्थ किया है:— "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनो वर्ण (आम तौर पर) मुनि दीक्षा के योग्य है और चौथा शूद्र वर्ण विधि के द्वारा दीक्षा के योग्य है।"

समीक्षा.—मुख्तार साहब ने जो द्वितीय चरण को बदला है वह निराधार प्रतीत होता है क्योकि मुद्रित व प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में ऊपर मुजब ही पाठ पाया जाता है। और फिर विधि के द्वारा जो शूद्र को मुनि दीक्षा के योग्य बताया है वह विधि भी किसी जैन शास्त्र मे देखने मे नहीं आती अतः जो सर्वोदय (?) की भावनावश मन.कल्पित पाठ व अर्थ को योजना की गई है वह समुचित प्रतीत नही होती। यह प्रकरण 'दानविधि' नाम के ४३वें कल्प का है अतः मेरे खयाल से इसका ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण दीक्षा के योग्य है और सच्छूद्र को सम्मिलित कर चार वर्ण विधोचित आहार (दान) के योग्य है।

प्रश्न—'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' कैसे होता है ?

समाधान—इसी यशस्तिलक के पृष्ठ ४०४ पर "विधा विशुद्धिश्च नवोपचाराः" पद देखिये वहाँ 'विधा' का अर्थ 'आहार' ही किया है। सागार

धर्मामृत मे भी 'विधा' शब्द 'आहार' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। देखो अध्याय ७ श्लोक ३६ की स्वोपज्ञ टीका।

प्रश्न—शूद्र आहारदान कैसे कर सकता है?

समाधान—सच्छूद्र उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) तक हो सकता है अतः अष्टमूल-गुणादि को धारण कर श्रावक संज्ञा को प्राप्त हुए सच्छूद्र के आहार दान देने मे कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

२—अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः ॥ ८५५ ॥

(यशस्तिलक चंपू उत्तरखंड पृष्ठ ४१०)

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अनेकान्त वर्ष १० कि० ११–१२ मे 'ऐलक पद कल्पना' शीर्षक लेख मे तथा पं० हीरालालजी सिद्धात शास्त्री ने वसुनन्दि श्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना में पृष्ठ ५० पर इसका निम्न प्रकार अर्थ किया है—"पूर्व पूर्व प्रतिमारूप व्रत मे स्थित होकर अवधि व्रत पर आरोहण करे। सोमदेव 'अवधि व्रत' पद के द्वारा श्वेताबर परम्परा के समान प्रतिमाओ के नियत काल रूप अवधि का उल्लेख कर रहे है या अन्य कोई अर्थ है?" (निश्चित नही) ॥

समीक्षा—अनेकान्त वर्ष ५ कि० १ मे पं० दीपचन्दजी पाड्या ने 'यशस्तिलक का संशोधन' नाम के अपने महत्त्वपूर्ण लेख मे आज से कई वर्ष पूर्व 'अवधि' के स्थान पर साधार 'अध्यधि' शुद्ध पाठ को सुझा दिया था पर खेद है कि विद्वान् ध्यान ही नही देते, अगर ध्यान दिया जाता तो श्वेताबरोक्त कल्पना करने की जरूरत ही नही होती। पाठ को शुद्ध कर लेने पर अर्थ इस तरह सुसंगत हो जाता है—"पूर्व-पूर्व के व्रतों (प्रतिमाओ) को पालन करते हुए आगे-आगे के व्रतों को धारण करना चाहिये" यही बात कविकुल गुरु आचार्य समन्तभद्र ने कही है देखो रत्नकरण्ड कारिका १३६ "स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रमविवृद्धाः ॥

३—विमोक्षसुख चैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिका
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाऽहेतवः ॥

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किन्तु ता-
स्त्वयि प्रमृतभक्तिभि स्वयमनुष्ठिता श्रावकै ।।

(पात्रकेसरी स्तोत्र, ३७)

जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष २, किरण १, पृष्ठ ६ मे श्री कामता प्रसाद जी ने, चर्चा सागर समीक्षा पृ० १२४ मे प० परमेष्ठीदास जी ने, सूर्य प्रकाश परीक्षा पृ० ५९ मे, युगवीर निबन्धावली पृ० २०२ मे पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने, अनेकात वर्ष १२ किरण १० पृ० ३२१ मे प० परमानन्दजी शास्त्री ने तथा 'जैनमित्र' माघ सुदी ५ वीर स० २४५८ मे सुरेशचन्दजी न्यायतीर्थ ने इस श्लोक का निम्न प्रकार अर्थ किया है—'सवज्ञ देव ने मुक्ति-सुख के लिए चैत्य-निर्माण, दान, पूजनादि क्रियाओ का उपदेश नही दिया है क्योकि ये क्रियायें प्राणियो के मरण और पीडन की कारण हैं, किन्तु गुणानुरागी श्रावको ने स्वय ही उनका अनुष्ठान कर लिया है।''

समीक्षा—यह अर्थ ग्रन्थसन्दर्भानुकूल और आगम समत प्रतीत नही होता, इससे तो उल्टा मूर्ति-पूजन विरोधी तारणपन्थी और स्थानकवासी सप्रदाय के मतव्य का समर्थन होता है जो किसी तरह उचित नही, अत मेरे खयाल से इस श्लोक का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—मोक्ष और अभ्युदय की कारणीभूत चैत्य निर्माण, दान, पूजनादि क्रियाये जो अनेक प्राणियो के मरण और पीडन की हेतु है उनका आप सवज्ञ देवने उपदेश नही दिया है 'तो क्या भक्ति से भरे हुए श्रावको ने स्वय ही उनका विधान कर लिया है ?

यहाँ कवि ने ''किन्तु (अव्यय)' पद देकर इस श्लोक को प्रश्नात्मक ढग मे बनाया है और उसका उत्तर आगे के श्लोक मे दिया है जो निम्न प्रकार है—

---

१ कोई यहाँ 'किम् तु' पाठ माने तो भी उसका अर्थ ''तो क्या' (प्रश्नात्मक) ही है, ''किन्तु-परन्तु'' अर्थ नही है।

त्वया त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा केनचिद्
कथंचिदुपदिश्यतेस्म जिन ! चैत्यदानक्रिया ।।
अनाशकविधिश्च केशपरिलुंचनं चाथवा ।
श्रुतादनिधनात्मकादधिगतं प्रमाणांतरात् ।। ३८ ।।

अर्थ––आपने या आपके धर्म प्रचारक गणधर देवादि ने चैत्य निर्माण, दान, उपवास, केशलोचादि (प्राणीवधात्मक) क्रियाओं का कथंचिद् उपदेश दिया है अथवा अनादि निधन श्रुत रूप प्रमाणांतर से भक्त लोगों ने यह सब जान लिया है।

ऐसी प्रश्नोत्तरात्मक शैली इस ग्रन्थ मे अन्यत्र भी बहुत पाई जाती है। इस श्लोक के 'त्वया' शब्द मे साफ सिद्ध हो जाता है कि––सर्वज्ञ देव ने ही इन क्रियाओं का उपदेश दिया है। आगे के श्लोक मे फिर बताया है कि––ऐसा प्राणी पीडात्मक उपदेश देने वाले भगवान् के पाप-बन्ध क्यों नहीं होता ? उत्तर––प्राणी पीडा न तो नियमतः पाप की और न सर्वथा पुण्य की ही कारण है, तप-दानादि भी एकांततः पुण्य प्रसाधक नही है, इस तरह हे सत्यवाक् ! आपका मत विचित्र नय रूपी भंग-जालों से गहन––दुर्गम है ।। ३९ ।।

समस्त ब्रह्माड सूक्ष्म जीवों से भरा हुआ है अतः हिंसा से नहीं बचा जा सकता तथा तप भी स्व और पर जीवों के संताप का कारण होने से हिंसात्मक ठहरता है इस तरह सर्वथा ही पाप बन्ध माना जायगा तो मुक्ति असंभव ही हो जायगी, पर ऐसा नही है, प्रमाद रहित प्रवृत्ति करने वाले वीतराग पुरुषो के (द्रव्य) हिंसा होते हुए भी पापबन्ध नही होता। देखो श्लोक ४५, ४६ ।

प्रश्न––तीर्थंकर भगवान् ने गृहस्थावस्था मे भले ही जिनपूजा का उपदेश दिया हो, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद उपदेश दिया हो ऐसा कोई उल्लेख अभी तक किसी ग्रन्थ मे देखने मे नही आया। (अनेकान्त वर्ष १२ पृष्ठ १२१)

समाधान—तीर्थंकर छद्मस्थावस्था में धर्मोपदेश नहीं देते, केवलज्ञान होने पर ही धर्मदेशना करते हैं। तीर्थंकरों ने द्वादशांग का उपदेश दिया है उसमें प्रथम ही 'आचारांग' और सातवें 'उपासकाध्ययनांग' में मुनि व श्रावकों के आचार का विधान किया है और श्रावकों का मुख्य धर्म कुन्दकुन्दादि आचार्यों के मत से दान और पूजा है तब वह कैसे सर्वज्ञ कथित नहीं है? अवश्य है। अनेक शास्त्रों में सर्वज्ञ देशना के अन्तर्गत मुनि व श्रावकों के आचार का कथन पाया जाता है, अमितगति ने अपने श्रावकाचार में स्पष्ट लिखा है कि—"दान पूजादि श्रावक धर्म जिनदेव सम्मत है" देखो अध्याय ९ श्लोक १। अगर दान पूजा तप-संयमादि का उपदेश दोषास्पद होता तो महाव्रती मुनीश्वर क्यों ऐसे (मूलाचार रत्नकरण्ड श्रावकाचारादि) ग्रन्थों का निर्माण करते? अनेक शास्त्रों मे यह कथन पाया जाता है कि—तीन लोक मे ऐसे बहुत से जैन मन्दिर और प्रतिमायें हैं जो श्रावक निर्मित न होकर अकृत्रिम और अनादि निधन हैं। तथा आगम मे जिन बिम्ब दर्शन को तिर्यंचो तक के लिये सम्यक्त्व का कारण बताया है, अतः यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि—श्रावकों ने सर्वथा अपने आप ही चैत्य पूजादि क्रियाओं की कल्पना नहीं कर ली है बल्कि वे अनादि निधन, आगम सम्मत और सर्वज्ञ कथित हैं।

प्रश्न—स्वयं भगवान अपने मुँह से अपनी पूजा का उपदेश कैसे दे सकते है? यह तो सभ्यता के विरुद्ध है।

समाधान—भगवान सामान्य तौर से भूत भविष्यतादि के सिद्ध और अरहन्त वगैरह के परिपूजन का उपदेश देते है। किसी एक को या अपने को लक्ष्य करके ऐसा उपदेश नही देते।

भगवान वस्तुतत्त्व का निरूपण करते हुए वीतरागभाव से चैत्य, पूजा, दान, तप संयमादि सागार अनगार धर्म का उपदेश देते हैं, आदेश नहीं देते। उपदेश और आदेश मे बहुत अन्तर है, एक सेवक भी हित की दृष्टि से अपने स्वामी को कर्तव्यज्ञापन (उपदेश) कर सकता है पर

आदेश—हुकुम नही कर सकता अतः उपदेश देना दोषात्मक नही है,—आदेश देना दोषात्मक हो सकता है।

४—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः, दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदंति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः।।
(हितोपदेश-प्रस्ताविका श्लोक ३१, पचतंत्रमित्रसम्प्राप्ति श्लोक १३७)

इस श्लोक का प्राय. सभी विद्वान् यह अर्थ करते है कि—उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। कायर पुरुष ही ऐसा कहते हैं कि—'भाग्य से ही सब कुछ मिलता है, अतः भाग्य को ठोकर मारकर आत्मशक्ति के साथ पुरुषार्थ करना चाहिए। यत्न करने पर भी अगर कार्यसिद्धि न हो तो इसमे किसका दोष ?

समीक्षा—इसी अर्थ मे जहाँ भाग्य को ठोकर लगाकर पुरुषार्थ चैतन्य करने कराने की बात कही गई है वहीं आगे जाकर यह भी कह दिया गया है कि—यत्न करने पर भी कार्य-सिद्ध न हो तो इसमें किसका दोष ? इस तरह अनुपाय, निराशा और अनुत्साह को प्रश्रय दिया गया है। पर जब हम प्रकरण को देखते है तो उसमे अन्य अनेक ऐसे श्लोक है जिनमे उद्यम को खूब पुष्ट किया गया है अतः यह अर्थ कवि-संमत प्रतीत नही होता। मेरे खयाल से अगर अंतिम चरण का अर्थ इस प्रकार किया जाय तो और भी ज्यादा अच्छा रहे—"यत्न करने पर भी अगर कार्यसिद्धि न हो तो कोऽत्र दोषः = इसमे कोई (अपूर्व) दोष है (यह समझना चाहिए और फिर पुरुषार्थ करना चाहिए, ऐसा कोई कारण नही कि—उद्यमी को सिद्धि वरण न करे)

इस लेख का सिर्फ इतना उद्देश्य है कि—विद्वद्गण और भी साव-धानी के साथ लेखनी चलायें, तथा अपने किसी अभिलषित मंतव्य की पुष्टि के लिए शास्त्रविपर्यास न करें। जब मंजे हुए विद्वान् ही अन्यथा लिखेंगे तो प्रामाणिक लेखन की किससे उम्मेद की जायेगी।

●

'विधा' के 'आहार' अर्थ पर
पं० फूलचन्द जी का पत्र और उसका उत्तर
तथा
श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री की आपत्तियों का निरसन

श्रीयुक्त प० रतनलाल जी सा० सप्रेम जयजिनेन्द्र

'जैन-संदेश' ता० २४-४-५८ मे आपका लेख देखा। उसमें आपने 'विधा' का अर्थ 'आहार' किया है। यह ठीक नहीं है। सागारधर्मामृत ७-३९ मे विध शब्द प्रकारवाची है, आहारवाची नहीं। 'चतुर्विधं उपवासं' इसका अर्थ चार प्रकार के आहार का त्याग जिसमे है ऐसे उपवास को किया है कोई इसका अर्थ चार प्रकार का उपवास न करले इसलिए अपनी टीका मे उन्होने 'चतुर्विधं' का, चतस्रो विधा आहाराः त्याज्या *यस्मिन् असौ चतुर्विध , यह अर्थ कर दिया।*

यशस्तिलक चपू मे 'चत्वारश्च विधोचिता', यह पाठ है यह ठीक है। यह भी संभव है कि हस्तलिखित प्रतियो मे यही पाठ मिलता हो पर उसका सम्बन्ध 'दीक्षायोग्या.' पद के साथ है दान के साथ नहीं। अर्थ करते समय जिसको जितना अर्थ इष्ट हो उतना ही करे यह अन्य बात है अस्तु, ये प्रासंगिक सूचनाये हैं। उपयुक्त लगे तो स्वीकार करलें अन्यथा छोड दें। मुझे आपसे जो मुख्य बात पूछनी है कि—शूद्र क्षुल्लक तक के व्रत धर सकता है यह आपने किन-किन ग्रन्थो में देखा है। कृपया प्रमाण सहित अवश्य ही लिखने की कृपा करें। व्यक्तिगत जिज्ञासावश ही आपसे यह पृच्छा की है। आशा है, उत्तर यथासंभव शीघ्र देने की कृपा करेंगे।

आपका—फूलचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

उत्तर

'विध' नहीं 'विधा' स्त्रीलिंग शब्द है। जैसा कि आशाधर जी के 'वतस्रो' स्त्रीलिंग विशेषण से संसूचित होता है। 'विधा' का अर्थ स्पष्ट रूप से आशाधार जी ने आहार ही किया है, जो कि उन्हे अभिप्रेत था। 'विधा' का अर्थ अगर 'आहार' नही होता तो आशाधर जी जैसे बहुश्रुत विद्वान् उसका उस अर्थ मे कभी प्रयोग नहीं करते। अमितगति-श्रावकाचार परि० १२ श्लोक १२३—"चतुर्णां तत्र भक्तानां त्यागोवर्ज्य श्चतुर्विधाः" मे भी 'चतुर्विधाः' का यही अर्थ किया गया है।

मैने अपने लेख में यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृष्ठ ४०४ का भी एक प्रमाण दिया था, जिस पर फूलचन्द जी सा० का ध्यान गया नहीं दिखता है, किन्तु वहाँ दिये हुए 'विधा-विशुद्धि' शब्द से स्पष्टतया 'विधा' का अर्थ आहार ही सिद्ध होता है और कोई दूसरा अर्थ वहाँ सम्भव नही, क्योंकि 'विधा-विशुद्धि' शब्द नवधा-भक्ति के अन्तर्गत आहार शुद्धि नाम की ६ वी भक्ति के रूप मे वहाँ प्रयुक्त किया गया है।

यशस्तिलक चम्पू से ही एक और प्रमाण देता हूँ। देखो—पूर्व खण्ड, पृष्ठ १३८, श्लोक १२७ की श्रुतसागरी टीका जिसमे साफ तौर से 'विधा-वृत्तिः' का अर्थ 'आहारप्रवृत्तिः' दिया हुआ है।

ये तो हुआ साहित्यिक प्रमाण। अब कोशों से भी इसकी पुष्टि की जाती है। देखो—(क) अमरकोष, काण्ड ३, नानार्थ वर्ग क्षीरस्वामी कृत टीका—च शब्दाद् हस्त्यश्वादि भोजने वेतने च विधा।

(ख) अमरकोष की भानुजी दीक्षित कृत व्याख्या सुधा—"विधा गजान्ने ऋद्धौ च प्रकारे वेतने विधौ" इति विश्वः।

(ग) अनेकार्थ संग्रह (हेमचन्द्र कृत) द्वितीय काड श्लोक २५२—विद्धं सदृग्वेधितयोः क्षिप्ते विधर्द्धिमूल्ययोः। प्रकारेभान्नविधिषु विधि-र्ब्रह्मविधानयोः॥

२—मुख्तार साहब के कल्पित 'चतुर्थश्च' पाठ को जो फूलचन्द जी

सा० ने ठीक न मानकर 'चत्वारश्च' पाठ को ही ठीक माना है वह समुचित है, किन्तु उसका सम्बन्ध जो 'दीक्षायोग्य' पद के साथ बताया है वह किसी तरह उचित नही। क्योकि जब पूर्व पद में दीक्षा के योग्य तीन वर्ण ही बताये है तो फिर आगे के पद मे चारो वर्णो को विधि के द्वारा योग्य कैसे बनाया जा सकता है? सम्भवत इसी आपत्ति को लक्ष्यकर मुख्तार सा० ने 'चतुर्थश्च' पाठ की योजना की है, किन्तु यह सब 'विघा' शब्द के ठीक अर्थ को न समझने का परिणाम है अगर 'विघोचिता:' का अर्थ प्रकरणानुसार 'आहार दान के योग्य' कर लिया जाता है तो फिर कोई असगति नही रहती। यह श्लोक दानविधि नाम के ४३ वें कल्प का है, इसके 'चत्वारश्च विघोचिता' पद में दान के स्वामी—अधिकारी बताये है। यही बात अनगारधर्मामृत अ० ४, श्लोक १६७ की टीका मे दिये हुए—"अन्यै—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रै स्वदातृगृहात्" वाक्य से जानी जाती है। इसके सिवा एक बात और है—भट्टारक सोमदेवाचार्य का वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध लिखना मभव नही, इस दृष्टि से भी शूद्र को दीक्षा योग्य बताना उनकी प्रकृति के विरुद्ध ज्ञात होता है अतः यहाँ 'विघा' शब्द का अर्थ 'आहार' ही है यह भली-भाँति सिद्ध होता है।

'चत्वारश्च' का अर्थ चार होता है न कि एक, इससे 'जिसको जितना अर्थ इष्ट हो उतना ही करे' यह नही हो सकता।

अन्त मे फूलचन्द जी सा० ने 'शूद्रक्षुल्लक तक के व्रत घर सकता है, इस विषय मे मुझसे प्रमाण पूछे है अत नीचे कुछ प्रमाण दिये जाते है।

(१) आदिपुराण पर्व ४०, श्लोक १७०-१७१ सच्छूद्रो को दीक्षा के अयोग्य बताते हुए उन्हे एक शाटकधारी (क्षुल्लक) तक होना बताया है।

(२) पर्व ३६, श्लोक १५८ में कुलगोत्रादि से विशुद्ध को ही दीक्षा-योग्य बताया है।

(३) पूज्यपादकृत जैनेन्द्रव्याकरण,–वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां' सूत्र और उसकी अभयनंदिकृत महावृत्ति।

(४) प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १५४–भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम्।

(५) छेदपिण्ड गाथा २१९ से २५५ तथा प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १०६ से ११३ सटीक।

(६) यशस्तिलकचम्पू—"दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णा.।"

(७) उत्तरपुराण पर्व ७४, श्लोक ४९३–तीन वर्णों को ही शुक्लध्यान का अधिकारी बताया है शूद्र को नही।

(८) ब्राह्मणः क्षत्रिया. वैश्याः योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे।
कुल हीने न दीक्षास्ति जिनेन्द्रोदिष्टशासने ॥१०६॥
न्यक्कुलानामचेलैकदीक्षादायी दिगम्बर.।
जिनाज्ञा कोपतोऽनंतसंसार. समुदाहृतः ॥१०७॥

प्रायश्चित्तचूलिका।

(९) प्रवचनसार अ० ३ गा० २५ की जयसेन कृत टीकान्तर्गत "वण्णेसु तीसु एक्को" गाथा जिसका संस्कृत रूपान्तर प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १०६ की टीका मे है, दोनो मे देखो।

(१०) ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृष्ठ ६३-६४: स्पर्शशूद्र (क्षुल्लक) लोहे का पात्र राखे है। (यह उसका बाह्य चिन्ह है) अरि ऐलक अजिकाजी तो क्षत्री, वैश्य, ब्राह्मण ऊँच कुली ही नियम करि उत्कृष्ट श्रावक के व्रत धारे है। अर अस्पर्शशूद्र के प्रथम प्रतिमा का धारक जघन्य श्रावक ता को भी व्रत नाही संभवे है।

(११) दौलतक्रियाकोश—श्रीगुरु तीनवर्ण विन कदे, नहिं मुनि ऐलितनें व्रत दे। ९२९।

(१२) अन्य भाषा के पंडितो ने भी यही लिखा है। देखो श्रावकधर्म संग्रह (पं० दरयावसिंहजी सोधिया कृत) व पं० टोडलमलकृत

मोक्षमार्ग प्रकाशक में 'शूद्रमुक्ति निषेध' प्रकरण एवं अन्य आचार्यों का शूद्रमुक्ति-निषेध विवेचन।[1]

६ मई ५८ के 'जैनदर्शन' पत्र में इन्द्रलाल शास्त्री ने भी यशस्तिलक के पूर्वोक्त श्लोक पर अपने विचार प्रकट किये हैं नीचे उनकी समीक्षा की जाती है।

इन्द्रलालजी—श्री रतनलालजी ने जो 'विधा' का 'आहार' अर्थ किया है वह उचित नहीं है, आहार अर्थ करने से श्लोक की अर्थ संगति भी नहीं बैठती। वास्तव मे यहाँ 'विधा' का अर्थ समृद्धि अथवा वेतन (भरण) है। यशस्तिलक और सागारधर्मामृत दोनों में 'विधा' शब्द का अर्थ 'प्रकार' है आहार नहीं। यशस्तिलक में जो 'विधा विशुद्धि' शब्द है उसका अर्थ भी प्रकार (विधि) की विशुद्धि ही है।

समीक्षा—पूर्व मे अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है कि—विधा का अर्थ आहार है और वह यहाँ सर्वथा प्रकरण संगत एवं संदर्भानुकूल है। सारे श्लोक का अर्थ इस प्रकार सुसंगत है—"दीक्षा के योग्य तीन वर्ण हैं और आहारदान के योग्य चार वर्ण हैं एवं मनवचनकाय से धर्म करने के अधिकारी सभी प्राणी है।"

इन्द्रलाल जी द्वारा किये गए 'विधा' शब्द के समृद्धि, वेतन अर्थ के साथ इस श्लोक की कोई सगति नही बैठती वह सब प्रकरण विरुद्ध और असंबद्ध है। इसी तरह 'विधाविशुद्धि' का अर्थ जो 'प्रकार की विशुद्ध' गया है वह और भी इन्द्रलालजी के संस्कृतज्ञान की तथा दुराग्रह की अच्छी तरह कलई खोल देता है। पूरा श्लोक इस तरह है—

---

१. निम्न ग्रन्थों को भी देखिये—

भावसंग्रह गाथा १०० । मेधावीकृत धर्म संग्रह श्रावकाचार अ० ९ श्लोक २५२ से २५५ । अनगार धर्मामृत अध्याय ९ श्लोक ८८ ।

प्रतिग्रहोच्चासनपाद्यपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥

इसमे बताया है कि—"प्रतिग्रह, उच्चासन, पाद्य = पादोदक, पूजा, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और विधा (आहार) शुद्धि ये ९ उपचार-भक्तियाँ मुनियो की गृहस्थो को करना चाहिये । इससे साफ सिद्ध है कि—विधाविशुद्धि शब्द यहाँ आहार शुद्धि नाम की ९ वी भक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसी हालत में इन्द्रलालजी सा० बताने का कष्ट करें कि प्रकार (विधि) की शुद्धि क्या चीज है ! इसी तरह सागार-धर्मामृत मे भी विधा का साफ साफ आहार अर्थ दिया गया है, देखो अध्याय ७ श्लोक ३९ की टीका ।

अब मैं इस विषय मे एक प्राचीन प्रमाण पेश करता हूँ—अनगार-धर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ६६ की टीका मे प० आशाधरजी ने यशस्तिलक के २ श्लोको को निम्न-प्रकार उद्धृत किया है—दत्त । केन ? गृहिणा गृहस्थेन ब्राह्मणाद्यन्यतमेन न शिल्प्यादिना तदुक्त—(यशस्तिलक उत्तरार्ध पृष्ठ ४०५) शिल्पिकारुकवाक्पण्यसंभलीपतितादिषु । देहस्थितिं न कुर्वीत लिंगिलिंगोपजीविषु ॥ दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता । मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जंतव ॥

इसमे बताया गया है कि "शिल्पी, कारू, भाट कुटनी, पतित-भ्रष्ट, पाखडी और साधुवेश से आजीविका करनेवाले के यहाँ मुनि देहस्थिति (आहार) न करे । दीक्षा योग्य तीन वर्ण है और आहार योग्य (जिनके यहाँ मुनि आहार कर सके या जो मुनि को आहार दे सकें) चार वर्ण हैं एव मनवचनकाय से धर्म-साधन के लिये सभी प्राणी अधिकारी है ।" प्रथम श्लोक मे उन शूद्रादि का निषेध किया है जो अभोज्य है और दूसरे श्लोक मे वे शूद्रादि ग्रहण किये गये है जो भोज्य हैं । प्रायश्चित्त-चूलिका श्लोक १५४ की टीका मे भोज्य का अथ इस प्रकार किया है—*यदन्नपानं ब्राह्मण-क्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते* । अर्थात् भोज्यशूद्र उन्हे कहते हैं जिनके यहाँ चारो

वर्णवाले आहार कर सकते हैं। धर्मसंग्रह श्रा० अध्याय ६, श्लोक २२६ में भी शूद्र को दानादि का अधिकारी बताया है। अनगार धर्मामृत प्र० ४, श्लोक १६७ की टीका मे भी यही लिखा है। इस तरह चारो वर्णों को आहारदान का अधिकारी बताना सोमदेव का उचित ही है। इन श्लोको को उद्धृत कर आशाधरजी ने भी अपना समर्थन जाहिर किया है—इसके सिवा इससे एक बात का और पता चलता है कि–"चत्वारश्च विघोचिता" पाठ ही प्रामाणिक और सही है 'चतुर्थश्च विघोचित.' जो मुख्तार सा० का कल्पित पाठ है वह ठीक नही है। आशाधरजी ने आहारदाता के प्रकरण मे इन श्लोको को उद्धृत कर यह सिद्ध कर दिया है कि—'विघोचिता' मे विधा का अर्थ आहार ही है।

इद्रलालजी—यदि आज कोई वीतरागी आचार्य भी असगतपाठ को सगत कर देता है तो उसे गिराने के लिये कितना होहल्ला मचाया जाता है जिसका उदाहरण सजद पद की चर्चा है। आचार्य श्री शान्तिसागरजी को भी लोगो ने भला-बुरा कहने मे सकोच न किया।

समीक्षा—सजद पाठ को असगत बताना भगवन्त पुष्पदन्तभूतबलि तथा आचाय वीरसेन के साथ भी अनौचित्य करना है। आचार्य शान्तिसागरजी ने सजदपाठ को सगत नही किया बल्कि उसे निकाल दिया है जो एक प्रकार की अनधिकार चेष्टा कही जानी चाहिए। अगर लोगो ने इसका विरोध किया तो वह समुचित ही था, अपनी तुच्छबुद्धि से जिनवाणी का अङ्गच्छेद करना और समझाने पर भी निजाग्रह नही छोडना श्रुत का महान् अनादर है, जो भाई किसी व्यामोहवश गलत बातो का भी समर्थन करते कराते है वे भी श्रुतापराधी है। ऐसी ही प्रवृत्तिया से हीन आदेशो की परम्परा पडती है।

इस पर २६ जून के 'जैन दर्शन' मे इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर वालो ने एक लेख और लिखा है, नीचे उसकी भी समीक्षा की जाती है।

इस लेख मे इन्द्रलाल जी ने मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी सा० पर

फिर छींटाकशी की है और उनकी ग्रंथपरीक्षाओं को अयुक्त कहा है किंतु आजतक इन्द्रलाल जी ने या उनकी मंडली ने ग्रंथपरीक्षाओं का जरा भी प्रतिवाद करने की हिम्मत तक नही की है, सोमसेन त्रिवर्णाचार के पं० पन्नालाल जी सोनी कृत अनुवाद की जो ग्रंथपरीक्षा के तीसरे भाग में समालोचना की गई है उसका भी जवाब आजतक नही लग पाया है, हिम्मत क्या करें और जवाब क्या लगे ! वे परीक्षायें लिखी ही बडी सावधानी और अकाट्य प्रमाणो के साथ गई हैं। बडे-बडे पुरुषों ने उन परीक्षाओ का लोहा माना है। जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद से ही पंडितो के पंडित श्री गोपालदास जी बरैया ने त्रिवर्णाचारों को विद्यालयो के पाठ्यक्रम से निकाल दिया था एवं इन परीक्षालेखों से प्रसन्न होकर दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचन्द जी नेमीचन्द जी सोलापुर वालों ने इनको मराठी में प्रकाशित कराया था।

इसमें कोई शक नही कि इन परीक्षालेखों ने जनता की स्वाभाविक बुद्धि को काफी प्रभावित किया है, और कूटलेखकों का अच्छी तरह पर्दाफाश कर दिया है—जब ४ पैसे की हाडी को भी भली प्रकार ठोक-बजाकर खरीदा जाता है तो जिसके साथ इस लोक और परलोक का हित सन्निहित हो उसे आँख मूँदकर कैसे मान्य किया जा सकता है—इस तथ्य को अब लोग बहुत कुछ समझने लग गये हैं। ग्रंथों के विषय में जो यह सम्यग्दर्शन लोगो मे पैदा हुआ है इसका बहुत बडा श्रेय प्राय: इन परीक्षालेखो को ही है, इस समय अत्यन्त आवश्यकता है कि इनके परिवर्धित नूतन भव्य संस्करण सभी भाषाओं में प्रकाशित कराये जायें। अगर इस पुनीत कार्य को सिद्धान्त संरक्षिणी सभा व शास्त्री परिषद् अपने हाथ मे ले ले तो वह बहुत हद तक अपना नाम सार्थक कर सकती है।

इन्द्रलाल जी:—'विघोचिता' मे 'विघा' का अर्थ भोजन भी माना जाय तो उसकी पूर्व वाक्य से संगति बिठाते हुए यही अर्थ हो सकता है

कि—जिनदीक्षा देने के योग्य तो तीन वर्ण हैं और चारों वर्ण आहारदान के योग्य हैं। तीन वर्ण को दीक्षा देने के योग्य बतलाया है उसी प्रकार चारों वर्णों को भोजन देने के योग्य बताया है, जब तीन वर्णों से दीक्षा लेने की बात नहीं किन्तु उन्हें देने की बात है तो चारो वर्णों के हाथ से यहाँ आहार लेने की बात कैसे टपक पड़ी? परन्तु इन्हे तो यह सिद्ध करना है कि शूद्र के यहाँ भी खाया पीया जा सकता है और न खाना पीना शास्त्रप्रतिकूल है।"

समीक्षा—दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः चत्वारश्च विधोचिता. (दीक्षा-योग्य तीन वर्ण है और आहार-योग्य चार वर्ण है) इन मूल वाक्यों में कहीं भी सोमदेव ने 'देने' या 'लेने' की बात नही जोडी है, पर आपने इनके साथ सिर्फ 'देने' का ही संबंध जोड़कर जहाँ मुनि को तीन वर्णों के लिए दीक्षा देने का अधिकारी बताया है वहाँ मुनि को ही चार वर्ण के लिए आहार देने का भी अधिकारी बता दिया है सो क्या मुनि भी आहार देते है? बताने का कष्ट करें। अगर नहीं देते है तो स्पष्टतः वे चारों वर्णों से आहार लेने के ही तो अधिकारी ठहरते है फिर आप इसे टपकना कैसे बताते है? इसके सिवा "चारों वर्णों को भोजन देने के योग्य बताया है" आपके इन वाक्यों से भी तो यह अर्थ निकलता है कि—चारो वर्ण वाले मुनि आदि को आहार देने के योग्य हैं फिर आप इसका निषेध कैसे करते है? अतः जो कुछ अर्थ घटित किया जाय वह शास्त्र संमत और प्रकरणानुसार होना चाहिये। इस अपेक्षा को ध्यान मे लेने पर मूलवाक्यों से 'देने' और 'लेने' की दोनो बातें निम्न प्रकार सुघटित होती है, इससे श्रावक और साधु दोनो का एतद्विषयक कर्त्तव्यकर्म भी स्पष्ट हो जाता है:—

१—तीन वर्णों को ही मुनि दीक्षा दें = तीन वर्ण वाले ही मुनि-दीक्षा लें।

२—चारो वर्ण वाले आहार दे सकते है = मुनि चारों वर्णों से आहार

ले सकते हैं। अर्थात्–जहाँ एक पक्ष के लिए देने की बात होती है वहाँ दूसरे पक्ष के लिए स्वत. ही लेने की बात घटित हो जाती है। इस साधारण बात को भी आप नही जानते दिखते है।

प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १५४ की टीका मे कारु शूद्र के भेद भोज्य शूद्र के विषय मे इस प्रकार लिखा है "तदन्नपान ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते" अर्थात्–जिनका भोजनपान चारो वर्णवाले करते है वे 'भोज्य शूद्र' है ऐसे शूद्रो को ही क्षुल्लक दीक्षा दी जानी चाहिए। इससे साफ फलित होता है कि–भोज्य शूद्र (कारु) जो क्षुल्लक दीक्षा का अधिकारी है वह मुनि को आहार देने के योग्य है–फिर आप कैसे इसका निषेध करते है ? या तो आप इस ग्रथ को मानने से इन्कार कीजिये या फिर अपनी मान्यता मे संशोधन कीजिये।

यह प्रमाण मैने अपने पूर्व लेख मे भी दिया है पर आप उस पर क्यो ध्यान देने लगे, आप तो 'सत्' का अर्थ 'त्रिवर्ण' करके 'सच्छूद्र' को तीन वर्णमे से मानते है जब कि यह प्रमाण आपकी उस निर्मूल मान्यता का स्पष्ट खडन करता है क्योकि इसमे 'भोज्यशूद्र' को कारुशूद्र के भेद मे दिया है इससे आप जो 'सत्' का विचित्र अर्थ करते है वह भी निरस्त हो जाता है

सोचने की बात है 'सच्छूद्र' मे साफ 'शूद्र' शब्द पडा हुआ है जो चौथे शूद्र वर्ण को द्योतित कर रहा है, फिर भी न जाने किस व्यामोहवश उसका गलत अर्थ किया जा रहा है। मै पूछना चाहता हूँ कि–क्या क्षुल्लक दीक्षा भी त्रिवर्ण को ही दी जाती है ? भोज्यशूद्र (चौथे वर्ण) को नही ? प्रायाश्चित्तचूलिका के उपर्युक्त प्रमाण पर ध्यान देने की कृपा करें।

ता० ६-५-५८ के 'जैनदर्शन' मे आपने लिखा है—जो जाति वर्ण से सत् (त्रैवर्णिक) होते हुए भी शूद्रवृत्ति करे वह 'सच्छूद्र' है। सो ऐसी व्याख्या किस ग्रंथ मे दी हुई है ? इस वक्त ऐसे शूद्र कौन है ? बताने का कष्ट करें। शास्त्रकारो ने तो 'सच्छूद्र' को स्पृश्यभोज्य और शोभन शूद्र ही लिखा है कही भी त्रैवर्णिक नही लिखा है। क्या आपका यह 'सच्छूद्र'

शूद्रवृत्ति बदलने पर शूद्रसंज्ञा से मुक्त हो जायेगा ? और फिर त्रिवर्ण में से कौनसे वर्ण को प्राप्त होगा ? और क्या यह मुनि दीक्षा भी ले सकेगा ? वृत्ति से वर्ण बदलने की बात आपको मान्य है क्या ? इन सब बातो का स्पष्ट उत्तर देने का कष्ट करें। इन्द्रनन्दिसहिता मे शूद्र के कारु-अकारु भेद मे सच्छूद्र असच्छूद्र भेद किये है और सच्छूद्र को पात्रदान का अधिकारी बताया है इससे स्पष्टतः 'सच्छूद्र' चौथा शूद्रवर्ण सिद्ध होता है। इन्द्रनंदि-संहिता का वह उल्लेख इस प्रकार है:—

सकृद्विवाहनियता व्रतशीलादिसद्गुणा ।
गर्भाधानाद्युपेता ये सच्छूद्राः कृषिजीविकाः ॥
पात्रदानं तु सच्छूद्रैः क्रियते विधिपूर्वकम् ।
शीलोपवासदानार्चा सच्छूद्राणा क्रियाव्रतैः ॥

इन्द्रलालजी—'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' जो अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये निकाला जा रहा है वह सर्वथा अनुचित है। यदि 'देहस्थिति' से सोमदेवाचार्य का प्रयोजन 'आहार' होता तो वे सीधा योंही क्यो न लिख देते कि–'आहारं नैव कुर्वीत।' परन्तु 'देहस्थिति' का अर्थ यह है कि—ऐसे लोगो के घर पर खडे भी न रहे। 'स्थिति' का अर्थ चलते-चलते ठहर जाना होता है.......।

समीक्षा—आपको हर सही अर्थ मे भी अभिप्राय की पुष्टि नजर आती है पर वह क्या है यह आपने नही बताया। बतावें क्या, कोई हो तब न। कविगण एक अर्थ के लिये अनेक विशिष्ट शब्दो का प्रयोग करते है अगर सोमदेव सीधा ही लिख देते तो श्रुतसागर को इस ग्रंथ की टीका करने की जरूरत ही क्या थी ? सोमदेव ने अनेक ऐसे जटिल प्रयोग किये हैं कि–अच्छे-अच्छे साहित्यशास्त्री भी उनका अर्थ नही लगा पाते है। उदाहरणार्थ—यशस्तिलकचंपू उत्तरखंड पृष्ठ ३८३ देखिये। वहाँ सिंहासन के विशेषण मे लिखा है—'लक्ष्मीश्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे' अर्थात्—'लक्ष्मी' कहिये शास्त्रज्ञान का कारण—'अक्षर'की 'विदर्भगर्भे' कहिये

रचना है गर्भ में जिसके यानी जिस पर 'श्री' अक्षर लिखा गया है ऐसा सिंहासन। कैसा शब्द पाण्डित्य है।

इसी तरह 'देहस्थिति' शब्द है जिसका अर्थ है---जिससे देह बनी रहे यानी 'आहार'। सागारधर्मामृत अ० ६, श्लोक १७ मे भी ऐसा ही 'तनु-स्थिति' शब्द है जिसका देवकीनन्दन जी सा० ने और लालारामजी ने 'आहार' अर्थ किया है। मुनिसुव्रत काव्य (अर्हद्दासकृत) सर्ग ८ श्लोक २३ मे 'तनुस्थिति' तथा उत्तर पुराण पर्व ७३ श्लोक १३२ व पर्व ६८ श्लोक ३७५ मे 'कायस्थिति' शब्द का प्रयोग आहार अर्थ मे ही है।

देहस्थिति या तनुस्थिति शब्द का प्रयोग और भी अनेक ग्रंथों में पाया जाता है पर कही भी 'चलते-चलते ठहर जाना' उसका अर्थ नहीं किया गया है। इसी तरह कोशो के अन्दर 'भोजन' के नामो मे एक 'देह-यात्रा' शब्द है उसका भी यही अर्थ है कि---जिससे देह चले यानी 'आहार'।

अगर सोमदेव को ठहरना अर्थ ही अभीष्ट होता तो वे केवल 'स्थिति' शब्द ही देते जो पर्याप्त था, उनके जैसे महान् शब्दशास्त्री कभी उसके 'देह' शब्द का गलत और व्यर्थ पुछल्ला नही लगाते, इससे साफ जाना जाता है कि---'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' ही है जो प्रकरण सङ्गत भी है उसका अर्थ ठहरना नही है। आशाधर ने भी अनगार-धर्मामृत अ० ५, श्लोक ६६ की टीका मे इस श्लोक को आहार के प्रकरण मे उद्धृत किया है। इस 'शिल्पीकारुकवाक्पण्य' श्लोक के आधार पर ही इन्द्रनन्दि ने 'नीतिसारसमुच्चय' में लिखा है---

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः..................मद्यविक्रयिणो मद्यपान-संसर्गिणश्च न। क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना, एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ३८ से ४० ॥

यहाँ 'देहस्थिति' की जगह 'भोजनं' पद का प्रयोग किया गया है। इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि 'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' ही है।

शिल्पी वेश्या आदि के घर पर मुनि न रुके ऐसा जो आपने लिखा है वह अयुक्त है। परिस्थितिवश या धर्मोपदेश के कारण ऐसे स्थानों पर मुनि के रुकने मे कोई अयुक्तता नहीं है, देखो उत्तरपुराण पर्व ५६, श्लोक २५६ से २६१।

आपने जो 'पतित' शब्द के व्यापक अर्थ 'भ्रष्ट' की जगह संकुचित अर्थ 'जातिपतित' किया है वह भी समुचित नही है।

इन्द्रलालजी—'विधा' शब्द का सीधा अर्थ आहार नहीं है, कटारिया जी द्वारा शब्दकोशों के जो प्रमाण दिये गये है उनसे भी सिद्ध नहीं होता। इन प्रमाणों मे 'विधा' का अर्थ हाथी घोडों का खाद्य अवश्य किया गया है। 'विधा' शब्द 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से बना है—विशेषेण धीयते इति 'विधा'। इससे विधा का अर्थ भोजन भी हो सकता है पर यह प्रकरणोपात्त लक्षित और व्यंजित ही है शक्त नहीं। 'विधाविशुद्धि' का शक्त अर्थ विधि की विशुद्धि ही है, आहार के प्रकरण मे जब विधि की विशुद्धि होगी तो भोजन की शुद्धि बिना कैसे होगी? इसलिये विधि की विशुद्धि से भोजन की शुद्धि व्यंजित है।

समीक्षा—एक शब्द के अनेक अर्थ होते है कौन-से सीधे होते हैं और कौन-से बाँके-टेढे यह आपकी विलक्षणबुद्धि ही जाने। क्षीरस्वामी टीका-गत—'हस्त्यश्वादिभोजने विधा' वाक्य मे 'आदि' शब्द से यह सूचित होता है कि—विशेषरूपेण 'विधा' शब्द हाथी और घोड़ों के भोजन में प्रयुक्त होता है पर सामान्यतया वह सभी के 'आहार' का वाची है 'विशेषरूपेण—जिसके द्वारा शरीरपुष्टि होती है' (विशेषेण धीयतेऽनया इति विधा) इस आपकी व्युत्पत्ति से भी 'विधा' शब्द केवल गज, अश्व के भोजन का द्योतक नहीं है किन्तु वह सभी के भोजन का द्योतक सिद्ध होता है इसलिए यशस्तिलक पूर्वखण्ड पृ० १३८ मे 'विधावृत्ति' का अर्थ श्रुतसागर ने 'आहारप्रवृत्ति' किया है। इसके सिवा और क्या स्पष्ट प्रमाण होगा पर आप न जाने किस दुराग्रह के वशीभूत होकर इस पर

ध्यान देने का कष्ट नही करते, अस्तु । एक और स्पष्ट प्रमाण आप ही की मण्डली के विद्वान् का प्रस्तुत करता हूँ—पण्डित खूबचदजी शास्त्री, वीरसागरजी महाराज की पूजा मे लिखते हैं—विरसभुक्तिरसस्य तपस्विनो, रसवतीषु विधासु न ते स्पृहा । तदपि भक्तिवशेन समर्प्यते बहुविधः सघृत सरसश्चरु ॥ इति नैवेद्यम् ॥ इसमे स्फुटतया 'विधा' शब्द भोजन के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। मै पूछना चाहता हूँ कि—इन प्रमाणो के अर्थ को आप शक्त मानेंगे या रूढ ? अथवा व्यजित ? कुछ भी मानिये 'विधा' का आहार अर्थ दिनकर की तरह स्पष्ट है। आपने जो 'विधा' के आहार अर्थ को लक्षित और व्यजित ही बताया है, अभ्युपगमसिद्धात से उसे मान भी लिया जाय तो लक्षित और व्यजित अर्थ भी तो साहित्यशास्त्र मे उपादेय ही बताये हैं मुख्यार्थ बाधित होने पर वे ही तो वास्तविक अर्थ के द्योतक होते है फिर आप उनकी अवहेलना कैसे करते है ? अभी तो आपको यह पाठ बनारस के श्री मुकुन्दजी और महादेवजी शास्त्री ने पढ़ाया ही है और आप अभी से उसे भूल रहे है ? यशस्तिलकचपू मे ऐसे सैकडो शब्द है जो किसी कोश मे नही पाये जाते यह भी ध्यान मे रखने योग्य है।

'विधाविशुद्धि' नवधा भक्ति का भेद है (विधाविशुधिश्च नवोपचारा) आहार का भेद नही है। अगर विधि की विशुद्धि उसका अर्थ किया जायेगा तो विधि तो सारी ९ ही भक्तियो मे है फिर आहारशुद्धि नाम की ९ वी भक्ति के लिये ही विधि की विशुद्धि कैसे ? किसी भी शास्त्रकार ने ९ वी भक्ति का नाम विधि की विशुद्धि नही दिया है। सभी ने आहारशुद्धि ही दिया है फिर आप सोमदेव जैसे कवि के शब्दो का क्यो गलत और बेतुका अर्थ करके उनके गौरव को विनष्ट करते है ?

'विधा' शब्द का प्रकरणानुसार और कवि सम्मत अर्थ 'आहार' ही है आप जो कभी 'वेतन' कभी 'समृद्धि' और कभी 'प्रकार' करते है वह सर्वथा असङ्गत है।

इन्द्रलालजी—पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री ने भी जो कटारियाजी के ही हैं 'विधा' का अर्थ 'आहार' नही माना है।

समीक्षा—ता० १५-६-५८ को श्री पंडितवर्य फूलचन्दजी सा० का पत्र आया है वे लिखते हैं—श्रीयुत प० रतनलालजी सा० ! सप्रेम जय-जिनेन्द्र, हमारे पत्र के उत्तर में आपके लेख को पढा। सागारधर्मामृत में 'विधा' शब्द का जो अर्थ आपने किया है वह उचित है, उस ओर सचमुच मे हमारा ध्यान नहीं गया था। जिस प्रयोजन से हमने पत्र लिखा था उसका उत्तर मिल जाने से प्रसन्नता है। आपका फूलचन्द्र शास्त्री। मैं यहाँ पाठको को यह बताना चाहता हूँ कि—एक ओर तो बहुश्रुत विद्वान् श्री फूलचन्दजी सा० की भद्रता देखिये जो सही अर्थ का निर्देश करने पर अपनी समझ मे सशोधन कर लेते हैं और दूसरी तरफ श्रीमान् इन्द्रलालजी सा० को देखिये जो विशद विवेचन किये जाने पर भी अपने असद् आग्रह को नही छोडना चाहते, खैर ! अपनी-अपनी परिणति है।

अब मैं समाज के दो और प्रख्यात विद्वानो का इस विषय मे मत प्रस्तुत करता हूँ—

१—ता० २२-६-५८ के पत्र मे सागर से पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य लिखते हैं—श्री प० रतनचन्दजी कटारिया ! सादर जयजिनेन्द्र, आपका 'चत्वारश्च विधोचिता' वाला लेख उत्तम है। आपने इस पर अच्छा विचार किया है। भवदीय—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।

२—ता० ३ जुलाई ५८ के 'वीरवाणी' पत्र में पूज्य प० चैनसुखदासजी सा० लिखते हैं—'दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णा' इत्यादि श्लोक मे 'विधा' शब्द का आहार अर्थ जो केकडी के अध्ययनशील विद्वान् श्री रतनलालजी कटारिया ने किया है वह सर्वथा सगत है यहाँ इसके अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ हो ही नही सकता।'

इन्द्रलालजी—'चतुर्विध' शब्द में यदि 'विधा' शब्द का अर्थ आहार किया जाय तो 'चारआहार' यह अर्थ होगा, चार प्रकार का आहार

यह अर्थ कैसे होगा ? 'प्रकार' फिर किस शब्द का अर्थ होगा ? जब कि उपवास में चार प्रकार के आहार का त्याग अपेक्षित है चार आहार का अर्थ अपेक्षित नही।

समीक्षा—सागारधर्मामृत अ० ७, श्लोक ३९ के 'चतुर्विध' शब्द मे 'चतुर' का अर्थ ४ प्रकार का उसी तरह है जिस तरह निम्नांकित कारिकाओं मे है—

१—चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं ।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०६।

२—चतुराहारविसर्जनमुपवासः ।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०९।

३—चतुराहारहानं यन्निरारम्भस्य पर्वसु ।। हरिवंशपुराण सर्ग ५८, श्लोक १५४।

४—प्रोषधः पर्ववाचीह चतुराहारवर्जनम् ।। धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

५—चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ।।—सागारधर्मामृत अ० ५, श्लोक ३५।

समास मे 'चतुर्' का अर्थ चार प्रकार का, चार बार, या चार जैसा सङ्गत तथा इष्ट हो किया जा सकता है इसमे कोई बाधा नही है। यह बात 'चतुर्गति' 'चतुर्वर्ण' 'चतुर्निकाय' चतुरावर्त्त (चार बार आवर्त्त—चतुरावर्त्तत्रितय—रत्नकरण्डश्रावकाचारे) आदि शब्दो से भी समझी जा सकती है। हिन्दी और संस्कृत दोनो भाषाओ मे 'चार' से 'चार प्रकार' का अभिप्राय भी लिया जाता है इसमे कोई आपत्ति नही है।

सागारधर्मामृत के उक्त 'चतुर्विध' शब्द का अर्थ अगर 'चार प्रकार' का किया जायेगा तो वह 'उपवास' शब्द का विशेषण होने से उसका अर्थ 'चार प्रकार का उपवास' हो जायेगा जो असंगत होगा अतः आशाधर ने जो 'चतस्रो विधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्तं' (चतुर्विधं पद की) इस व्युत्पत्ति मे 'विधा' का 'आहार' अर्थ दिया है वह समुचित है। ऐसा ही उन्होंने अ० ७, श्लोक ४५ के 'प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्' पद मे किया है। इसी बात को अमितगति ने—'चतुर्णां तत्र भुक्तानां त्यागो वर्ज्यश्चतुर्विधः' के रूप में कहा है। संस्कृत भाषा की ये सब

खूबियाँ हैं। शब्दसिद्ध कवि, शब्दों का अनेक प्रकार से प्रयोग करते हैं; हमें उनकी शैलियों और विशिष्टताओं को भली प्रकार समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि—यशस्तिलकचंपू के 'चत्वारश्च विधोचिता:' और 'विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा:' एवं सागारधर्मामृत के 'उपवासं चतुर्विधं' पद मे प्रयुक्त 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' ही है।

अन्त में मैं इन्द्रलालजी सा० से आशा करता हूँ कि वे इस लेख को सदाशयता से ग्रहण करेंगे और 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध:' की उक्ति को सार्थक करेंगे।

मैं यहाँ यह और बताना चाहता हूँ कि–मुख्तार सा० ने जो यशस्तिलक चंपू के 'चत्वारश्च विधोचिता.' पाठ को बदला है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि–उन्हे 'विधोचिता.' का ठीक अर्थ भान नहीं हो सका पर पं० पन्नालालजी सोनी ने तो यशस्तिलकचम्पू उत्तरखण्ड पृ० ३९७ के 'ता. शासनाधिरक्षार्थ कल्पिता: परमागमे' इस श्लोक में 'कल्पिता.' के स्थान पर जान-बूझकर 'मानिता.' पाठ बदल दिया है देखो 'शासनदेवपूजा के अनुकूल अभिप्राय' नाम का ट्रैक्ट पृष्ठ ३२। सोमदेव ने 'कल्पिता.' शब्द देकर व्यंतरादि शासनदेवो को कल्पित ठहराया है—इससे अपनी मान्यता मे खलल पडती देखकर श्री सोनीजी ने 'मानिता' पाठ बदला है ऐसा प्रतीत होता है। आशा है इन्द्रलालजी सा० सोनीजी के इस पाठपरिवर्तन पर भी अपना मत जाहिर कर कुछ निष्पक्षता का परिचय देंगे।

एक रहस्य की बात और बताना चाहता हूँ–वासुपूज्यकृत 'दानशासन' पृ० १२० मे भी यशस्तिलक का यह "विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा:, श्लोक पाया जाता है उसके हिन्दी अनुवादक श्री वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री ने भी वहाँ 'विधाविशुद्धि' का अर्थ आहार की शुद्धि ही किया है। आगे पृ० १२२ मे भी ऐसा ही किया है। ये वर्धमानजी शास्त्री उस जैनदर्शन

के प्रबन्ध सम्पादक और सर्वेसर्वा थे जिसमे इन्द्रलालजी शास्त्री के ये लेख छपे हैं किन्तु उन्होने न तो इन्द्रलालजी के लेखो पर कोई नोट दिया और न कोई अपनी सम्मति इस विषय मे प्रकट की बल्कि इन्द्रलालजी के उन व्यर्थ के लेखो को छापते रहे यह मुट्ठाजो का एक जीवन्त प्रमाण है। विद्वानो के लिए यह शोभाजनक नही।

●

मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव

श्री जिन भगवान की प्रतिमा का अभिषेक घृत-दुग्धादि पंचामृत से करने की रीति मूलसंघ-आम्नाय की नहीं है। मूलसंघ के प्रसिद्ध ग्रंथ आदिपुराण और उत्तरपुराण में कही पर भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख नजर नहीं आता है। भगवज्जिनसेन के आदिपुराण में अनेक जगह पूजाओं का प्रसंग तथा श्रावकों के क्रियाकांड का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। इतना होते भी जिनसेनाचार्य ने उसमें कहीं पर भी पंचामृत से अभिषेक करने का कथन नही किया है। इससे स्पष्टतः यही तथ्य प्रगट होता है कि इन जिनसेन महर्षि की गुरु परम्परा मे भगवान् का अभिषेक पंचामृत से किये जाने की पद्धति कतई नहीं थी।

राजा भरत को अशुभ स्वप्न आये थे। भगवान् से उनका अशुभ फल जानकर भरत ने शांतिकर्म किया था। इसका वर्णन करते हुये आदि-पुराण पर्व ४१ में ऐसा लिखा है--

> शांतिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नारिष्टशातये।
> जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
> गोदोहैः प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः।
> महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजनः ॥८६॥

अर्थात्--भरत ने खोटे स्वप्नोंरूप अरिष्ट (अशुभ सूचक उत्पात) की शाति के लिये जिनेन्द्र का अभिषेक, सत्पात्रों को दान इत्यादि पुण्य कार्यों से शान्ति कर्म किया। तथा गायो को दुहाकर भूमि का सिंचन कराया, महर्षियों की पूजा की, बड़े बड़े दान दिये और प्रेमीजनो को संतुष्ट किया।

कुछ लोग यहाँ के ८६वें श्लोक के प्रथम चरण--'गोदोहैः प्लाविता

धात्री' से गायों के दुग्ध से भगवान् का अभिषेक किया—अर्थ निकालते हैं, वह ठीक नही है। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट 'धात्री' शब्द लिखकर यह व्यक्त किया है कि पृथ्वी पर दूध दुहाया गया था। साथ का 'गोदोहैः' वाक्य भी ध्यान देने योग्य है। इस वाक्य से ग्रंथकार का आशय यह है कि—गायो का दूध बर्तनो मे नही दोहा गया था किन्तु गायो को जमीन पर ही दोहा गया था। इसीलिये उन्होने 'गोदुग्धैः' वाक्य प्रयोग न करके 'गोदोहैः' प्रयोग किया है। बात दरअसल यह है कि–अरिष्ट की शान्ति के लिये इस प्रकार की क्रिया की जाती है। यह क्रिया भरतजी ने उस वक्त जैनविधि के अनुसार की थी। ऐसी क्रिया वैदिकधर्म मे भी वैदिक विधि से की जाती है। इसके लिये वाराही संहिता अध्याय ४६ का यह श्लोक देखिये—

दिव्यमपि शममुपैति प्रभूतकनकान्नगोमहोदानैः।
रुद्रायतने भूमौ गोदोहात् कोटिहोमाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ—शिवालय की भूमि मे गोदोहन और कोटि होम करने से, बहुत सा सुवर्ण, अन्न, गौ और पृथ्वी का दान करने से दिव्य उत्पात भी शात हो जाते है।

श्वेताबराचार्य हेमचंद्र अपने योगशास्त्रस्वोपज्ञ टीका के पृष्ठ ३२० पर लिखते है—

"भूमिगोदोह-करणाद् रिष्ट शातिकमानिनाम्।"

पुष्पदंतकृत अपभ्रंशमहापुराण के पृष्ठ ४३१ मे भी आदिपुराण के इसी कथन का छायानुवाद करते हुये लिखा है कि—

"भूमि दोहकय गोदुहसत्थहि।" (सत्थहिं–सार्थै. समूहैः)

बहुत से ग्वालो ने भूमि पर गायों को दोहा यह इसका अर्थ हुआ। यहाँ के 'गोदुह' शब्द का अर्थ टिप्पणी मे "गोदोहकाः" किया है। जिसका मतलब होता है गायो को दोहने वाले गुवाले। ("गोप गोदुह बल्लवाः" त्रिकांड शेषे)

इन उद्धरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि—रिष्ट शांति के अर्थ ऐसी भी क्रिया होती है जिसमे गायों को जमीन पर दोहकर दूध से जमीन तर की जाती है। इसी क्रिया का उल्लेख आदिपुराण मे किया गया है। उससे जिन प्रतिमा का दुग्धाभिषेक अर्थ निकालना गलत है। आदिपुराण के उक्त दोनो श्लोकों मे दो क्रियाओ का वर्णन किया है। श्लोक नं० ८५ मे तो शांति क्रिया का कथन किया है। जिसमें 'भगवान् का अभिषेक करने और सुपात्रो को दान देना' आदि पुण्य कार्यों के करने को कहा है। और श्लोक नं० ८६ में दूसरी 'भूमि गोदोहन क्रिया' का कथन किया है। इस किया मे भूमि पर गोदूहन करने के साथ ही साथ महर्षियो की पूजा का पाठ करने, सार्धमियों को ठाडे-ठाड़े दान देने और बाघवों को भोजनादि से तृप्त करने को कहा है। इस क्रिया के विषय में पुष्पदंत ने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। अतः अब किसी शंका को स्थान ही नहीं रहा है।

आदिपुराण पर्व ४४ मे जन्म संस्कार के मंत्रों का कथन करते हुये निम्न श्लोक लिखा है—

जन्मसंस्कारमंत्रोऽयं एतेनार्भकमादितः।
सिद्धाभिषेकगंधाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्पृशेत् ॥११०॥

अर्थ—प्रथम ही सिद्ध प्रतिमा के अभिषेक के गंधोदक से सिंचन किये हुये बालक के शिर पर जन्म संस्कार के मंत्रो से स्पर्श करे।

इस श्लोक मे आये "सिद्धाभिषेकगंधांबु" वाक्य से कोई-कोई कहते है कि—जिनसेन ने जिनप्रतिमा का अभिषेक सुगंधित जल से करना बताया है। किन्तु इस वाक्य से गंधाभिषेक अर्थ प्रगट नही होता है। क्योकि यहाँ गन्ध शब्द अभिषेक के पूर्व मे नहीं है; बाद में है। इसलिये यहाँ इसका फलितार्थ ऐसा है कि—जिस स्वाभाविक जल से भगवान् का अभिषेक किया गया है उस जलको यहाँ गन्धोदक नाम से बताया है। इसी के पर्व ३८ श्लोक ९९ मे भी केशवाप क्रिया का वर्णन करते हुये लिखा है कि—"केशों को गंधोदक से गीला कर उनका मुण्डन करना

चाहिये।" भगवान् के शरीर में स्वाभाविक सुगन्ध होती है। अतः अभिषेक में उनके शरीर से स्पर्शित जल भी सुगन्धित बन जाता है। इस भावना को लेकर अभिषेक मे काम आया स्वच्छ स्वाभाविक जल भी भक्तों द्वारा गन्धोदक नाम से कहा जाता है। आचार्य जिनसेन ने भी इसी दृष्टि से यहाँ 'गन्धांबु' शब्द का प्रयोग किया है।

कोई कहे कि—"जिनसेन ने पंचामृत से अभिषेक करना नही बताया तो शुद्ध जल से अभिषेक करना भी तो उन्होंने नहीं लिखा है।" इसका उत्तर यह है कि—अभिषेक का अर्थ है स्नान। स्नान जल से ही किया जाता है यह आबाल गोपाल प्रसिद्ध है। यही प्रसिद्ध अर्थ जिनसेन को इष्ट था इसीलिये उन्होंने यत्र-तत्र सामान्य अभिषेक शब्द का प्रयोग किया है। यदि उन्हे अभिषेकार्थ दधि-दुग्धादि इष्ट होते तो वे विशेष शब्दों का प्रयोग कर सकते थे। और सर्वथा यह भी बात नहीं उन्होंने आदिपुराण में समवशरण के वर्णन मे अभिषेक का कथन करते हुए जल का नाम भी दिया है—

हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चास्तेषां बुध्नप्रतिष्ठिताः।
देवेन्द्राः पूजयन्ति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥९८॥ पर्व २२

अर्थ—उन मानस्तंभों के मूल में स्थित सुवर्णमयी जिन प्रतिमाओं को इन्द्रलोग क्षीरसागर के जल के अभिषेकों के साथ पूजते थे।

यहाँ कृत्रिम जिनबिंबों का जल से अभिषेक करना लिखा है।

इस प्रकार आदिपुराण में न तो दुग्धाभिषेक लिखा है और न गंधाभिषेक लिखा है बल्कि जलाभिषेक लिखा है यह सुस्पष्ट है।

वरांगचरित

जटासिंहनंदि कृत यह वरांगचरित, जिनसेन के आदिपुराण से भी पहिले का कथा ग्रन्थ है। उसमें राजा वरांग ने एक नूतन जिन मन्दिर का निर्माण कराके जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराई थी। उसके महोत्सव का

वर्णन करते हुए पर्व २३ में लिखा है कि—प्रतिष्ठामें काम आने वाली विविध सामग्री को लेकर अपनी रानियों और श्रावकों के साथ राजा वरांग बड़े जुलूस से जिनमन्दिर को गया। वहाँ जिनप्रतिमाका अभिषेकादि विधान किया गया उसी प्रसंग में जिनप्रतिमा को आभूषण पहिनाना भी लिखा है। यथा—

सुवर्णपुष्पैर्विविधप्रकारै रत्नावलीभिस्तडिदुज्ज्वलाभिः।
विभूषणानि प्रतिभूषयन्ती विभूषयामास तदा जिनार्चाम् ॥६७॥ पर्व २३

अर्थ—नाना प्रकार के सोने के बने पुष्पों से और बिजली की तरह चमकते हुए रत्नमयी हारों से उस समय जिनप्रतिमाको भूषित किया गया था। उन आभूषणों से वह प्रतिमा भूषित न हुई। किन्तु प्रतिमा से उल्टे वे आभूषण ही भूषित हो उठे थे।

फिर आगे लिखा है कि राजा ने बहुत काल तक मन्दिर की स्थिति बनी रहने के लिये उस मन्दिर को १०८ गाँव आदि भेट में दिये। इसी पर्व के श्लोक ७ में नांदीमुख का भी उल्लेख है। इत्यदि कथनों से यही ज्ञात है कि यह प्रकरण प्रतिष्ठा विषय का है। मार्के की बात फिर भी यहाँ यह है कि इस प्रकरण मे भी जिनप्रतिमा का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करने का विधान किया है। इसके लिये इस पर्व के निम्न दो श्लोक देखिये—

पयोदधिक्षीरघृतादिपूर्णा, फलाग्रपुष्पस्तबकाऽपिधाना।
घटावली दामनिबद्धकण्ठा सुवर्णकारैर्लिखिता रराज ॥२५॥

अर्थ—जिनके मुख फलों और पुष्पों के गुच्छों से ढके हुये हैं। मालाओंसे जिनके गले बँधे हुए हैं और सुवर्णकारो के द्वारा जिन पर नक्कासी का काम किया हुआ है। ऐसे जल-दही-दूध-घृत से भरे कलश वहाँ शोभायमान हो रहे थे।

अष्टोत्तराः शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्राः कलशाः विशालाः।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः ॥२६॥

अर्थ—वहाँ बडे-बड़े एक हजार आठ कलश ऐसे भी थे जो शीतल जलों से भरे हुए थे और जिनके मुख फूले हुए नील कमलों से ढके हुए थे। वे कलश एकमात्र जिनप्रतिमा के अभिषेक के ही काम में आने के लिये थे।

इस कथन से साफ जाहिर होता है कि ग्रन्थकार ने यहाँ जिनप्रतिमा के अभिषेक के लिए खासतौर से उन्ही कलशो को बताया है जिनमें शीतल जल भरा हुआ था। और जो दुग्धादि से भरे कलश थे वे किसी अन्य ही काम के वास्ते थे। फिर आगे जब अभिषेक किया गया तो श्लोक ६५ मे साफ लिख दिया है कि—"स्वच्छ जल से भरे कलशों से भगवान् का अभिषेक किया।" इस प्रकार जटासिहनन्दि कृत वरांग चरित से पंचामृताभिषेक की कुछ भी सिद्धि नहीं होकर उल्टे जलाभिषेक की ही सिद्धि होती है।

पद्मपुराण

रविषेण का बनाया हुआ संस्कृत का पद्मपुराण एक प्राचीन कथा ग्रंथ है। इसमे पंचामृताभिषेक का विधान है। किन्तु यह पुराण मूलसंघ का नहीं है। क्योंकि जिस प्राकृत पउमचरिय के आधार पर इसकी रचना हुई है वह पउमचरिय मूलसघ का नही है तो उसकी प्रायः छायाको लेकर बना यह पद्मपुराण भी मूलसंघ का कैसे हो सकता है? इसीलिये इसके बहुत से वृत्तान्त मूलसंघ के ग्रन्थो से नही मिलते हैं। पउमचरिय के विषय मे चर्चा इस लेख मे आगे की गई है।

यह तो विदित ही है कि—मूलसंघ के प्रसिद्ध आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण मे लिखी रामकथा से रविषेण की रामकथा नही मिलती है। इसे भी छोड़िये, अन्य भी त्रेषठशलाकापुरुषों की कथायें जो जिनसेन गुणभद्र ने लिखी है, उनमे की कितनी ही कथाओं से भी रविषेण की लिखी कथायें भिन्न रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के तौर पर

यहाँ हम पद्मपुराण और उत्तरपुराण की भिन्न कथाओं के कुछ नमूने पेश करते हैं—

दोनो ही पुराणों मे सगर चक्रवर्ती के पूर्व भव लिखे हैं किन्तु वे एक दूसरे से बिल्कुल ही नही मिलते है। इसके अलावा पद्मपुराण मे सगर के ६० हजार पुत्रो मे से दो को छोड बाकी सबो का नागकुमार देव के कोप से भस्म हो जाना लिखा है। किन्तु उत्तरपुराण मे इन सब पुत्रो का मोक्षगमन बताया है।

सजयत मुनि की कथा भी दोनो पुराणो मे एक समान नही है। पद्मपुराण मे यह कथा ५ वें पर्व मे और उत्तर पुराण मे ५९ वें पर्व में लिखी है वहाँ देखिये।

पद्मपुराण पर्व ८ में हरिषेण चक्रवर्ती को कापिल्यनगर के राजा सिंहध्वज और राणी वप्रा का पुत्र बताया है और उसकी मोक्षगति लिखी है। जबकि उत्तरपुराण पर्व ६७ मे हरिषेण को भोगपुर के राजा पद्मनाभ और राणी ऐरा का पुत्र लिखा है और उसे सर्वार्थसिद्धि गया बताया है।

पद्मपुराण पर्व २० मे मघवा चक्रवर्ती को सौधर्म स्वर्ग गया बताया है। जबकि उत्तरपुराण मे उसकी मोक्षगति लिखी है। इसी तरह सनत्कुमार चक्री की गति पद्मपुराण मे तीसरा स्वर्ग लिखी है और उत्तरपुराण मे उसकी मोक्षगति लिखी है। उत्तरपुराण मे सुभौमचक्री को महाशुक्र स्वर्ग से आया लिखा है जबकि पद्मपुराण पर्व २० मे उसे जयत विमान से आया लिखा है। सुभौम चक्री नरक गया है। जयत विमान से आने वाला नरक नही जा सकता है। अत पद्मपुराण का कथन अयुक्त है। विष्णुकुमार मुनि की कथा में हस्तिनापुर के राजा महापद्म ने अपने पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा ली थी। इस महापद्म को पद्मपुराण पर्व २० मे चक्रवर्ती लिखा है। उत्तरपुराण में इसे चक्रवर्ती नही बताया है। इसके अलावा पद्मपुराण मे एक मजेदार बात यह लिखी है कि—

"एक बार भरतचक्री मुनियो के अर्थ बनाया भोजन लेकर समव-

शरण में गया और वहाँ मुनियों को भोजन जीमने के लिये प्रार्थना करने लगा। तब भगवान् ऋषभदेव ने कहा—"हे भरत ! मुनि लोग उद्दिष्ट भोजन नहीं लेते है। और न तेरी ऐसी रीति ही मुनियो को आहार देने की है।" यह वर्णन पद्मपुराण पर्व ४ श्लो० ९१ आदि में है। पद्मपुराण के इस कथन के पढने वालों को हँसी आये बिना न रहेगी कि क्या भरत जी को इतना भी बोध नहीं था जो वे मुनियो को जिमाने के लिये भोजन सामग्री लेकर भगवान् के समवशरण मे ही पहुँच जावें। जब कि श्रेयांस के द्वारा दिये गये मुनिदान को वे अच्छी तरह जान चुके थे। बात वास्तव में कुछ ऐसी जँचती है कि जिस पउमचरिय से यह वृत्तात नकल किया गया है उस पउमचरिय के बनानेवाले का ऐसा संप्रदाय होगा जिसमें केवली भगवान् आहार ग्रहण करते है। आहार वे समवशरण मे भी जीमते होगे इस कथा से यही संभावना प्रगट होती है। और इसीलिये भरतजी के सम्बन्ध मे ऐसी कथा लिखी गई है कि वे भोजन लेकर समवशरण मे पहुँच गये।

इसी तरह निर्वासित अंजना जब सखी के साथ वनमे घूमती हुई गुफा मे पहुँची। उस प्रसंग मे पद्मपुराण पर्व १७ श्लो० २६८ मे "गंधर्व देव ने मद्यपान किया" लिखा है। देव तो मद्यपान क्या दूसरा पेय भी नही पी सकते हैं। क्योंकि उनके मानसिक आहार होता है। फिर यहाँ ऐसा कैसे लिखा ?

इसी प्रकार भगवान् महावोर का सौधर्मेन्द्र की शंका निवारणार्थ अपने अंगूठे से मेरु को कंपित करना। (पर्व २ श्लो० ७६) युगलिया से हरिवंश की उत्पत्ति बताना (पर्व २१ वाँ) देशभूषण कुलभूषण केवलीद्वयका साथ-साथ चलना, दोनो का एक ही स्थान पर बैठना, दोनों के साथ ही केवलज्ञान होना। राम और कृष्ण के ६४ हजार वर्षों का अन्तर बतलाना (पर्व १०९ श्लो० २८) श्री रामचन्द्रजी के शरीर का न्यग्रोधपरिमंडल नाम का संस्थान बताना ।

इत्यादि अनेक अमान्य कथनों के देखने से कहना पड़ता है कि रविषेण कृत पद्मपुराण ग्रन्थ मूलसंघ का नहीं है। आधुनिक भट्टारक इन्द्रनन्दि तक ने रविषेण को प्रामाणिक आचार्य नहीं माना है। उन्होंने नीतिसार ग्रन्थ में जहाँ प्रामाणिक आचार्यों की सूची लिखी है उसमें रविषेण का नाम नहीं दिया है। तथा आशाधरजी ने भी अपने ग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीकाओं में ग्रन्थान्तरों के प्रचुर पद्य 'उक्तं च' रूप से प्रस्तुत किये हैं उनमें वे जिनसेन के आदिपुराण के तो अनेक उद्धरण देते हैं परन्तु पद्मपुराण का एक भी उद्धरण नहीं देते हैं। और प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय २ में आशाधरजी ने "महर्षिपर्युपासन" लिखा है उसमें वे वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्रादि अनेक आचार्यों के तो नाम लिखते हैं किन्तु रविषेण का उल्लेख नहीं करते है। इससे साफ विदित होता है कि पं० आशाधरजी की दृष्टि में भी रविषेण की गणना मान्य आचार्यों में नहीं थी। ऐसी हालत में पद्मपुराण में पंचामृताभिषेक का विधान पाया जाना मानने योग्य नहीं है।

हरिवंशपुराण

इस पुराण के कर्ता जिनसेन हैं। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न हैं। और उनके समय में ये भी हुए है। इस हरिवंश पुराण में भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये जिनसेन भी मूलसंघी नहीं है। ये तो खुद ही अपने को पुन्नाटसंघी लिखते है। पुन्नाटसंघ काष्ठासंघ का ही एक उपभेद है। काष्ठासंघ की गणना जैनाभासों में की जाती है। काष्ठासंघ में चार गच्छ है—माथुरगच्छ, बागड़गच्छ, लाड-बागड़गच्छ, और नंदीतट गच्छ। 'भट्टारक संप्रदाय' पुस्तक के पृ० २५७ में लिखा है कि—"लाडबागड़ गच्छ के आचार्य पहिले पुन्नाट अर्थात् कर्णाटक प्रदेश में बिहार करते थे इसलिये इसका नाम पुन्नाट था। बाद में उनका प्रमुख कार्य क्षेत्र लाडबागड़ अर्थात् गुजरात प्रदेश हुआ इसलिये

इसका नाम लाडबागड गच्छ पड़ा। इसी का संस्कृत रूप लाटवर्गट है।" भट्टारक संप्रदाय के लेखाक नं० ६३१ मे जो पट्टावली का संस्कृत उद्धरण दिया है उससे प्रकट होता है कि पुन्नाटगच्छ का ही नामांतर लाटवर्गट गच्छ है। "सूरत और उसके जिले के मूर्तिलेख संग्रह" नाम की पुस्तक के पृ० ७४ पर नंदीतटगच्छ की पट्टावली छपी है उसमे भी काष्ठासंघ के चार गच्छो मे पुन्नाट गच्छ का नाम लिखा है। जैनशिलालेखसंग्रह भाग २ पृ० १३७ मे जिन अर्ककीर्ति मुनि को शक सं० ७३५ में ग्राम, दान मे दिया है उनको यापनीय—नन्दिसंघ पुंनागवृक्ष मूलगणका बताया है। संभवतः पुंनागवृक्ष मूलगण का ही रूपांतर पुन्नाट संघ है। इस उल्लेख से पुन्नाटसंघ यापनीय संघ का कोई उपभेद भी हो सकता है। यह तो सब जानते ही है कि—यापनीय संघ, काष्ठासंघ, द्राविड़संघ आदि जैनाभास माने जाते है। हरिवंश पुराण मे जिनसेन ने इन तीनो ही संघो के आचार्यों का स्मरण किया है। द्राविडसंघ के स्थापक वज्रसूरि, काष्ठासंघ के प्रवर्तक कुमारसेन और यापनीय संघ के आचार्य विशेषवादी इन तीनो ही का स्मरण हरिवंश पुराण मे किया है। यापनीयसंघ के आचार्य शाकटायन अपने एक सूत्र मे कहते है कि—

"उपविशेषवादिनं कवय" सारे कवि विशेषवादी से नीचे है। शाकटायन के इस कथन से सिद्ध होता है कि "विशेषवादी" यापनीय थे जिनका स्मरण हरिवंशपुराण मे किया गया है। इन जैनाभासों का स्मरण करने से यही फलितार्थ निकलता है कि हरिवंशपुराण के कर्ता को ये आचार्य मान्य थे। और स्वयं भी वे इन जैनाभासो मे से कोई थे। ऐसी हालत मे हरिवंश पुराण मे लिखा पंचामृताभिषेक का कथन मूलसंघ आम्नाय का नही हो सकता है। यही नही अन्य भी कई एक वर्णन हरिवंशपुराण के मानने योग्य नहीं हैं। जैसे पउमचरिय और और पद्मपुराण मे भगवान् के गर्भकल्याणक में देवों का आगमन नहीं लिखा है। ऐसे ही हरिवंशपुराण में भी महावीर ऋषभदेव, मुनिसुव्रत

और नेमिनाथ का चरित्र लिखते हुए कहीं भी गर्भकल्याणक में देवों का आगमन नहीं लिखा है। हरिवंशपुराण सर्ग ६५ में लिखा है कि—"बलदेव मरकर ब्रह्मस्वर्ग गया वहाँ अवधिज्ञान से उसने जाना कि मेरा भाई कृष्ण नरक में गया है। अतः उसे लाने के लिये वह नरक में जाकर कृष्ण के जीव को वहाँ से उठा लाने लगा पर वह उसे ला न सका। तब कृष्ण के जीव के कहने से बलदेव के जीव ने भरतक्षेत्र में अपनी और कृष्ण की मूर्तिको पूजा का प्रचार लोगों में करवाया।" हरिवंशपुराणका यह कथन कुछ ठीक मालूम नहीं देता है। जिसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो रखा है ऐसा कृष्ण का जीव भी सम्यग्दृष्टि था और ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र बलदेव का जीव भी सम्यग्दृष्टि था। ऐसे दोनों ही सम्यग्दृष्टियों ने अपनी प्रतिष्ठा बढाने को ऐसे मिथ्यातत्त्व का प्रचार किया यह बात बुद्धि मे बैठने जैसी नहीं है।

इसी पुराण के सर्ग १८ श्लोक १६४ आदि में वसुदेव के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"सौधर्मेन्द्र ने नंदिषेण मुनि के वैय्यावृत्य की बहुत प्रशसा की जिसे सुनकर उनकी परीक्षा के लिये एक देव रोगी मुनिका वेष बनाकर नंदिषेण मुनि के पास आया। नंदिषेण ने उस मुनिको देखकर उससे पूछा कि तुम्हारी इच्छा कौन सा भोजन करने की है ? उत्तर मे मुनिरूप धारी देवने कहा कि—पूर्व देश के चावलों का सुगंधित भात, पाचाल देश की मूंग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देश की गायों का तपाया हुआ घृत, कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन इन सब के खाने की मेरी इच्छा है। यह सुन नंदिषेण मुनि ने वह सब उक्त आहार लाकर गोचरी बेला मे उस कृत्रिम मुनि को दे दिया।" इसी सर्ग के श्लोक १३८ में लिखा है कि—उन नन्दिषेण मुनि को बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त थी। उन सिद्धियों के प्रभाव से वैयावृत्य में काम आनेवाली वस्तुयें जो चाहते वे उन्हें प्राप्त हो जाया करती थीं।

मुनियों के आचार शास्त्रों में निर्ग्रंथ मुनियों की जैसी कुछ चर्या लिखी है उसकी संगति इस कथा से कैसे बैठ सकेगी यह एक सोचने की चीज है। नवकोटि से विशुद्ध आहार लेनेवाले जैन मुनि के लिए क्या ऐसा करना योग्य कहा जा सकता है? क्या इसमे उद्दिष्ट दोष नही आता? और क्या कोई जैन मुनि इच्छानुसार भोजन पाने की बात कह सकते है? इस कथा से तो ऐसा जाहिर होता है कि रोगी मुनि चाहे कितना ही आचारहीन क्यों न हो तब भी उसकी वैयावृत्य करनी। और वैय्यावृत्य करनेवाले मुनि को भी यह छूट हो जाती है कि वह भी इस वैय्यावृत्य के काम मे जो चाहे सो कर ले–उसे आचारशास्त्र के नियमों के पालने की भी जरूरत नही है। चाहिये तो यह कि रोगी मुनि अपना चरित्र अधिक से अधिक निर्दोष बनावे ताकि रुग्णावस्था मे न जाने कब प्राण छूट जावें तो उसका असंयम अवस्था मे मरण न होने पावे। किंतु हरिवंश पुराण मे इस कथा के द्वारा उल्टा उपदेश दिया गया है।

यह एक शास्त्रप्रसिद्ध बात है कि—पदवीधारी नारद सब नरकमे जाते है। किन्तु इसके पर्व ६५ श्लो० २४ मे नारद को मोक्ष गया लिखा है। श्वेतांबरमत मे भी नारद की मोक्षगति लिखी है।

हरिवंशपुराण मे यह भी लिखा है कि—बाहुबली केवलज्ञानी हुये बाद भगवान् ऋषभदेव के समवशरण मे जा वहाँ के सभासद हुये। देखो सर्ग ११ श्लोक १०२ वाँ और सर्ग १२ श्लोक ३८ वाँ।

इत्यादि कथनों से हरिवंशपुराण मूलसंघ का ग्रंथ मालूम नहीं होता है इसीसे भट्टारक इंद्रनंदि ने रविषेण की तरह इन जिनसेन का भी नाम प्रामाणिक आचार्यों की लिस्ट मे नहीं दिया है। और आशाधर ने भी इनका कही कोई उद्धरण नही दिया है।

यशस्तिलक चंपू

श्री सोमदेव का बनाया यह एक चंपूग्रंथ है। यह ग्रंथ वि० सं० १०१६ में बना है। इसके उत्तर खंड मे श्रावकाचार का कथन है। उसमे जिना-

भिषेक की विधिका वर्णन करते हुये पंचामृत से अभिषेक करना बताया है। इसके कर्ता सोमदेव भी मूलसंघ के मालूम नहीं होते हैं। परमार्थतः वे कोई शायद यथार्थ मुनि भी नहीं थे। हमारे यहाँ मध्यकाल में ऐसे कुछ गृहत्यागी साधुओं का समुदाय हो चुका है जो भट्टारक कहलाते थे। वे चादर ओढते थे, पालकी छत्र चामरादि का उपयोग करते थे। कूवाँ खेत आदि जागीरें रखते थे, मंत्रतंत्र चिकित्सा आदि करते थे, मठमंदिर में रहते थे और प्रतिष्ठा आदि कार्य करते थे। वे राजाओं की तरह श्रावक-गृहस्थों पर शासन करते हुये बडे ठाठ-बाट से रहते थे। वे सब ठाठ-बाट उनके बाद उनके पट्टाधिकारी शिष्यों को मिलता था। इसलिये राज्यसिंहासन की तरह उनकी गद्दियों के भी उत्तराधिकारी बनते थे। इतना होते भी ये भट्टारक अपने को मूलसंघी कहते हुये मुनि, यति, मुनींद्र, आचार्य आदि नामों से पुकारे जाते थे। क्योंकि इस पद को ग्रहण करते हुये प्रारम्भ में ये नग्न होकर ही दीक्षा लेते थे। उपरांत हीन संहनन और तत्काल पंचों की आज्ञा की आड़ लेकर वस्त्रादि धारण कर लेते थे। सुनते हैं आहार भी वे नग्न होकर ही लेते थे। पीछी कमंडलु रखकर श्वेतांबर यतियों से अपनी भिन्नता व्यक्त करते थे। इनमें से कोई कोई भट्टारक नग्न भी रहते थे। और नग्न रहकर भी पालकी आदि का उपयोग करते हुए दूसरे 'सब ठाठ उनके सवस्त्र भट्टारकों जैसे ही रहते थे। यह बात श्वेताम्बरों के साथ जो कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था उससे प्रकट होती है। यह शास्त्रार्थ वि० सं० ११८१ में गुजरात के राजा सिद्धराज की सभा मे श्वेताम्बर यति देवसूरि के साथ दिगम्बर भट्टारक कुमुदचन्द्र ने किया था। उस शास्त्रार्थ का हाल बताते हुए श्वेताम्बरों ने कुमुदचन्द्र के बाबत लिखा है कि—"वे पालकी पर बैठे थे, उनपर छत्र लगा हुआ था, और वे नग्न थे।" पहले पहले इस प्रकार के भट्टारक नग्न ही रहते होंगे। वस्त्रधारण संभवतः बाद में चला हो। इसके भी पहले कुछ ऐसे मुनि भी विचरते थे जो वस्त्र, पालकी, छत्र

चामरादि का उपयोग तो अपने लिये नहीं करते थे। किन्तु जागीरी रखना, मंत्र-तंत्र चिकित्सा करना, मठ-मन्दिर मे आराम से रहना और उनका प्रबन्ध करना, राजसभाओ मे जाना और राजाओ द्वारा सन्मान पाने की आशा से उनको प्रभावित करना आदि चरित्र उनका भी था। ये साधु महर्षि कुंदकुंद की बताई हुई मुनिचर्या का पालन पूर्णरूप से नही करते हुये भी उनके अन्य सिद्धान्तो को प्रायः मान्यता देनेसे अपने को मूलसंघी ही कहते थे। ऐसे साधुओंने मुनिचर्या के साथ साथ श्रावको की पूजापद्धतिको भी विकृत किया है। जो पूजा पद्धति अल्पसावद्यमय, वीतरागता की द्योतक, और निरर्थक आडम्बरो से मुक्त होनी चाहिये थी उनके स्थान मे इन्होने उसे बहुसावद्यमय व सरागताकी पोषक बनाकर उसमे व्यर्थके आडम्बर भर दिये। दही, दूध घृतादि खानेके पदार्थों को स्नान के काम मे लेना, मिट्टी गोबर राख से भगवान् की आरती करना, ये व्यर्थ के आडंबर नहीं तो क्या है? जब से मंदिरोपर इन भट्टारको के अधिकार हुए हैं तभी से पूजापद्धति मे ये आडंबर बढ़े है। इस प्रकारके विधान सोमदेवने भी यशस्तिलक मे लिखे हैं। अतः इन सोमदेव की गणना भी ऐसे ही नग्न भट्टारको मे की जा सकती है। इनको जैन मन्दिर की स्थिति बनाये रखने के लिए राजा अरिकेसरी ने एक ग्राम भी दान दिया था। इस दान के ताम्रपत्र की प्रतिलिपि श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी कृत "जैन-साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ के पृ० १९३ पर छपी है। अगर ये सोमदेव शास्त्रोक्त जैनमुनि होते तो न तो इनको ग्राम दान मे दिया जाता और न ये उसे स्वीकार ही करते। तिलतुष मात्र का भी प्रसंग न रखनेवाले और अहर्निश ज्ञान ध्यान तपमें लवलीन रहनेवाले दिगम्बर जैन ऋषियोको इस प्रकार के दानो से कोई प्रयोजन नही है। इन्ही सोमदेव ने एक नीतिवाक्यामृत नामक ग्रन्थ भी बनाया है। वह ग्रन्थ संस्कृत-गद्यसूत्रों मे रचा गया है। उसकी टीका में अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं। जो बातें सूत्रों में कही गयी है वे ही बातें टीका में दिये उद्धरणों में हैं।

इससे सहज ही ज्ञात होता है कि—सोमदेव ने यह ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर बनाया है। जैनधर्मसे इस ग्रन्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे जैन ग्रन्थ कहना ही नहीं चाहिए। इसीलिए इसकी टीका भी किसी अजैन विद्वान्ने की है। मूल ग्रन्थ के कुछ नमूने देखिये—

"औरसः क्षेत्रजो दत्तः कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध ऐते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ॥४१॥" प्रकीर्णक समुद्देश।

इसमें लिखा है कि औरस आदि ६ पुत्र पैत्रिक धन के और पिण्डदान के अधिकारी होते हैं। (यहाँ पिण्डदान वैदिक रीति को बताता है।)

सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं यायात् ॥७३॥"

"दिवसानुष्ठान समुद्देश"

अर्थ—बछडेवाली गाय की परिक्रमा देकर धर्मोपासन को जावे।

(यहाँ गाय की पूज्यता बताई है।)

"य. खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥२२॥"

"विवाहसमुद्देश"

अर्थ—जो विधिपूर्वक ग्राम्य भोजन और सासारिक व्यवहारको त्याग-कर स्त्रीसहित या स्त्रीरहित बन मे रहता है वह वानप्रस्थ कहलाता है। बन में वहाँ वह ग्राम्य भोजन को छोड़ जंगली फलफूल खाता है।

(वानप्रस्थ का यह स्वरूप जैनशास्त्र सम्मत नही है)

इस प्रकार के कथन एक मान्य जैनाचार्य की कलम से लिखे जाने के योग्य नही है। क्योकि सत्य महाव्रत का धारी जैनमुनि जिसके लिये जैनशास्त्रो मे अनुवीचिभाषण यानो सूत्रानुसार बोलने की आज्ञा दी है वह–इस प्रकार का सूत्रविरुद्ध वचन मुँह से भी नही बोल सकता है तब ऐसी साहित्यिक रचना तो भला वह कर ही कैसे सकता है? यहाँ यह बात ध्यानमे रखने की है कि सोमदेव ने इस नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ की प्रशस्ति मे यशस्तिलक का उल्लेख किया है। इसलिए यशस्तिलक की

रचना के बाद नीतिवाक्यामृत की रचना हुई है। अतः सोमदेव की प्रामाणिकता जब नीतिवाक्यामृत के निर्माण के वक्त हो नहीं रही तो उसके पहिले यशस्तिलक के निर्माण के वक्त कैसे हो सकती है ?

सोमदेव ने आधुनिक मुनियों के बाबत जो उद्‌गार प्रकट किये है वे भी विचारणीय हैं। वे लिखते है—

> यथा पूज्यं जिनेन्द्राणा रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
> तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥१॥
> भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
> ते सन्तः संत्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥२॥
> सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः ।
> बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥३॥

अर्थ—जैसे लेप पाषाणादि मे बनाया हुआ अर्हतो का रूप पूज्य है वैसे ही वर्तमान काल के मुनि भी पूजनीय है। (चाहे वे आचार भ्रष्ट ही हों) क्योकि बाहर मे उनका रूप भी वही है जो प्राचीनकाल के मुनियो का था।

भोजनमात्र देने में तपस्वियों की क्या परीक्षा करनी ? वे अच्छे हो या बुरे, गृहस्थ तो दान देने से ही शुद्ध हो जाता है।

गृहस्थ लोग अनेक आरम्भ करते रहते हैं जिनमे उनका बहुत प्रकार से धन खर्च होता रहता है। अतः साधुओं को आहार देने में उन्हे सोच विचार नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार सोमदेव ने आचारहीन मुनियों को मानने की प्रेरणा की है। सोमदेव के वक्त भी ऐसे सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ श्रावक थे जो परीक्षा करके देव शास्त्र गुरुओं को मानते-पूजते थे, यहां तक कि शिथिलाचारी जैन मुनियों को आहारादि देने में भी संकोच करते थे। उन्हीं को लक्ष्य में रख कर सोमदेव ने ऐसी बातें कही हैं। सोमदेव ने जो इस विषय में दलीलें

दी हैं वे सब निःसार हैं। प्रथम श्लोक में हेतु दिया है कि—"जैसे पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र की आकृति पूजनीय है उसी तरह वर्तमान के मुनियों की आकृति भी पूर्व मुनियों जैसी होने से वह भी पूजनीय है" सोमदेव का ऐसा लिखना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ जो दृष्टान्त दिया है वह विषम है। पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र की आकृति की तरह पाषाणादि में अंकित मुनि की आकृति भी पूजनीय है ऐसा लिखा जाता तो दृष्टान्त बराबर बन जाता और वह ठीक माना जा सकता था। किन्तु यहाँ अचेतन से चेतन की तुलना की गई है इसलिये दृष्टान्त मिलता नहीं है। प्रत्युत उल्टे यह कहा जा सकता है कि—जैसे सचेतन किसी पुरुष विशेष को जिनेन्द्र की आकृति का बनाकर उसे पूजना अनुचित है। उसी तरह सचेतन पुरुषविशेष मे केवल मुनि की आकृति देखकर—मुनि जैसे उसमें गुण न हो तब भी उसे पूजना अनुचित है। प्रथा भी ऐसी ही है कि—जैनी लोग पार्श्वनाथ जी की मूर्त्ति को तो पूजेंगे परन्तु किसी आदमी को पार्श्वनाथ मानकर नहीं पूजेंगे। लोक में भी यह देखा जाता है कि—किसी देश के राजा की मूर्ति बनाकर सम्मान करे तो राजा उसपर खुश होता है। किन्तु किसी अन्य ही पुरुष को उस देश का राजा मानकर उसका सम्मान करे तो वे राजा द्वारा दंडनीय होते हैं। इस तथ्य के विपरीत लिखकर सचमुच ही सोमदेव ने बड़ा अनर्थ किया है। इन्हीं सोमदेव ने इसी ग्रन्थ के "शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः।" इस श्लोक ४८१ में कहा है कि—किसी शुद्ध वस्तु में परवस्तु का संकल्प होता है। जैसे कन्या मे पत्नी का संकल्प। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान के अशुद्ध मुनियों मे पूर्व मुनियों का संकल्प भी नहीं हो सकता है। इस तरह सोमदेव का कथन पूर्वापर विरुद्ध है।

दूसरे श्लोक में सोमदेव ने कहा है कि—"अच्छा हो या बुरा कैसा भी साधु हो गृहस्थ को तो दान देने से मतलब है। दान का फल तो अच्छा ही लगेगा गृहस्थ तो दान देने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है।"

ऐसा लिखना भी ठीक नहीं है। अगर ऐसा ही हो तो अन्य जैन शास्त्रों में सदसत् पात्र का विचार क्यो किया गया है? और क्यों कुपात्र को दान देने का निषेध किया है? अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १० में लिखा है कि—

जैसे कच्चे घड़े में जल का भरना बेकार है उसी तरह कुपात्र को दान देना निष्फल है। (श्लो० ५१) जैसे सर्प को दूध पिलाना विष का उत्पादक है उसी तरह कुपात्र को दान देना दोषों का उत्पादक है। (श्लो० ५३) असंयमी को दान देकर पुण्य चाहना वैसा ही है जैसे जलती अग्नि मे बीज डालकर धान्य होने की वांछा करना। (श्लो० ५४) कड़वी तूम्बी मे रक्खे दूध की तरह कुपात्र मे दिया दान किसी काम का नही रहता है। (श्लो० ५६) लोहे की बनी नाव की तरह कुपात्रदानी संसार समुद्र से नही तिर सकता है। (श्लो० ५७) जो अविवेकी फल की इच्छा से कुपात्रो को दान देता है वह मानो वन मे चोरो के हाथों में धन देकर उनसे उस धन के पुनः मिलने की आशा करता है। (श्लो० ६०) अपात्र दान का फल पाप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। बालू रेत के पेलने से खेद के सिवा और क्या फल मिल सकता है? (११ वा परिच्छेद श्लो० ६०)

तत्त्वार्थसूत्र मे भी "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष." इस सूत्र मे बताया है कि—जैसा-जैसा द्रव्य, विधि, दाता, और पात्र होगा वैसा-वैसा ही उसका फल मिलेगा।

श्लो० ३ में सोमदेव ने लिखा है कि—"यो भी गृहस्थ के अनेक खर्च होते रहते है। तब साधु को भोजन जिमाने मे क्यो सोच विचार करना?" ऐसा लिखना भी योग्य नहीं है। साधारण आदमी को भोजन जिमाने और जैनमुनि को भोजन जिमाने में बड़ा अन्तर है। जैनमुनि को पूज्य गुरु मानकर जिमाया जाता है और जिमाने के पूर्व नवधा भक्ति की जाती है। इसलिये यहाँ सवाल आर्थिक खर्च का नहीं आता पूज्य-अपूज्य का

आता है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आचारहीन मुनि की पूजा-वंदना कैसे कर सकता है? क्योंकि आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने दर्शन पाहुड़ में ऐसा कहा है—

अस्संजदं ण वंदे तत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्जो।
दोण्णिवि होंति समाणा एगोवि ण संजदो होदि ॥२६॥

अर्थ—जो सकल संयमी नहीं है गृहस्थ है उसकी वंदना न करें। और जो वस्त्र त्याग कर नग्न साधु बन गया है परन्तु सकल संयम का पालन नहीं करता है वह भी वंदने योग्य नहीं है। दोनों ही यानी गृहस्थ और मुनिवेषी एक समान हैं। दोनों मे एक भी संयमी—महाव्रती नहीं है। भावार्थ—गृहस्थ तो वैसे ही वंदना योग्य नहीं है किन्तु वह मुनि भी वंदना योग्य नहीं है जो नग्नलिंग धारण करके सकल संयम की विराधना करता है।

यहाँ पर आचार्य श्री कुंदकुंद ने शिथिलाचारी मुनियों की वंदना तक न करने का आदेश दिया है। तब एक सम्यग्दृष्टि ऐसे श्रमणाभासों की नवधा भक्ति तो कर ही कैसे सकता है? नवधा भक्ति में तो वंदना के साथ पूजा भी करनी होती है। और चरण धोकर उनका चरणोदक भी मस्तक पर चढाना पड़ता है।

जहाँ सोमदेव ने "यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां" श्लोक कहकर केवल मुनि के वेषमात्र को ही पूजनीय बताया है वहाँ कुंदकुंद ने उसका निषेध किया है। कुंदकुंद का कहना है कि—मुनिजन उसी हालत में पूजनीय हैं जबकि वे मुनि के चरित्र का यथावत् पालन करते हों। इस तरह सोमदेव और कुंदकुंद के उपदेश मे बहुत बड़ा अन्तर है। सोमदेव ने तो जो नाम निक्षेप से मुनि हो उसे भी मानने को कहा है।

उन्होंने यशस्तिलक मे लिखा है कि—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो, न लभ्यो वा यथागमम्।

अर्थ—चित्त जहाँ चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। ऐसे कलिकाल मे आज जिनलिंग के धारी मुनियों का दिखाई देना आश्चर्य है। इस काल में शास्त्रोक्त चरित्र के धारी मुनि कोई एक हो तो हो वर्ना नहीं ही है।

सोमदेव ने ऐसा लिखकर अपने समय में यथार्थ मुनियों को अलभ्य बताया है इसलिये इस कलिकाल में जैसा भी जैन मुनि मिल जावे उसी को मान लेना चाहिये ऐसा आदेश दिया है। मतलब कि किसी देश में हंस नही हो तो काग को ही हंस मान लेना चाहिये ऐसा सोमदेव का कथन है किन्तु इस काल मे यथार्थ मुनियों का मिलना अलभ्य ही हो ऐसा भी सर्वथा नहीं है। सोमदेव के वक्त भी श्रेष्ठ मुनियों का सद्भाव था। देवसेन ने वि० सं० ९९० में दर्शनसार ग्रंथ बनाया और सोमदेव ने वि० सं० १०१६ में यशस्तिलक बनाया। इससे देवसेन भी सोमदेव के वक्त हुये हैं। और इसी काल में गोम्मटसार के कर्ता नेमिचंद्र और उनके सहवर्ती वीरनंदी, इंद्रनंदी, कनकनंदी और माधवचंद्र हुये हैं। ये सब माननीय आचार्य सोमदेव के समय के लगभग ही हुये हैं। इतना होते भी सोमदेव ने जो उस वक्त के मुनियों के अस्तित्व में आश्चर्य प्रगट किया है और यथार्थ मुनियो को अलभ्य बताया है। उससे ऐसा झलकता है कि—सोमदेव स्वयं यथार्थ मुनि नही थे और न उनमे इतना साहस था जो वे यथार्थ मुनि बन सकें इसीलिये उन्होने ऐसा लिखा है सो ठीक ही है जो जैसा होता है वैसा ही बलबूते को प्ररूपणा करता है।

यशस्तिलक मे राजा यशोधर का चरित वर्णन करते हुये चंडमारी देवी के अनेक पशु युगल और मनुष्य युगल को बलि चढाने का वृत्तांत लिखा है। यह चंडमारी देवी कोई धातुपाषाण की बनी देवी की मूर्ति नही थी। किन्तु देवलोक की कोई देवी थी। ऐसा यशस्तिलक चंपू उत्तरार्द्ध पृष्ठ ४१८ (निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित) के निम्न श्लोक से प्रगट होता है—

रत्नत्रयेन समलङ्कृतचित्तवृत्ति सा देवतापि गणिनो महमारचय्य ।
द्वीपान्तर-द्युनग-जातजिनेन्द्रसद्यवन्दारुताऽनुमतकामपरायणाऽभूत् ॥

अर्थ—उस समय वह चण्डमारी देवी भी सुदत्ताचार्य गणी की पूजा करके रत्नत्रय कहिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से जिसकी चित्तवृत्ति अलङ्कृत हो गई है ऐसी वह देवी द्वीपान्तरो, स्वर्गों और पर्वतो पर स्थित जिन-चैत्यालयो की बन्दना में प्रवृत्त हुई ।

दिगम्बर जैनागम के अनुसार देवलोक की कोई भी देवी मदिरा मास का सेवन करती नही । तब फिर उक्त चडमारी देवी अपने लिये जीवो की बलि किस अर्थ चढ़वाती थी । ऐसा करने का उसका अन्य कारण क्या था ? जिसका स्पष्टीकरण सोमदेव ने कथा भर मे कहीं भी क्या नही किया ? कथा पढनेवाले को तो यही प्रतिभासित होता है कि—जैनधर्म मे भी देवलोक की देवो मांस खाती है और तदर्थ जीवोकी बलि चढवाती है ।

इत्यादि बातो से सोमदेव मूलसघ के ऋषि मालूम नही होते हैं । अत उनका पचामृताभिषेक लिखना मानने योग्य नही है ।

वसुनन्दि

इनका बनाया हुआ प्राकृत मे श्रावकाचार ग्रन्थ है । जिसका प्रचलित नाम वसुनन्दिश्रावकाचार है । उसमें भी पचामृताभिषेक का उल्लेख है । ये वसुनन्दि भी मूलसघ के नही हैं । इन्होने इस श्रावकाचार की प्रशस्ति मे अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—श्रीनन्दि-नयनन्दी-नेमिचन्द्र और वसुनन्दी । इस परम्परा मे वसुनन्दी ने अपने दादा गुरु का नाम नयनन्दी लिखा है । एक नयनन्दी वे भी हुये हैं जिन्होने अपभ्रंश भाषा में सुदर्शन चरित रचा है । उसमें वे अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार देते हैं—नन्दनन्दी-रामनन्दी-माणिक्यनन्दी-नयनन्दी । इस परम्परा मे नयनन्दी ने अपने गुरु का नाम माणिक्यनन्दी लिखा है । और श्रीनन्दी का परम्परा

में कहीं कोई नाम ही नहीं है। जब कि वसुनन्दी ने नयनन्दी के गुरु का नाम श्रीनन्दि लिखा है। अतः सुदर्शन चरित के कर्ता नयनन्दी वसुनन्दी के दादा गुरु नहीं हो सकते हैं। एक श्रीनन्दि वे हुये है जिनके शिष्य श्रीचन्द्र ने पुराणसार ग्रन्थ और उत्तरपुराण तथा पद्मचरित पर टिप्पण लिखा है। पद्मचरित पर टिप्पण श्रीचन्द्र ने वि० सं० १०८७ मे धारा नगरी के राजा भोजदेव के राज्य में लिखा है। इस टिप्पण की प्रशस्ति में श्रीचन्द्र ने अपने गुरु श्रीनन्दि को बलात्कारगण का आचार्य बताया है। (देखो भट्टारक संप्रदाय पुस्तक पृ० ३९) वसुनन्दी ने अपनी गुरु परम्परा में जिन श्रीनन्दि का नाम लिखा है संभवतः वे श्रीनन्दी और श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनन्दी दोनों अभिन्न हो सकते है। बलात्कारगण के भट्टारक अपने को कुन्दकुन्द की परम्परा के बतलाया करते है। वसुनन्दी ने भी श्रावकाचार की प्रशस्ति में ऐसा ही लिखा है। बलात्कारगण यह नाम भट्टारको का चलाया हुआ है। पूर्वाचार्यों ने कहीं भी अपने को बलात्कारगण का नहीं लिखा है। इस गण का उल्लेख विक्रम की ११-१२ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता है। इस गण के साधु ११-१२ वी शताब्दी मे ही भूमिदान लेने लग गये थे। जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृ० २२० मे बलात्कारगण के आचार्य केशवनन्दी को वि० सं०११०५ में दिये भूमिदान का उल्लेख है। उसी दूसरे भाग के पृ० ३३६ में बलात्कारगण के आचार्य पद्मप्रभ को वि० सं० ११४४ में दिये गए दान का उल्लेख है। विक्रम की १४ वीं सदी से इस गण के साथ "सरस्वतीगच्छ" नाम भी जुड़ने लगा है। इसी बलात्कारगण में कारंजा शाखा, लातूर शाखा के भट्टारक हुये हैं तथा उत्तर शाखा के भट्टारक हुये हैं। उत्तर शाखा के भट्टारकों मे वि० सं० १३८५ के लगभग पद्मनन्दि भट्टारक हुए। जिनके तीन शिष्य–शुभचन्द्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति हुये। शुभचन्द्र से दिल्ली जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चली। सकलकीर्ति से ईडर की गद्दी चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की गद्दी चली। इस प्रकार

ये भट्टारक जो अपने को मूलसंघी और कुन्दकुन्द के अन्वय के बतलाते हैं ये सब बलात्कारगण में हुए हैं। इसी बलात्कारगण में लगभग विक्रम की १२ वीं शताब्दी में श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनन्दी हुये है ये भी भट्टारक ही थे। अतः इन्होंने जो पंचामृताभिषेक लिखा है वह मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

इस वसुनन्दि ने श्रावकाचार में कुछ अन्य भी कथन विलक्षण किये है। जैसे दूसरे गुणव्रत स्वरूप (गाथा २१५ में) ऐसा बताया है—"जिस देश मे जाने से व्रतों का भंग होता हो उस देश मे जाने का त्याग करना इसे देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत कहते है।" यह कथन अन्य पूर्ववर्ती सभी जैन शास्त्रों से विलक्षण है। उनमें "दिग्व्रत मे की हुई मर्यादा के भीतर किसी काल प्रमाण से अल्पक्षेत्र की मर्यादा करके उससे बाहर न जाने को देशव्रत कहा है।" यह त्याग उत्कृष्ट है, ऐसा त्यागी सीमा के बाहर महाव्रती के तुल्य हो जाता है और इसका किसी अन्य व्रतों में अन्तर्भाव भी नहीं होता है। यह जुदा ही एक स्वतंत्र व्रत है किन्तु वसुनन्दि ने देशव्रत का जैसा स्वरूप लिखा है उससे वह एक स्वतंत्र व्रत सिद्ध नही होता है। जहाँ जाने से अहिंसादि व्रतों की विराधना होती हो ऐसे स्थान मे नहीं जाना यह तो अणुव्रतों का ही पालन हुआ ऐसा प्रयास तो अणुव्रती हरदम करेगा ही उसे ही एक जुदा देशव्रत बतलाना निरर्थक है, स्वकल्पित है और पूर्वाचार्यों की परिपाटी से भिन्न है।

इसी तरह वसुनन्दी ने (गाथा ३१२ में) देशव्रती को सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने का अनधिकारी बताया है। इनका कथन भी ठीक नहीं है। लौकातिक देवों को शास्त्रों मे द्वादशांग के ज्ञाता बताये हैं और ये सब देव चतुर्थ गुणस्थानी होते है। जब कि चौथे गुणस्थान के धारी अंगपूर्वों के पाठी हो सकते है तो पंचम गुणस्थानी देशव्रती क्यों नही हो सकते हैं? आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण पर्व ३९ मे श्रावकीय क्रियाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि—पाँचवी पूजाराध्य क्रिया में श्रावक

अंगों के अर्थ समूह को सुनता है। और छठवीं पुण्ययज्ञ क्रिया में पूर्वों के अर्थको सुनता है। (श्लोक ४९-५०) ऐसी अवस्था में वसुनन्दी का यह लिखना कि "देशव्रती श्रावक को सिद्धान्ताध्ययन का अधिकार नहीं है।"—उचित नहीं है। उसका समर्थन पूर्वाचार्यों के शास्त्रों से नही होता है।

वसुनंदि ने उक्त श्रावकाचार की गाथा २३४ में तीनों पात्रों को नवधा भक्ति से आहार देने का आदेश दिया है। और इन्हों ने ही गाथा २२२ में अविरत सम्यग्दृष्टि को पात्र का तीसरा भेद—जघन्य पात्र बताया है। तो क्या आहार देते समय जघन्य पात्र की भी नवधा भक्ति की जावे ? नवधा भक्ति में वसुनंदी ने गाथा २२६ आदि में प्रणाम-अर्चन और पात्र के पादोदक, को मस्तक पर चढाना भी बताया है। तो क्या जघन्य पात्र का भी अर्चनादि किया जावे ? वसुनंदि का ऐसा कथन बिल्कुल अयुक्त है। कहाँ तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द की यह आज्ञा कि "एक मुनि-लिङ्ग ही वंदने योग्य है। इसके सिवा अन्य लिङ्ग जो दर्शन ज्ञान से सहित हो पर वस्त्रधारी हो ऐसे क्षुल्लकादि भी वंदना योग्य नहीं है—इच्छाकार योग्य है।" (सूत्रपाहुड़ गाथा १३) और कहाँ वसुनंदीका उक्त कथन। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में वसुनंदि की तरह कथन है परन्तु वहाँ संक्षिप्त कथन होने से ऐसा लिखा गया है। वसुनंदी ने तो दान का ५० गाथाओं में विस्तार से कथन किया है फिर उन्होने यहाँ ऐसा सामान्य कथन क्यों किया ? बात यहाँ कुछ ऐसी ज्ञात होती है कि भट्टारक साधुओं की गणना उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्रों में से किस भेद में की जावे ? ये भट्टारक न तो पूरी मुनि की क्रियायें पालते हैं और न प्रतिमाधारी श्रावकों की ही। फिर भी ये अपना आदर सम्मान मुनियो जैसा ही चाहते हैं इसी अभिप्राय से वसुनंदी ने यहाँ गोलमाल उपदेश दे दिया है और भी कथन इनके विलक्षण हैं। जैसे इन्होंने श्रावक के बारह व्रतों के अतीचार ही नहीं लिखे हैं। जब कि इनसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने अतीचार लिखे

हैं। इन वसुनंदी का समय १२ वीं शताब्दी है। जो श्रीनंदी श्रीचन्द्र के गुरु हुए वे ही नयनंदी के गुरु हुए। श्रीचन्द्र का समय ऊपर वि० सं० १०८७ बता आये हैं। और चूँकि वसुनंदी के नयनंदी दादागुरु होते हैं इस हिसाब से वसुनंदी का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी हो सकता है।

अभयनन्दी

इनका बनाया संस्कृत में लघुस्नपन अपर नाम'श्रेयो विधान नाम का अभिषेक पाठ है। यह अभिषेक पाठ संग्रह में छपा है। इसमें पंचामृत से अभिषेक करने की विधि लिखी है। ये कब हुए व इनकी गुरु परिपाटी क्या थी इसका कोई पता इस पाठ पर से नहीं लगता है। जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति के कर्त्ता भी अभयनंदी हुए हैं जिनका समय वि० की ८-९ वी शताब्दी के बाद और १२ वीं शताब्दी से पूर्व का माना जाता हैं। लघुस्नपन के टीकाकार भावशर्मा ने इन्हीं महावृत्तिकार अभयनंदी को लघुस्नपन का कर्त्ता माना है। परन्तु ऐसा मानने मे कोई आधार नही लिखा है। लघुस्नपन की टीका का रचना काल राजस्थान ग्रंथ सूची द्वि० भाग के पृ० १४ मे वि० सं० १५६० लिखा है। महावृत्तिकार अभयनंदी से लगभग पाँचसौ से भी अधिक वर्षों बाद होने वाले भावशर्मा के बिना आधार लिख देने मात्र से ही ऐसा कैसे मान लें कि महावृत्तिकार अभयनंदी ही इस लघुस्नपन के निर्माता है। गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र के गुरु का नाम भी अभयनंदी है। सेठ माणिकचन्दजी जौहरी का जीवन चरित्र पृ० २८ में प्रतिमा लेख छपा है उसमें भी वि० सं० १३८७ के समय के एक अभयनंदी का उल्लेख हुआ है। और भी अभयनंदी हुए होंगे। इन सब में कौन अभयनंदी लघुस्नपन के कर्त्ता हैं ऐसा कोई निश्चित नहीं है। ऐसी अवस्था में बिना पुष्ट प्रमाण के नेमिचन्द्र के गुरु अभयनंदी को या महावृत्ति के

कर्त्ता अभयनंदी को लघुस्नपन का कर्त्ता कह देना उच्छृंखलता है। इसलिए जब तक लघुस्नपन के कर्त्ता अभयनंदी का समय पूर्ण निश्चय न हो जाये तबतक वह ग्रंथ और उसमें लिखा पंचामृत का विधान मूलसंघ का नहीं माना जा सकता है।

पूज्यपाद और गुणभद्र

अभिषेक पाठसंग्रह मे इन दोनों के बनाये प्रतिष्ठापाठ भी छाप रक्खे हैं। इन दोनों पाठो में भी पंचामृत से अभिषेक करने का विधान लिखा है। ये पूज्यपाद और गुणभद्र वे आचार्य नही हैं जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि और उत्तरपुराण ग्रंथ रचे है। किन्तु ये दूसरे ही पूज्यपाद-गुणभद्र हुए हैं जो भट्टारक थे और आशाधर के बाद हुए है। इस सम्बन्ध मे हम ने इसी पुस्तक में जुदे लेखों मे विस्तृत विचार किये है, उन्हे देखें।

देवसेन

इनका बनाया प्राकृत मे भावसंग्रह नाम का ग्रंथ है। उसमें भी पंचामृत का उल्लेख है। ये देवसेन वे प्राचीन देवसेन नहीं हैं जिन्हो ने दर्शनसार, आराधनासार आदि ग्रंथ लिखे हैं। भावसंग्रहकार देवसेन तो आशाधर के बाद हुए है। इनके सम्बन्ध में भी हम ने अपने विस्तृत विचार इसी पुस्तक में अन्यत्र प्रकट किये है, वहाँ देखें।

मल्लिषेण

इनका बनाया संस्कृत मे नागकुमार चरित है। जिसमे पंचामृत का उल्लेख है। ये मल्लिषेण मन्त्रवादी मठपति साधु थे। इन्होने "भैरव पद्मावती कल्प" नाम का मन्त्र शास्त्र लिखा है जो छप चुका है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण आदि के प्रयोग लिखे है। कई प्रयोग बड़े घृणित है। एक यथार्थ जैनमुनि अपनी कलम से ऐसा नहीं लिख सकता है। ये विक्रम की १२ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। इनके गुरु का

नाम जिनसेन था। एक दूसरे मल्लिषेण थे हुए हैं जो 'मलधारि' पद के धारी थे और जिनकी समाधि श्रवणबेल्गोल मे वि० स० ११८४ मे हुई थी। ऐसा मल्लिषेणप्रशस्ति में लिखा है। ये अजितसेन के शिष्य थे और बडे भारी योगी जितेन्द्रिय थे। इस तरह दोनों मल्लिषेण भिन्न-भिन्न थे। एक अजितसेन के शिष्य थे और दूसरे जिनसेन के शिष्य थे। इस प्रकार नागकुमार चरित के कर्त्ता मल्लिषेण मूलसघ के नही है।

वर्द्धमान कवि

इनका बनाया हुआ सस्कृत मे वराग चरित्र है। उसमे भी पचामृत का विधान है। इनके शिष्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका ग्रथ बनाया है। इनके समय वि० स० १४४२ मे विजयनगर मे एक जिनमन्दिर बनाया गया था। उसके शिलालेख मे धर्मभूषण की गुरुपरपरा (भट्टारक सप्रदाय पृ०-४२) इस प्रकार लिखी है—धर्मभूषण-अमरकीर्ति, अमरकीर्ति के दो शिष्य सिंहनदि और धर्मभूषण। सिंहनदि के वर्द्धमान और वद्धमान के धर्मभूषण। ये ही धर्मभूषण न्यायदीपिका के कर्ता हैं। इन्होने अपने गुरु का नाम वद्धमान लिखा है और अपने को अभिनव-धर्मभूषण लिखा है। इनकी गुरु परपरा मे दो धर्मभूषण और हुए है इसलिये उनसे पृथक् बोध कराने के लिये इन्होने अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण दिया है। इनके विषय मे विशेष जानना चाहे तो वीरसेवामदिर से प्रकाशित न्यायदीपिका की प्रस्तावना देखना चाहिये। इनका समय उक्त शिलालेख मे वि० स०१४४२ लिखा है। इन धर्मभूषण के गुरु वद्धमान का विन्ध्यगिरि के शिलालेख मे उल्लेख हुआ है। (देखो भट्टारक सप्रदाय पृ०-४२) वहाँ इनका समय वि० स० १४२० लिखा है। उक्त विजयनगर के शिलालेख में इन वर्द्धमान को बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ का लिखा है। और वरागचरित के कर्ता वद्धमान भी अपनेको बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ का लिखते हैं अत शिलालेख वाले वर्द्धमान और वरागचरित के कर्ता

वर्द्धमान दोनो एक ही हैं जिनका समय वि० स० १४२० है। इनको हरिवशपुराणकार जिनसेन से पूर्व का बताना भारी ऐतिहासिक अज्ञानता है और दूसरो को धोखा देना है। हम ऊपर लिख आये हैं कि बलात्कार-गण और सरस्वती गच्छ का नामोल्लेख भट्टारको के साथ होता है। अत ये वर्द्धमान भी भट्टारक ही हुये है। उक्त विन्ध्यगिरि के शिलालेख मे इन वर्द्धमान की गुरु परम्परा मे वसतकीर्ति का नाम आया है। इन बसत-कीर्ति के बाबत श्रुतसागर ने षट्पाहुड की टीका पृ० २१ मे लिखा है कि—"इन्होने नग्न मुनियो को यह आदेश दिया है कि—चर्यादि के लिये जब वे बस्ती में आवें तो तट्टीसारादि (आवरणविशेष) से शरीर को ढक कर आवें यह अपवाद वेष है।" ऐसा शिथिलाचार का उपदेश देने वाले वसतकीर्ति की शिष्यपरम्परा में वर्द्धमान कवि हुये हैं जिन्होने वराग-चरित्र बनाया है। अत ये मूलमघ के ऋषि नही थे, भट्टारक थे।

पचामृताभिषेक के समर्थन मे और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उनमे से कितने ही तो स्पष्टत भट्टारकीय ही है और कुछ गृहस्थ या ब्रह्मचारी विद्वानो के हैं अत सब अमान्य है। उनका कुछ इतिहास यहाँ बता देते है—

(१) ब्रह्मसूरि—ये १६ वी शताब्दी मे हुये है। गृहस्थ विद्वान् हैं। नेमिचद्रकृत प्रतिष्ठातिलक ग्रथ की प्रशस्ति के अनुसार इन नेमिचद्र के ब्रह्मसूरि मामा लगते हैं।

(२) एकसधि—ये भट्टारक थे। इनका समय १४ वीं शताब्दी है। इनके विषय में इस पुस्तक मे अन्यत्र भी लिखा गया है।

(३) सोमसेन—त्रिवर्णाचार के कर्ता। ये सेनगण के भट्टारक थे। इनका समय १७ वी शताब्दी है। इनके त्रिवर्णाचार की परीक्षा श्री मान-नीय प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'ग्रथ परीक्षा, भाग ३' मे की है उसमें इनका विशेष हाल देखें

(४) सावयधम्म दोहा—इसे योगीद्रदेवकृत श्रावकाचार बताया

जाता है। कोई इसे देवसेन कृत बताते हैं। ये सब मिथ्या कल्पनायें हैं। दरअसल यह भट्टारक लक्ष्मीचंद्र की १६ वीं शताब्दी की रचना है। यह ग्रंथ हमारे केकड़ी नगर से प्रकाशित हुआ है। जिसका संपादन और हिन्दी अनुवाद स्थानीय विद्वान् पं० दीपचंद जी पाड्या शास्त्री ने किया है। इस ग्रंथ के कर्ता के विषय मे विशेष हाल उसकी प्रस्तावना में देखें।

(५) सकलकीर्ति—श्रीपाल चरित और रत्नत्रयाभिषेक पाठ के कर्ता। एक प्रसिद्ध सकलकीर्ति वे हुये जो भट्टारक पद्मनंदि के शिष्य थे। और ईडर की गद्दी के भट्टारक थे। ये वि० की १५ वीं शताब्दी में हुये हैं। जिस श्रीपाल चरित में पंचामृत का अभिषेक लिखा है उसके कर्ता ये ही सकलकीर्ति हैं या दूसरे? एक दूसरे सकलकीर्ति वि० सं० १६०५ में भी हुये हैं। (देखो भट्टारक संप्रदाय में लेखाक ४७१) क्या पता उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ता ये दूसरे सकलकीर्ति ही हों?

(६) उमास्वामी श्रावकाचार। इस श्रावकाचार में पंचामृत का विधान है। इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रसिद्ध आचार्य उमास्वामी का रचा हुआ कहते हैं जो सरासर गलत है और अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये धोखा देते है। इस ग्रंथ मे यशस्तिलक, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, आदि-पुराण, पं० मेधावी, पं० आशाधर के श्लोक पाये जाते है। अतः यह हरगिज भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वामी की कृति नहीं है। किसी ने उमास्वामी के नाम पर यह ग्रंथ रचकर अपना कुत्सित आम्नाय चलाने का प्रयत्न किया है। कुन्दकुन्द श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार, भद्रबाहुसंहिता आदि और भी ग्रंथ इस किस्म के दिगंबर जैनधर्म में मिलते हैं जिनकी श्री मुख्तार सा० पं० जुगलकिशोर जी ने ग्रंथ-परीक्षा के भागों मे अच्छी कलई खोली है उन्हें देखना चाहिये।

(७) मंडलाचार्य धर्मचन्द्र और कवि दामोदर :—

धर्मचन्द्र ने गौतमचरित्र लिखा और कवि दामोदर ने संवत् १७२७ में चंद्रप्रभचरित्र लिखा। इन दोनों ग्रंथों में पंचामृत का विधान है।

गौतमचरित्र की प्रशस्ति के अनुसार धर्मचंद्र जी मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती-गच्छ के भट्टारक थे और अपने गुरु श्रीभूषण की मारोठ की भट्टारकीय गद्दी पर बैठे थे। इन्होंने वि० सं० १७२६ में गौतम चरित्र की रचना की थी। कवि दामोदर इन्ही के शिष्य थे किन्तु पट्टधर शिष्य नहीं थे। संभवतः वे गृहस्थ-विद्वान् ही मालूम पड़ते हैं।

(८) वामदेव—संस्कृत-भाव-संग्रह के कर्ता। इन्होंने पंचामृत का उल्लेख किया है। ये संभवतः कायस्थ माने जाते हैं। इनके बनाये भाव-संग्रह मे संहिता का अर्द्ध-श्लोक उद्धृत हुआ है। वह श्लोकार्द्ध इन्द्रनंदि संहिता का है। संहिताकार इन्द्रनन्दि पं० आशाधर जी के बाद हुये हैं। यह निश्चित है। अर्थात् आशाधर के बाद इन्द्रनन्दि हुये और इन्द्रनन्दि के बाद वामदेव हुये अतः वामदेव पंद्रहवीं सदी के विद्वान् माने जा सकते हैं।

(९) अर्यपार्य्य :—जिनेंद्र कल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठा शास्त्र के कर्ता। इन्होंने भी पंचामृत लिखा है। उक्त प्रतिष्ठाशास्त्र विक्रम सं० १३७६ में बना है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार अर्यपार्य्य करुणाकर श्रावक के पुत्र थे। माता का नाम अर्काम्बा था। अर्यपार्य्य ने अपने को कहीं मुनि नहीं लिखा है। अतः ये गृहस्थ विद्वान् थे।

(१०) इन्द्रनन्दि :—अभिषेक पाठ के कर्ता। इस पाठ मे पंचामृत से अभिषेक करना लिखा है। इन ही इन्द्रनन्दि ने जिनसंहिता ग्रन्थ बनाया है जिसमे आचमन, तर्पण, गोदान और पिण्डदान आदि कई विधि-विधान लिखे हैं। इससे यह स्पष्टतः भट्टारक मालूम पड़ते हैं। ब्रह्मसूरि, सोमसेन आदिकों ने जो त्रिवर्णाचार ग्रन्थ बनाये है उन सबका आधार प्रायः यही जिनसंहिता रही है। ये १४वी शताब्दी में हुये हैं। इनके विषय में इसी पुस्तक मे "त्रिवर्णाचारों और संहिता ग्रन्थों का इतिहास" शीर्षक लेख में भी बहुत कुछ लिखा गया है, उसे पढ़ें।

(११) नेमिचन्द्र कृत अभिषेक पाठ में भी पंचामृत का विधान है। ये वे ही नेमिचन्द्र हैं जिन्होने प्रतिष्ठा-तिलक ग्रन्थ बनाया है। ये ब्रह्मसूरि के

मानजे लगते हैं। ऊपर ब्रह्मसूरि का समय १६वीं शताब्दी बताया है। वही समय इनका भी है। ये स्थिरकदंब नगर के निवासी थे। उक्त प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति मे इन्होंने अपना बहुत सा कौटुम्बिक परिचय दिया है। इनको राजा द्वारा चँवर, छत्र, पालकी भेंट में मिली थी अतः ये भट्टारकीय पण्डित मालूम पड़ते हैं।

(१२) पं० उदयलाल जी काशलीवाल ने "संशयतिमिरप्रदीप" नामक एक पुस्तक लिखी है। उसके पृष्ठ ५८ पर नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार ग्रन्थ की गाथा देकर भगवान् का चन्दन से अभिषेक करना सिद्ध किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

चन्दणाहिसेयणच्चणसंगीयवलोय मंडवेहिं जुदा।
कीडण-गुणण गिहेहिं य विसाल वरपट्ट सालाहिं ॥१००६॥

इसका अर्थ उदयलाल जी ने ऐसा किया है—

"चन्दन करके जिन-भगवान का अभिषेक, नृत्य, संगीत का अवलोकन, मन्दिरो मे योग्य क्रीड़ा का करना और विशाल पट्टशाला करके।"

इस प्रकार उदयलालजी ने इस गाथा का प्रमाण देकर त्रिलोकसार द्वारा चन्दन से अभिषेक करने का विधान बताया है परन्तु इस गाथा मे "चन्दणाहिसेय" वाक्य गलत है। उसकी जगह "वंदणाहिसेय" वाक्य चाहिये। यही वाक्य टोडरमलजी कृत वचनिका मे है और माधवचन्द्राचार्य की सस्कृत टीका में भी यही वाक्य है। पं० टोडरमलजी ने इस गाथा का अर्थ ऐसा किया है—

"बहुरि ते चैत्यालय बन्दना मंडप कहिये, सामायिकादि करने के स्थान, स्नान करने के स्थान, नृत्य करने के स्थान, संगीत साधने के स्थान अवलोकन करने के साथ तिनकरि संयुक्त है............।"

संस्कृत टीकाकार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। इतना स्पष्ट होते भी और त्रिलोकसार की संस्कृत टीका और वचनिका मौजूद होते हुए

भी पंडित उदयदयालजी ने वंदना की जगह चन्दना पाठ क्यों लिखा ? कारण स्पष्ट है। अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये जब उन्हें भट्टारकीय ग्रन्थों के सिवा अन्य कोई मान्य आचार्यों का प्रमाण नहीं मिला तो इसके सिवा वे और क्या करते ? यही रवैय्या आज के विपक्षी पण्डितो का भी है। वे भी मान्य आचार्यों के प्रमाण नही मिलने से इन भट्टारकों को ही मूलसंघ के महान् आचार्य बतला-बतला कर उनके ही ग्रन्थो के प्रमाण दिया करते है और कभी-कभी तो ये पण्डित लोग किन्हीं भट्टारकों के नाम पूर्वाचार्यों के नाम जैसे हों तो उन्हें प्राचीन आचार्य बतला कर भोले लोगों को धोखा दिया करते है। जैसा कि ये उमास्वामिश्रावकाचार, शिवकोटि की रत्नमाला, पूज्यपादश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, देवनन्दि-गुणभद्र के अभिषेक पाठ आदि ग्रन्थों के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये सब ग्रन्थ उन्हीं प्राचीन आचार्य उमास्वामि, पूज्यपाद, शिवकोटि आदि के बनाये हुए हैं। इसी तरह ब्रह्म० सूरजमलजी जो श्रीशिवसागरजी महाराज के कृपापात्र ब्रह्मचारी हैं उन्होने स्वरचित "स्त्री द्वारा जिनाभिषेक" पुस्तक मे अपभ्रंश-महापुराण के कर्ता कवि पुष्पदंत को महासिद्धांत के कर्ता भूतबलि पुष्पदंत बतला कर धोखा दिया है। इस तरह की चालाकी से किसी विषय का निर्णय करना योग्य नही है। ये पण्डित तो जो है सो है ही 'किन्तु आजकल के कतिपय नग्नभेषी जैन-साधु भी पन्थ-व्यामोह में पडकर बिना पंचामृताभिषेक के देखे गोचरी पर ही नही उतरते है। उनको जानना चाहिये कि उनकी ऐसी पद्धति से समाज मे अशांति का वातावरण बनता है। वीतराग मार्ग के पथिक होकर श्रावकीय क्रियाओं में भाग लेकर समाज में विद्रोह पैदा करना मुनियों का काम नही है। कलिकाल न करे सो थोड़ा है। ऐसों को ही लक्ष्य करके शास्त्रों में एक पुरातन श्लोक लिखा मिलता है—

पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

अर्थ :—चरित्र-भ्रष्ट पंडितों ने और बठर (ज्ञान शून्य) साधुओं ने भगवान् जिनचन्द्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है ।

(१३) गजांकुश:—इनका बनाया अभिषेक पाठ 'अभिषेक पाठ संग्रह' में छपा है । इनको इस कृति पर से कुछ पता नहीं लगता है कि ये कब हुये और इनकी गुरु परम्परा क्या थी ? ऐसा लगता है कि शायद हस्तिमल्ल का ही अपरनाम गजांकुश हो । ये हस्तिमल्ल वे ही हैं जो १४वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुये हैं जिन्होने संस्कृत में 'विक्रान्त-कौरव' आदि नाटकों की रचना की है । इन्होने प्रतिष्ठा ग्रन्थ भी लिखा है इससे ये क्रियाकांडी विद्वान् भी जान पड़ते हैं । ये गृहस्थ पण्डित थे । अर्यपार्य्यकृत प्रतिष्ठा-शास्त्र की प्रशस्ति मे लिखा है कि पांडय राजा के मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के कारण इनका 'हस्तिमल्ल' नाम पडा । इसका पर्याय नाम गजाकुश भी हो सकता है ।

प्रभाचन्द्राचार्य कृत एक क्रियाकलाप ग्रन्थ है । कहते हैं कि उसके तीसरे अध्याय में गजाकुश का उक्त अभिषेक पाठ संगृहीत है किन्तु जैन-सन्देश शोधाक १ जून १९६१ मे क्रियाकलाप का परिचय लेख छपा है उसमे इसके दो अध्याय ही बताये हैं । सामायिक पाठ की टीका प्रभाचन्द्र कृत है उसमे अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत के पद्य पाये जाते हैं । इससे ये प्रभाचन्द्र पं० आशाधर के बाद हुये है । सम्भवतः गजाकुश-अभिषेक पाठ के टीकाकार प्रभाचन्द्र भी आशाधर के उत्तरकाल के ही होंगे ।

(१४) अभिषेक पाठ संग्रह मे एक अभिषेक क्रम नाम का पाठ छपा है उसमें गजांकुश आदि कुछ ग्रन्थकारों के इस विषय के श्लोकों का संकलन किया गया है । यह संकलन पं० आशाधर ने किया है ऐसा कहना गलत है क्योंकि इस संकलन मे पं० आशाधर जी के नित्यमहोद्योत के भी कुछ पद्य संगृहीत है । इसलिये इस पाठ का संकलन आशाधर जी के बाद किसी अन्य विद्वान् ने किया है । पं० आशाधरजी तो स्वतन्त्र ग्रन्थ

रचने की योग्यता रखते थे। उनके द्वारा इस तरह के संकलन की संभावना नहीं की जा सकती है। और जब कि उन्होंने इस विषय का नित्यमहोद्योत नामका एक स्वतंत्र ग्रंथ बना दिया है तो फिर उनको ऐसे पाठों के संकलन की क्यों जरूरत हुई ?

(१५) शुभचन्द्रकृत सिद्धचक्राभिषेक अभिषेक पाठ संग्रह में छपा है। ये ईडर गद्दी के भट्टारक सकलचन्द्र की शिष्य परम्परा मे हुये है। धुलेव के श्री ऋषभदेव जी के मंदिर मे सं० १६१२ मे इन शुभचंद्र द्वारा प्रतिष्ठित कई मूर्तियाँ है अतः ये भट्टारक थे। यथार्थ दिगंबर ऋषि मूर्तियों की प्रतिष्ठा नहीं कराया करते हैं।

(१६) सकलभूषण—षट्कर्मोपदेश रत्नमाला ग्रन्थ के कर्ता। इस ग्रन्थ में पंचामृत लिखा है। यह ग्रन्थ वि० स० १६२७ मे बना है। उक्त शुभचंद्र भट्टारक के शिष्य सुमतिकीर्ति के ये सकलभूषण गुरुभाई लगते है।

(१७) सिंहनन्दि—णमोकार कल्प (पचनमस्कारदीपिका) के कर्ता। इस ग्रन्थ में पंचामृत लिखा है। इसको रचना वि० सं० १६६७ में हुई है। इनके गुरु भट्टारक शुभचन्द्र थे। ऊपर लिखे शुभचंद्र से ये शुभचन्द्र जुदा है। वे शुभचन्द्र बलात्कारगण मे हुये और ये सेनगण मे हुये हैं। (देखो जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह प्रथम भाग पृ० २४)

(१८) ब्रह्म० नेमिदत्त—नेमिपुराण, श्रीपालचरित्रादि ग्रन्थो के कर्ता। ये अग्रवाल जाति के थे। गोयल इनका गोत्र था। मालव देश के आशानगर के रहने वाले थे। भट्टारक मल्लिभूषण इनके गुरु थे। सं० १५८५ मे इन्होंने श्रीपाल चरित्र की रचना की थी। ये ब्रह्मचारी थे। न भट्टारक थे और न मुनि। (देखो राजस्थान प्रशस्ति संग्रह की प्रस्तावना पृष्ठ ११)

(१९) अलंकदेव—प्रतिष्ठापाठ के कर्ता। ये अकलंक देव वे प्राचीन आचार्य अकलंकदेव नहीं है जो राजवार्तिक आदि के कर्ता थे।

प्रतिष्ठापाठ के कर्ता अकलंकदेव ने नेमिचंद्र प्रतिष्ठापाठ का उल्लेख किया है अतः ये नेमिचंद्र के बाद १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुये हैं। इनका विशेष परिचय श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के ग्रन्थ-परीक्षा में देखें।

(२०) श्रुतसागर सूरि—षटपाहुड़ आदि ग्रन्थों के टीकाकार। इनका समय १६वीं शताब्दी है। सूरत की भट्टारकीय गद्दी के भट्टारक विद्यानन्दि के शिष्य थे। किन्तु विद्यानन्दि के ये पट्टधर शिष्य नहीं थे। पट्टधर शिष्य मल्लिभूषण थे। श्रुतसागर ने अपने बनाये मुकुटसप्तमी कथा, षोड़शकारण कथा, सुगन्धदशमी कथा, तपोलक्षणपंक्ति कथा, विमानपंक्ति कथा, पल्यविधान कथा और महाभिषेक टीका इन ग्रन्थों में अपने को 'देशव्रती' लिखा है।

षट्पाहुड़ की टीका के वक्त ये साधु भी हो गये हों तो भी ये भट्टारक ही हुये होंगे, क्योंकि षट्पाहुड़ की टीका में प्रतिपक्षियों के प्रति जो उद्गार इन्होंने प्रकट किये हैं वे श्रेष्ठ मुनि के योग्य नहीं हैं। इन्होंने दर्शन पाहुड़ की गाथा की टीका में लिखा है कि—"यदि ते मिथ्यादृष्टयः जिनसूत्र-मुल्लंघंते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः। तथापि यदि कदाग्रहं न मुंचंति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः तत्र पापं नास्ति।" इसमें बताया है कि अगर वे मिथ्यादृष्टि जिनसूत्र का उल्लंघन करते हैं तो आस्तिकों को चाहिये कि वे युक्ति से समझा कर उन्हें मना करें। इतने पर भी यदि वे कदाग्रह को न छोड़ें तो समर्थ आस्तिकों को विष्टा से भरे जूते उनके मुँह पर मारने चाहिये, इसमें पाप नहीं है।

शत्रु-मित्र पर समदृष्टि रखनेवाले और "मध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ" की भावना रखने वाले एक उत्तम जैन मुनि इतना कठोर और असभ्य आदेश नहीं दे सकते हैं। श्रुतसागर ने इस कथन के समर्थन के लिए गुणभद्र कृत उत्तर-पुराण का यहाँ हवाला दिया है सो ठीक नहीं हैं क्योंकि गुणभद्र का कथन जैनधर्म पर अत्याचार करने वालों के निवारण के लिये

है। जबकि श्रुतसागर का कथन जबरदस्ती अजैनो को जैन सिद्धान्त मनाने के लिये है। इस तरह गुणभद्र और श्रुतसागर के कथन में बड़ा अंतर है। इन श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति मे कुछ कथन सिद्धान्तविरुद्ध भी किया है जिसका दिग्दर्शन उसकी प्रस्तावना मे किया गया है। जैसे—एकेन्द्रिय जीवों के असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन बताना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वी के पाँच के बजाय सात प्रकृतियों का उपशम बताना आदि। इसके अलावा इस वृत्ति मे हमारी नजर मे भी विरुद्ध कथन आया है कि इसके तीसरे अध्याय के पैंतीसवें सूत्र मे लिखा है कि—"पुष्करार्द्ध द्वीप की नदियाँ मानुषोत्तर पर्वत के बाहर नहीं जाती हैं" जबकि हरिवंश पुराण अध्याय ५ श्लोक ५९६, त्रिलोकसार गाथा ९३७, त्रिलोक प्रज्ञप्ति गाथा २७५२ मे १४ गुफाओं द्वारा १४ नदियो का मानुषोत्तर पर्वत से बाहर जाना बताया है। नदियों के बाहर जाने पर ही वे पुष्करवर समुद्र में प्रवेश कर सकेंगी। बाहर नही जायेंगी तो उनका जल कहाँ समायेगा ? इस वृत्ति के अध्याय ९ सूत्र ४७ मे द्रव्यलिंग की व्याख्या करते हुये श्रुतसागर ने "असमर्थ और दोषयुक्त शरीर वाले साधुओं के लिये अपवाद-रूप से वस्त्र ग्रहण का, कम्बल ओढने का विधान किया है और लिखा है कि शीत काल निकल जाने पर असमर्थ साधु कम्बलादिक छोड़ दें।"

किन्तु यहाँ श्रुतसागर ने यह स्पष्ट नहीं किया कि जो दोषयुक्त शरीर वाले साधु हैं और लज्जा निवारण के लिये ही जिन्होंने वस्त्र ग्रहण किया है वे भी कभी वस्त्र छोडे या नहीं और ऐसे साधु के फिर लज्जा परीषह का जीतना भी कैसे हो सकेगा ? श्रुतसागर ने बोध पाहुड़ की १७ वी गाथा की टीका में मुनियो के शरीर मे तैल मलने का भी उपदेश दिया है इत्यादि शिथिलाचार का पोषक व्याख्यान श्रुतसागर ने किया है। मुनिवृत्ति को विकृत करने के साथ ही श्रावकों की पूजा-पद्धति को भी श्रुतसागर ने विकृत किया है। उसके भी नमूने देखिये—

व्रतकथाकोष में श्रुतसागर ने मुकुटसप्तमीव्रत की विधि बताते हुये

लिखा है कि जिन प्रतिमा के गले में फूलों की माला पहनावे और प्रतिमा के सिर पर फूलों का मुकुट रखे और आकाशपंचमीव्रत की विधि मे बताया है कि भाद्रपद शुक्ला पंचमी को उपवास कर रात्रि में जिनमन्दिर में खुले आकाश में सिंहासन पर चार जिनप्रतिमाओं को बिराजमान कर प्रहर-प्रहर में उनका अभिषेकादिक करे एव चंदनषष्ठीव्रत की विधि में लिखा है कि भाद्रपदकृष्णा षष्ठी के दिन उपवास करके रात्रि में चंद्रोदय होने पर चंद्रप्रभु भगवान् का पंचामृत से अभिषेक करके कूष्मांड आदि का अर्घ देवे तथा दुग्धद्वादशीव्रत की विधि मे लिखा है कि एक तपेला में दुग्ध भर कर उसमे जिनप्रतिमा को रात भर डुबोई रखे, बाद मे निकाल ले।

इन कथनो से जान पडता है कि इन भट्टारकों ने कैसे-कैसे विचित्र कथन किये है।

इस प्रकार पंचामृताभिषेक की सिद्धि के लिये अब तक जितने भी आगमप्रमाण दिये गये है उन सब पर हमने यहाँ ऊहापोह किया है और इतिहासादि की दृष्टि से यह बताया है कि उनमे एक प्रमाण भी मूल संघ के मान्य आचार्य का नही है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि हमारे यहाँ मूलसंघ मे बहुत पहले तो ऐसे मुनियों का समुदाय था जो शास्त्रोक्त मुनिचारित्र का पालन करता था। इस समुदाय में धरसेन, भूतबलि, पुष्पदंत, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि मुनीश्वर हुये। तदुपरान्त कालदोष से मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनि विरले रह गये। और उनके साथ शिथिलाचारी मठवासी नग्न भेषी साधुओ का प्रादुर्भाव हो गया, ये जागीरें रखने लगे। मठ-मन्दिरों में रहने लगे। राजसभाओं मे जाने लगे। ये भी अपने को मूलसंघी ही बताते रहे। होते-होते आगे चलकर तो दिगंबर सम्प्रदाय में साधुओं में वस्त्र धारण भी शुरू होगया। ये वस्त्रधारी होकर

भी मुनि कहलाते थे और अपने आपको मूलसघी बताते थे। इस प्रकार दिगबर मत मे मूलसघ मे तीन प्रकार के मुनि हुये हैं—

(१) यथार्थ श्रेष्ठमुनि (२) शिथिलाचारी नग्नमुनि (३) सवस्त्र मुनि। इनमे से पिछले दो भेदा को हम 'भट्टारक' नाम से कहते हैं अर्थात् नग्न भट्टारक और सवस्त्र भट्टारक। मूलसघ के इन दोनो भट्टारको की गणना पूर्वाचार्यों के मत अनुसार पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियो मे होती है और यापनीय, द्राविड काष्ठा सघ आदि साधुओ की गणना उन्होने जैनाभासो मे की है। भट्टारकीय उल्लेखो से पता लगता है कि दिगम्बर जैनधर्म मे मूलसघ मे भट्टारको की दो परम्परा रही है—एक सेनगण की और दूसरी बलात्कारगण की। सेनगण वाले भट्टारक अपने को पुष्कर-गच्छ के कहते है और वृषभसेनान्वय लिखकर अपनी बुनियाद वृषभसेन (ऋषभदेव के गणधर) से शुरू करते है। इस परम्परा मे त्रिवर्णाचार के कर्ता सोमसेन आदि भट्टारक हुये है। दूसरी परम्परा के बलात्कार-गणवाले भट्टारक अपने को सरस्वती गच्छ का कहते है। और कुन्द-कुन्दान्वय लिखकर अपनी बुनियाद कुन्दकुन्दाचार्य से शुरू करते हैं। इस परम्परा मे बहुत भट्टारक हुये है और उनके अच्छे-अच्छे विद्वान् शिष्य हुये है। इन भट्टारको व शिष्यो ने बहुत सा जैन साहित्य निर्माण किया है। साथ ही इन्होंने बहुत सी जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठाएँ भी की है। बलात्कारगण मे कारजा शाखा, लातूर शाखा, दिल्ली-जैपुर शाखा, नागौर-शाखा, अटेर-शाखा, ईडर-शाखा, भानपुरा-शाखा, सूरत-शाखा और जेरहट-शाखा मे बहुत भट्टारक हुए है। इनमे उत्तरप्रदेश की शाखाओ के मूल आधार भट्टारक पद्मनन्दि हुये है। उनका समय वि० स० १३८५ से १४५० तक का है। उनके तीन प्रमुख शिष्य—(१) शुभचन्द्र (२) सकलकीर्ति और (३) देवेन्द्रकीर्ति हुये। शुभचंद्र से दिल्ली-जयपुर की शाखा चली। सकलकीर्ति से ईडर की शाखा चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की शाखा चली। अन्य शाखायें इन्ही के शिष्य-

प्रशिष्यों से चली हैं। सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, श्रुतसागर और ब्रह्मनेमिदत्त आदि प्रचुर साहित्यकार इसी बलात्कारगण के भट्टारकों में हुये है। सेनगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसंघ, पुष्करगच्छ वृषभसेनान्वय का प्रयोग करते हैं और बलात्कारगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसंघ सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दान्वय का प्रयोग करते है। भूमिदान लेने, मूर्तियों पर प्रतिष्ठा लेख लिखने और ग्रन्थ प्रशस्तियो में ऐसे शब्द प्रयोगों का इन्होंने उपयोग किया है। हमारा अपना ऐसा खयाल है कि इस प्रकार के शब्दप्रयोग शिथिलाचारी नग्न भट्टारकों या सवस्त्र भट्टारकों ने ही किये हैं। मूलसंघ के मान्य प्राचीन आचार्यो ने नही किये हैं। इन भट्टारकों ने अपने को जो मूलसंघ के बताये हैं वह इस अपेक्षा से बताये हैं कि उनके समय मे काष्ठासंघादि अन्य संघों के भट्टारकों का भी अस्तित्व था उनसे पृथक् करने के लिये अपने को इन्होंने मूलसंघी लिखा है। मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनियों की जैसी चर्या लिखी है उस दृष्टि से इन्होने अपने को मूलसंघी नही लिखा है क्योकि इन्होंने स्वरचित ग्रन्थों मे मुनियों की चर्या प्रायः वैसी लिखी है जो प्राचीन मूलसंघ के आचार्यों ने प्रतिपादन की है। हाँ, श्रुतसागरादि किन्ही-किन्हीं ने शिथिलाचार का भी कहीं-कहीं पोषण कर दिया है और ये भट्टारक यह जानते हुए भी कि अपने से शास्त्रोक्त मुनिचर्या का पालन नहीं होता है तब भी ये अपने को मुनि, यति, गणी, सूरि आदि नामो से उल्लेखित करते रहे हैं। इसका कारण यह था कि मुनि या श्रावक ये दो ही तो श्रेणी हैं तो ये अपने को मुनि नहीं लिखते तो क्या श्रावक लिखते ? श्रावक लिखने पर इनका दर्जा ऊँचा कैसे होता ? और पालकी में बैठकर अपने ऊपर चंवर कैसे ढुलवाते ? राजाओं द्वारा मान्यता कैसे प्राप्त करते ? और श्रावकों पर शासन भी कैसे करते ? इसलिये इन्होंने अपने आपको मुनि कहलाना ही उचित समझा। इसके लिये ये शुरू में दीक्षा लेते वक्त नग्नलिंग धारण करके मुनि बनने की रस्म भी पूरी कर लेते थे। बाद

मे काल दोष का बहाना लेकर तत्कालीन पंचों के आग्रह से वस्त्र ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार की प्रवृत्ति चाहे इन्होंने किसी भी परिस्थितिवश की हो तथापि हम उसे 'उत्सूत्र प्रवृत्ति' ही कहेंगे और उनके ऐसे मार्ग को हम भट्टारक-पंथ के नाम से पुकारेंगे। जिस प्रकार श्वेतांबर मत मे वस्त्रधारी मुनि माने जाते हैं उसी तरह दिगंबर मत मे वस्त्रधारी भट्टारक मुनि माने जाते है और जिस प्रकार श्वेताबर मत मे जिन प्रतिमा की पूजा पद्धति मे पंचामृत से अभिषेक करना, शासन देवों की उपासना करना आदि विधान है उसी तरह दिगम्बर मत के भट्टारक पंथ में भी ऐसे विधान हैं। इसलिये यापनीय, द्राविड आदि की तरह भट्टारक पंथ भी अप्रमाण है जिसे यथार्थ मे मूलसंघ कहना चाहिये उसके शास्त्रो मे पंचामृताभिषेक का विधान कतई नही है। तिलोयपण्णत्ति आदि मे भी पंचामृताभिषेक नही है। माथुर संघी अमितगति के श्रावकाचारादि ग्रंथों मे भी पंचामृताभिषेक का नितांत अभाव है।

जैनधर्म मे सबसे प्रथम पंचामृताभिषेक का विधान श्वेताबर मत मे था दिगम्बर मत मे नही था। आगे चलकर इसका प्रवेश दिगंबर मत मे अनुमानतः ऐसे हुआ कि विमलसूरि ने प्राकृत भाषा मे एक पउमचरिय नामक कथा ग्रन्थ बनाया है यह ग्रन्थ पूर्णतः श्वेतांबर आम्नाय का न होकर भी बहुत सी बातें इसमे दिगम्बर मूलसंघ सम्मत नही हैं। और तो क्या इसमे एक जगह मुनि का विशेषण श्वेतांबर भी लिखा मिलता है। प्रायः इसी ग्रन्थ की छाया को लेकर दिगम्बरमत के रविषेण आचार्य ने संस्कृत मे पद्मचरित ग्रन्थ का निर्माण किया है। दोनो ग्रन्थों का आपस में मिलान करने से पता लगता है कि रविषेण ने विमलसूरि के पउमचरिय को अधिकांश मे नकल की है। इस नकल से जाना जाता है कि कितनी ही बातें रविषेण ने विमलसूरि की मानी है और कितनी ही नहीं भी मानी है। जितनी रविषेण ने मानी है उनमे से भी कितनी ही मूलसंघ के अनुकूल नहीं हैं इससे हम कह सकते है कि एक ओर रविषेण की

आम्नाय पूर्णतः विमलसूरि के मत से नहीं मिलती है तो दूसरी ओर रवि-षेण की आम्नाय पूर्णतः मूलसंघ से भी नहीं मिलती है। ऐसी हालत में रविषेण ने पउमचरिय की नकल करते हुये अपने संस्कृत ग्रन्थ पद्मचरित में पंचामृताभिषेक का कथन किया है उसे मूलसंघ के अनुकूल नहीं कह सकते हैं। दिगम्बरमत में पंचामृताभिषेक की सिद्धि में यही सबसे प्रथम आगमप्रमाण पेश किया जाता है उसीका यह हाल है। इसी के अनुसार हरिवंश पुराण में जिनसेन ने लिख दिया है। उसी को मूलसंघ के कहलाने वाले भट्टारकों ने भी अपना लिया है। इसीके फलस्वरूप आज दिगम्बर सम्प्रदाय में दो दल दिखाई देते हैं—तेरापंथ और बीसपंथ। इसमें तेरा-पंथ प्राचीन मूलसंघ का पक्षपाती है और बीसपंथ अर्वाचीन मूलसंघ का।

इस लेख में की हुई छान-बीन के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि—वस्तुतः जो मूलसंघ के ग्रन्थ हैं उनमें किसी एक में भी पंचामृताभिषेक का विधान नही है। ऊपर जिन ग्रन्थों के विषय में चर्चा की गई है उनके अलावा भी कितने ही ग्रन्थ और भी मिल सकते हैं जिनमे पंचामृताभिषेक का विधान हो। किन्तु जाँच पड़ताल करने पर वे भी या तो भट्टारक प्रणीत निकलेंगे या किन्ही गृहस्थ विद्वानो द्वारा रचे हुये। जैसे कि पं० आशाधर, पं० मेधावी आदि ने रचे हैं। अपभ्रंश महापुराण के कर्ता पुष्पदंत ने भी पंचामृताभिषेक लिखा है। पर वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे। इसी तरह 'पउमचरिउ' आदि अपभ्रंश ग्रन्थों के कर्त्ता स्वयंभू ने भी पंचामृताभिषेक लिखा है वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे, वे यापनीय संघीय थे।

इसलिये विवेकी श्रावकों का कर्तव्य है कि वे भगवान् का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करें, करावें। यही निर्दोष मूलसंघ सम्मत सनातन की रीति है और इसी में कल्याण है। इतना सा ज्ञान तो मंद बुद्धियों को भी है कि—दही दूध घृत ये खाने की चीजें हैं—स्नान करने की चीजें नहीं हैं। स्नान तो जल से ही होता है और यही आबालगोपाल प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरो के चरित्रो में भी उनका जन्माभिषेक राज्याभिषेक और दीक्षाभिषेक जल से ही किया गया है तो फिर उन तीर्थंकरो की मूर्तियों का अभिषेक भी जल से ही करना चाहिये। अभिषेक का प्रयोजन भक्ति के साथ-साथ मूर्ति की सफाई होना भी है इस सफाई के लिए जल से स्नान कराना ही उत्तम कहा जा सकता है घृत दुग्धादि से स्नान कराने से मूर्तियो की सफाई तो नही होगी उल्टी वे चपचपी व समल होकर बिगड जायेंगी और उनपर चीटियाँ आदि जन्तुओ का भी संचार होने लगेगा एवं मक्खियाँ भी भिनभिनाने लगेंगी तथा अभिषेक हुए बाद पंचामृत को जहाँ भी डाला जायगा वहाँ ही जीवो का प्रचुर सचार और जीवो की उत्पत्ति होगी उससे जीवहिंसा का प्रसंग आवेगा। इस तरह पंचामृताभिषक अप्रयोजनभूत और सावद्यमय सिद्ध होता है। इसलिए आगम और युक्ति दोनो ही से पंचामृताभिषेक करना योग्य नही है।

●

परिशिष्ट

१—["प्राकृत भाषा के प्रति हमारी उपेक्षा" पृ०४]

'प्रपद्यामि' का प्राकृत नियमानुसार 'पवज्जामि' (दो जकार) रूप बनता है और 'प्रव्रजामि' का 'पव्वजामि' (दो वकार) बनता है किन्तु प्राकृत में विकल्प से 'पव्वज्जामि, (दो वकार तथा दो जकार) रूप भी बन जाता है।

संसकिरत कूप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।
जब चाहो तब ही बूडो शांत होय शरीर॥

—श्री कबीरदास जी

जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषें जिन हरिचरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होहहिं आगे, प्रणवउँ सबहि कपट सब त्यागे॥

—श्री तुलसीदासजी (रामचरितमानस)

२—["मंगलोत्तमशरण पाठ" पृ० १११]

जिनसहस्रनाम (आशाधर कृत) के अंत में—

(१६) इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुल्वणम्।
इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥१४१॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार (मेधावीकृत)

(१७) लोकोत्तमा शरणमंगलमंगभाजामर्हद्धिमुक्तमुनयो जिनधर्मकश्च।
ये तान्नमामि च दधामि हृदम्बुजेऽहं संसारवारिधिसमुत्तरणैकसेतून्॥

३—["दर्शन का अर्थ मिलना" पृ० २२०]

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के श्लोक १३२ में जो 'दृष्ट्वा' पद है, उसका अर्थ 'देखकर' करना गलत है। उसका अर्थ 'मिलकर' करना चाहिए।

गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, पर्व ६२ श्लोक १२८ "नापूर्वो नः स पश्यताम्" का अर्थ ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० १४६ में इस प्रकार किया है—

"हमारे लिये यह अपूर्व आदमी नहीं, जिससे कि देखा जावे"।

समीक्षा—यहाँ 'पश्यतां' का अर्थ जो 'देखा जावे' किया है, वह ठीक नहीं है, उसकी जगह 'मिला जावे' करना समुचित होगा।

इसी तरह आगे श्लोक १३०—"नाहमेष्यामि तं द्रष्टुमिति प्रत्यब्रवीदसौ" का अर्थ इस प्रकार किया है—

"त्रिपृष्ठ ने कहा कि—मैं उसे देखने के लिए नही जाऊँगा।"

समीक्षा—यहाँ भी 'द्रष्टुम्' का अर्थ 'देखने के लिए' किया गया है किन्तु वह ठीक नहीं है। 'मिलने के लिए' अर्थ होना चाहिए।

इस तरह उपर्युक्त प्रकरणों में दर्शनार्थक क्रियाओं का 'मिलना' अर्थ करना ही सुसंगत है।

दर्शनार्थक धातुओंका 'देखना' अर्थ शाब्दिक है और 'मिलना' अर्थ भावात्मक है, जहाँ जैसा संगत हो वैसा ही अर्थ करना चाहिए तभी वह फबता है और ठीक अभिव्यक्ति होती है।

४—["चमर" पृ० २२१]

दर्शनसार की गाथा ३४ मे–चमरी गाय की पिच्छी रखने से काष्ठा संघ को उन्मार्गगामी, मिथ्यात्वी बताया है।

'स्याह' का अर्थ 'काला रंग' होता है और उसीसे 'स्याही' शब्द बना है किन्तु दूसरे रंगों से बनी भी 'स्याही' ही कहलाती है। इसी तरह 'तिल' से 'तैल' बना है किन्तु सरसों, मूंगफली आदि से निकला भी 'तैल' ही कहलाता है। अक्षत (चावल) से 'आखा' बना है किन्तु जौ गेहूँ आदि धान्यों को भी 'आखा' कहा जाता है।

उसी तरह गोटे आदि से बना तदाकृतिमान् भी 'चमर' ही कहलाता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी को तो 'निक्षेप' कहते हैं।

५—["पंचोपचारी पूजा" पृ० २६५]

संस्कृत पंचपरमेष्ठी पूजा दूधगाँव से प्रकाशित हुई है इसमें साधु-पूजा तक का अंश ही छपा है—अभिषेक और प्रशस्ति भाग छपने से रह गया है जो ब्यावर के ए० पन्नालाल सरस्वती भवन की प्रतियों में उपलब्ध है। प्रशस्ति से ये यशोनन्दि भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य ज्ञात होते हैं। यह रचना १६वीं शती की है और इसमें पंचोपचार है।

६—['तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है' पृ० ३५५]

यशोनन्द्याचार्यकृत—'पंचपरमेष्ठी पूजा' (संस्कृत)

क्रोशांस्छताष्टकमितानसुमद्रुजाधि-

दौर्भिक्ष्यदुर्गतिहराय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२१॥ (पृष्ठ ५)

शताष्टकक्रोशमितप्रदेशे, सौभिक्षमक्षीणमनीतिनीति।

यतः प्रजायेत शमङ्गिनां तत्, सुभिक्षताकारि जिनं यजामि ॥१२॥

—ओंह्रीं गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षक्षेमकारिणे श्रीजिनाय अर्घम् ॥

(पृ० २१)

इसमें आठसौ कोश तक सुभिक्ष होने की बात कही है। जबकि 'नन्दीश्वर भक्ति' के 'गव्यूतिशतचतुष्टय' पदमे 'गव्यूति' का अर्थ प्रभाचन्द्र ने एक कोश करके चारसौ कोश तक सुभिक्ष होना सूचित किया है। यशोनन्दिने गव्यूति का अर्थ दो कोश करके आठसौ कोश सुभिक्ष बताया है इससे स्पष्ट फलित होता है कि यह एकसौ योजन (चारसौ कोश) और दोसौ योजन (आठसौ कोश) की मान्यता का भेद गव्यूति शब्द के एक कोश और दो कोश अर्थ से ही उत्पन्न हुआ है।

७—["विघा के आहार अर्थ पर" पृ० ३८८]

कलौ कष्टं तपस्विनः (आत्मानुशासन) के पं० टोडरमलजी कृतभाषा अनुवाद पर इन्द्रलालजी शास्त्री ने बनारस के उक्त शास्त्रीद्वय से निर्णय माँगा था उन्होंने पं० टोडरमलजी सा० के अर्थ को बिल्कुल ठीक बताया था।

८—["भक्तामर स्तोत्र" पृ० ३४१]

विश्वविभो सुमनस किल वर्षयन्ति,
न्यग्-बन्धना सुमनस किमुताऽऽवहन्ति ।
सत्सङ्गतासविह सता जगती समस्ता,
मामोदना विहसतामुदयेन धाम्ना ॥ १ ॥
द्वेधाऽपि दुस्तरतमःश्रम-विप्रणाशा–
दुद्यत्सहस्रकर-मण्डल-सम्भ्रमेण ।
वक्षे प्रभोर्वपुषि काञ्चन काञ्चनाना
प्रोद्धोद्धत भवति कस्य न मानसानाम् ॥ २ ॥
दिव्यध्वनिर्ध्वनितदिग्वलयस्तवाऽऽहन्
व्याख्यातरुत्सुकय तेल्लसिवा ध्वनोनात ।
तत्त्वार्थदेशनविधौ ननु सर्वजन्तु-
र्भाषा विशेषमधुर सुरसार्थ ये ह्य ॥ ३ ॥
विश्वेक यत्र भटमोह महीमहेन्द्र
सद्यो जिगाय भगवान् निगदन्निवेयम ।
सन्तर्पयन् युगपदे भव यानि पुसा
मन्द्रध्वनिनदति दुन्दुभिरुच्चकैस्ते ॥ ४ ॥

नोट—ये भिन्न चार अतिरिक्त श्लोक और मिलते है। भक्तामर स्तोत्र के ३२–३३–३४–३५ श्लोक में जिन ४ प्रातिहार्यो का वर्णन है वही इनमे हैं, ये अर्थको दृष्टि से काफी सदोष हैं अत कविकृत ज्ञात नही होते। इस प्रकार के २–३ तरह के श्लोक मिलने से किसी ने निर्णयाभाव मे सबको ही छोड दिया हो (जिससे ४ प्रातिहार्य छूट गये) और एक बार यह परपरा चल पडी तो फिर श्वे० समाज में रूढ ही हो गई जो आज श्वे० समाज के ३२ से ३५ तक के चार श्लोक न मानने का कारण प्रतीत होती है।

बुद्धिमाद्यवशात्किंचिद् यदशुद्धमलेखि तत् ।
द्वेषभाव समुत्सृज्य शोधनीय मनीषिभि ॥

●

ग्रन्थ-संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	चत्वारि मंगलानि	चत्वारो मंगलं
२१	७	तटाशु	तटाशुं
२१	१८	१३ वाँ	३१ वाँ
३३	१५	पद्मप्रभ	पद्माभ
४०	१०	हत्थ	इत्थ
४२	२५	निजकल्पो	जिनकल्पी
४४	१२	वल्कल	वल्कलज
४७	१३	जाहा	जाया
४८	२५	पावह	पावइ
५१	४	शुभ	शुद्ध
५८	२५	सहस्र	सवस्त्र
६०	२०	हुआ हो तो	हुआ होता तो
६३	५	उत्तम	सो उत्तम
६६	८	निराकार	नराकार
६९	२६	यह	मे यह
७०	१२	पात्र में	के पात्र मे
७२	१३	पारण	पारणा
७९	१	तो भेद	दो भेद
७९	१८	म समाधि	समाधि
८१	१६	माना	मानना
८२	१	की	कि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१८	पूठा	पूजा
१४४	१८	जिनस्था	जिनस्तथा
१६६	१६	भाग २	भाग २ पृष्ठ ३६३
१७५	२१	६ नाम दिये हैं	६ नाम नहीं दिये हैं
१९७	२६	अपने पूर्व लेख मे	पूर्व में
२०४	८	कह जोग	यह जोग
२११	२३	सवर्थान्तान्	सर्वथान्तान्
२१३	६	उन्ही	उन्होने
२१४	२५	अहिंसा से	अहिंसा में
२१६	७	हिसाम्	हिंसाम्
२१८	३	न पश्येत्	न वै पश्येत्
२२१	५	चमरुह	चमरीरुह
२२१	११	योग्य नही है	योग्य है, केशनि का चमर बनाना योग्य नही है
२२३	१	होने हर भी	होने पर भी
२२४	१६	करता मात्र	करना मात्र
२२४	२१	बनाने का	बताने का
२२६	३	साद	सितोदर
२३३	६	वेद	भेद
२४३	११	वासियहिं	वासिया इहिं
२५२	१७	माना चाहिए	माना जाना चाहिए
२५६	७	सोदम्मो	सोहम्मो
२६०	७	विवह	विविह
२६२	६	गधीदीन्	गधादीन्
२६२	२१	एब	एष

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६३	१४	हुता	हूता
२६४	६	गृहीर्व्व	गृहणीर्व्व
२७३	१७	अमुत्तो	अमुत्ति
२८५	२६	मनुष्यो मे वृद्धिह्रास	मनुष्यों का वृद्धिह्रास भरतैरावत क्षेत्र का वृद्धिह्रास
२९२ २९५	६ १७	लोक व्युच्छित्ति	लोक विनिश्चय
२९२	१०	लोय विछिण्णय	लोय विणिच्छय
३०६	२१	भव, बदल	× ×
३११	५	रतना	रहना
३१३	८	कत्पातीत	कल्पातीत
३१४	१७	कुल एक	कुछ एक
३१९	८	होती है।	होती है।[1]
३२०	९	यिया	दिया
३२८	१	है	की है
३३८	३	क्रतगतान्	क्रमगतान्
३४०	२४	वही	वहीं-४८ नंबर पर हो
३४१	५	पाठक	पाठ
३४४	३	१	२
३४४	२१	२	१
३४५	११	नाशिया	नशिया
३४६	शीर्षक	को १११ वाँ	की १११ वीं
३५६	२	भोजनं	योजनं
३५७	३	एवं	एकं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५७	४	योजकार्ध	योजनार्ध
३५८	७	योजना	योजनाना
३५६	१६	सुहासरा	सुहासए
३६१	१०	सन्त	सत्त
३६१	१२	सयिल	सीयल
३६३	४	चिहि	विहि
३७१	२२	किन्तु (अव्यय)	किन्तु (अव्यय)
३७६ ३६०	७ २६	त्यागो वर्ज्य	त्यागो वर्य्य
३७६	८	चतुर्विधा	चतुर्विध
३७८	१	हरुपा	रुपा
३७८	२६	टोडलमल	टोडरमल
३७६	१६	प्रकारको बिशुद्ध	प्रकार की विशुद्धि किया
३८५	६	द्युपेता	द्यपेता
३८५	२६	'लक्ष्मी' कहिए	'लक्ष्मी' कहिये 'श्री', 'श्रुतागमन बीज' कहिए
३६०	५	चतुर	चतुर्
३६५	१०	ठाडे ठाडे	बडे बडे
३६७	७	भूषयन्ती	भूषयन्ती
३६७	१५	ज्ञात है	ज्ञात होता है
४०५	१४	तत्काल	तत्कालीन
४११	४	तत्थ	वत्थ
४११	५	रागोवि	एगोवि
४१२	२०	वैसा ही	वैसे ही
४१८	६	प्रतिष्ठा पाठ	अभिषेक पाठ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	१३	बिकल	बिमल
१६	३	२६ थ	३६ व
१६	१७	उनकी	उसकी
१८	१६	अपन से	छपन से
२०	१८	निवण	निव्रण
२८	४	खो	देखो
३२	२१	चाहत	चाहत हैं
४०	२१	तो तुरुक्त वदणीया पाठ जान पडता ह।	तो तुरुका वदणिया पाठ ह।
४६	१४	गणस्याने न	गणस्थान म
५२	१३	माध हुए	साध हुए
५८	१४	गण	गणी
६६	९	यहाँ भी	य-ाँ यह भी
८५	१	दिया	दिशा
९१	२१	एसे ह	एस हे
१६४	१४	बात की	बात को
१७४ से १७६		विमल सूरि के पउम चरिउ	विमल सूरि के पउम चरिय

नोट प्राकृत म पउम चरिय होता है और अपभ्रंश म पउम चरिउ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	५	पव १७ से	पव १७ म
१८१	१६	भवद्यन न	भवद्यन
१८४	२३	एक नाम हलिप्रिय	एक नाम हलिप्रिया
१८८	२५	और बाह्य	और एक बाह्य
१८६	७	फिर	फिर भी
२११	२३	सवर्थाभान	सवथास्नान
२१६	२	विघान	विघात

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३४	४	मिलते है।	नहीं मिलते है।
२३८	२०	वर	पर
२४४	१५	छाया	छाप
२५३	१७	मानना चाहिए था	माना जाना चाहिए था।
२५५	९	पुप्पक	पुष्पक
२५७	१५	धृति	धृति कीर्ति
२६५	३५	अब	जब
२७७	११	क्षपण	क्षेपण
२७९	१	उनमें	उनसे
३०६	२१	बदल	बदल नही सकता है।
३०६	२४	नही सकता है	+
३६१	२५	भिसुबाहु	भिसुपाहु
३६२	४	मस्थय	मस्थय
३९५	१३	पव ४४	पर्व ४०
४०६	१	थे।	थे।
प्रकाशकीय ७	२२	अपर्व	द्वग प
निबन्ध सूची ११	२०	वर्ष २	वर्ष १५
आत्म निवेदन १३	१९	सोना है	सोना नहीं है।
प्राक्कथन ३४	६	उसके	उनके

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	१३	विकलं	विमलं
१६	३	२६ वें	३६ वें
१६	१७	उनकी	उसको
१८	१६	अपने से	छपने से
२०	१८	निर्वण	निर्व्रण
२८	४	खो	देखो
३२	२१	चाहते	चाहते है
४०	२१	"तो तुरुक्त वंदणीया" पाठ जान पडता है।	"तो तुरुका वदणिया" पाठ है।
४६	१४	गुणस्यान ने	गुणस्यान मे
५२	२३	साधु हुए	साधे हुए
५८	१४	गण	गणी
६६	९	यहाँ भी	यहाँ यह भी
८५	१	दिया	दिशा
९१	२१	ऐसे है	ऐसे हे
१६४	१४	बात की	बात को
१७४ से १७६		विमल सूरि के पउम चरिउ	विमल सूरि के पउम चरिय

नोट . प्राकृत मे "पउम चरिय" होता है और अपभ्रंश मे 'पउम चरिउ'

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७९	५	पर्व १७ से	पर्व १७ मे
१८१	१६	भवेद्येन न	भवेद्येन
१८४	२३	एक नामं हलिप्रिय	एक नाम हलिप्रिया
१८८	२६	और बाह्य	और एक बाह्य
१८९	७	फिर	फिर भी
२११	२३	सवर्थाभान्	सर्वथाभान्
२१६	२	विघान	विघात

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३४	६	मिलते हैं।	नहीं मिलते है।
२३८	२०	वर	पर
२४४	१५	छाया	छाप
२५२	१७	*मानना चाहिए था*	*माना जाना चाहिए था।*
२५५	९	पुप्पक	पुष्पक
२५७	१५	धृति	धृति कीर्ति
२६५	२५	अब	जब
२७७	११	क्षपण	क्षेपण
२७९	१	उनमे	उनसे
३०६	२१	बदल	बदल नहीं सकता है।
३०६	२२	नही सकता है	+
३६१	२२	णिसुखाहु	णिसुणहु
३६२	४	मन्थय	मत्थय
३६५	१३	पर्व ४४	पर्व ४०
४०६	१	ये।	थे।
प्रकाशकीय ७	२२	अपने	*द्रुग* ने
निबन्ध सूची ११	२०	बर्ष २	वर्ष १५
आत्म निवेदन १३	१९	*सोना है*	*सोना नही है।*
प्राक्कथन ३४	६	उसके	उनके

अन्त्यमंगलम्

जयंति त्रिजगद्व्याप्तमिथ्यात्वध्वान्तनाशिनः ।
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशाः केवलज्ञानभास्करा ॥१॥
प्रमाणनयनिर्णीत - वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
हितावहं समीचीनं युक्तिमज्जिनशासने ॥२॥
कालदोषादभूत्तत्राऽपसिद्धांतविवेचना ।
युक्त्यागमविरुद्धा च विपरीतक्रियापरा ॥३॥
पक्षव्यामोह-संग्रस्ता. केचित् पण्डितमानिनः ।
यथामत्यार्हती वाणीमाहु· श्रद्दधतेऽपि च ॥४॥
अनाकलय्य सत्यार्थ सन्मार्गस्य विडंबनाम् ।
कृत्वैके जैनजनता-मर्ति विभ्रमयन्ति च ॥५॥
सत्यासत्य-विवेकायोद्धृत्य सूक्तिसुधारसम् ।
मिलापचन्द्रः शास्त्राब्धेर्व्यतरच्चेत्किमद्भुतम् ॥६॥
सत्पथ-प्रचलनाय किंचना--ऽऽत्रेक्षि विज्ञजनसम्मत मतम् ।
तज्जिनेन्द्रनयनिर्णिनीषवो विज्ञगोष्ठिषु विमृश्य तन्वताम् ॥७॥
शास्त्रार्थ-नवनीतेनाऽनेन नूताऽस्तु भारती ।
सतां दृग्ज्ञानचारित्रदायिनी वरदायिनी ॥८॥
मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं जिनभारती ।
मंगलं साधवो नित्यं, मंगलं धार्मिका जना. ॥९॥

● ● ●